

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186268

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—552—7-7-66—10,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 342.54 Accession No. G H. 32
G12 R

Author साइगील, न. वि.

Title राज्योपनिषद् . 1962

This book should be returned on or before the date
last marked below.

राज्योपनिषद्

लेखक

न. वि. गाडगीळ



“भारत सरकार की ओर से भेंट”

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा

प्रकाशक :

मोहनलाल भट्ट

मन्त्री :

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति,

हिन्दीनगर, वर्धा

● ● ●

✓
Checked 1969

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रथम संस्करण-२०००

मजी, १९६२

मूल्य रु. २/-

● ● ●

मुद्रक :

मोहनलाल भट्ट

राष्ट्रभाषा प्रेस,

हिन्दीनगर, वर्धा

● ● ●

प्रकाशककी ओरसे

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धाकी अंक साहित्य-निर्माण योजना है जिसके अन्तर्गत विभिन्न विषयोंपर हिन्दीमें पुस्तकें तैयार करवाई जाती हैं; साथ ही अन्य भारतीय भाषाओंकी कुछ चुनिंदा कृतियोंका राष्ट्रभाषामें अनुवाद भी प्रस्तुत किया जाता है। इस योजनाका अद्देश्य, हम सबकी जो राष्ट्रभाषा हिन्दी है उसके भण्डारको समृद्ध करना है।

भारतीय भाषाओंमें समृद्धि, साहित्य एवं चिन्तनकी दृष्टिसे मराठीका स्थान बहुत अँचा है। वह कभी अखिल भारतीय कीर्तिके नेताओं, साहित्यकारों, विद्याविदों एवं तत्त्वचिन्तकोंकी जननी है। पंजाबके राज्यपाल श्री न. वि. अण्णय्य काकासाहेब गाडगीळ महाराष्ट्रकी अंक श्रेष्ठतम विभूति हैं। राजनीति, अर्थ-शास्त्र, विधि-शास्त्र जैसे क्लिष्ट एवं दुस्साध्य विषय भी आपकी लेखनीसे सहज, सुन्दर एवं रसमय बन जाते हैं। उनका 'राज्योपनिषद' मराठीमें राज्यशास्त्रपर बड़ा लोकप्रिय ग्रंथ है। श्री रतनलालजी बाजोरिया, बी. ए. ने उसीका यह हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया है। मूल पुस्तकमें 'त्या ११६ सभा' [वे ११६ सभाओं] नामक अंक परिच्छेद था; काकासाहेबकी अनुमतिसे उसे छोड़ दिया गया है।

आदरणीय काकासाहेब गाडगीळने समितिको पुस्तकके अनुवादका काम सौंपा तथा स्वयं पांडुलिपिको देख जानेका कष्ट अुठाया, इसके लिये समिति उनकी अत्यन्त आभारी है।

मन्त्री,

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा

अनुक्रमणिका



अध्याय	पृष्ठ
प्रस्तावना	अ
१. अथास्तो राज्यजिज्ञासा	१
२. आधुनिक राज्य और उसके अद्देश्य	१२
३. भारतीय संविधान—पृष्ठभूमि	२४
४. भारतीय संविधान—रचना एवं स्वरूप	४१
५. जनतंत्र और दल	६०
६. नागरिक स्वातंत्र्य	७५
७. कानून और स्वतंत्रताओं	८९
८. संयुक्त अुत्तरदायित्व और उसकी कार्य-पद्धति	११८
९. नियोजन-व्यवस्था	१४२
१०. वदेशिक नीति	१६९
११. जनतंत्रके पथ-परहेज	२०१



प्रस्तावना

○

१९५७ के सार्वजनिक चुनावमें लोकसभाके लिअे अुमीदवारकी हैसियतसे खड़े होनेकी बात स्वीकार कर लेनेके बादसे लेकर प्रत्यक्ष मतदानके पहिले दिनतक ११६ सभाओंमें मैंने व्याख्यान दिअे। अुनमेंसे कुछ सैद्धान्तिक थे, राजनीतिमें जो नित्य और शुद्ध रहता है अुसके सम्बन्धमें; और कुछ प्रचारात्मक, अिसीलिअे कभी-कभी कपोभ पैदा करनेवाले थे। चुनावमें महाराष्ट्रमें काँग्रेसके पत्ले जो कुछ पड़ा अुस हिसाबसे परिस्थितिका समालोचन कर, आगे क्या करना चाहिअे—अिस विषयपर अेक निवेदन प्रस्तुत करनेका आदेश मुझे काँग्रेस-श्रेष्ठीने दिया था। १९५७ के अप्रैलमें मैंने वह निवेदन दे दिया। अुसी समय 'नवाकाळ' के सम्पादक श्री आप्पासाहेब खाडिलकरजीने मुझे सुझाव दिया कि मैं चुनावोंके सम्बन्धमें लिखूं। अुनकी बात मानकर मैंने छह सात लेख लिखे, जो 'नवाकाळ' में मअी-जून १९५७ के बीच प्रकाशित हुअे। कुछ दोस्तोंकी सूचना थी कि अुन्हें अेकत्र छापा जाय, तदनुसार "वे ११६ सभाओं" नामक पुस्तिका प्रकाशित की। अुस पुस्तिकापर अभिप्राय देते समय अनेक समाचार-पत्रोंने सुझाव दिया कि अिन सभाओंमें दिअे गअे भाषणोंको भी छापा जाअे।

(आ)

चुनावकी धूमधाममें भी 'विधिशास्त्र-विचार' का जो भाग लिखना बाकी था, उसे मैं जैसे जैसे समय मिला लिखता गया था। १९४० में जब जेलमें था, तब मैंने राजनीतिपर सब मिलाकर चार ग्रन्थ लिखनेका निश्चय किया था। तदनुसार 'राज्य-शास्त्र विचार' १९४५ में प्रकाशित हुआ, 'राज्य-व्यवहार विचार' १९५१ में छपा और 'राज्य-कारभार विचार' १९५५ में। 'विधिशास्त्र विचार' के कामको निपटा डालनेकी दृष्टिसे चुनावके बाद उसे दो महीनेमें समाप्त कर १९५८ में प्रसिद्ध करवा दिया। और इस तरह मैंने अपने आपको जो वचन दिया था, उसे १८ सालोंमें पूरा किया। 'विधि-शास्त्र विचार' का लिखना खतम होनेपर 'वक्तृत्व-शास्त्र' नामक ग्रन्थको खतम किया और वह भी १९५८ में छप गया। इस ग्रन्थको लिखते समय मैं स्टेट बैंकका अपाध्यक्ष था और इसलिअे मुझे सतत घूमना पड़ता था। लेकिन बिच्छूके समान मेरा भी घर मेरी पीठपर था, इसलिअे भूमि और आकाशके प्रवासमें मैंने 'पुस्तकाचे भारे' नामक किताब लिख डाली। तब मनने कहा, कुछ समय विश्रान्ति ले लो। लेकिन मन अेक सोचता है और भगवानकी दूसरी योजना होती है। वैसा ही इस बार हुआ।

१९५८ के अप्रैलमें यह जिच्छा व्यक्त की गयी कि मैं पंजाबका राज्यपाल-पद स्वीकार करूं। मैंने राजनैतिक जीवनमें जिस दर्शनको स्वीकार किया था, उसमें यह पद बैठता नहीं था। इसलिअे पहिले दो बार मैंने उसे नामजूर कर दिया था। और अब भी ऐसी कोअी वैयक्तिक अथवा राजनैतिक परिस्थिति नहीं पैदा हुअी थी कि मेरे लिअे उसका स्वीकार करना जरूरी हो जाता। लेकिन अन्तमें सब ज्ञात और अज्ञात बातोंकी जानकारी मुझे दी गयी और यह कहकर कि यदि मैं इस पदको इस समय स्वीकार नहीं करूंगा तो अपने कर्तव्यसे च्युत हो जाऊंगा, मेरे सामने अेक नैतिक और मानसिक अुलझन खड़ी कर दी गयी। अन्ततः दलके तथा बाहरके अुन व्यक्तियोंसे जिनकी कि सलाह मैं सामान्यतया अस्वीकार नहीं करता, विचार-विनिमयकर मैंने इस पदको स्वीकार कर लिया, और १५ सितम्बर १९५८ से कामपर हाजिर हो गया। तब मित्रोंने और समाचार-पत्रोंने कहा कि अब मुझे लिखनेके लिअे बहुत समय मिलेगा और आशा प्रकट की कि मैं उसका अवश्य सदुपयोग करूंगा। कुछने समय-समयपर प्रेमभरी सूचनाअे भी भेजीं। पर, पिछले छह महीनेका

(अि)

मेरा अनुभव संक्षेपमे यह है कि क्लर्ककी रोज छह घण्टे. तो मुझे लगभग १२ घण्टे काम करना पड़ता है। फिर भी, हर रोज कुछ समय तक गम्भीर विषयपर वाचन तथा कुछ लिखनेका मेरा व्रत कम-अधिक प्रमाणमें पिछले ३६ सालसे निभता आ रहा है। उसी व्रतका अंक फल यह 'राज्योपनिषद्' ग्रन्थ है।

चुनावके समय सामान्य और सिद्धांत विषयक व्याख्यानोंके टिप्पण मैंने बना लिये थे और कुछ भाषण संक्षेपमें, सारांश रूपसे, उन दिनों समाचार-पत्रोंमें प्रकाशित हुए थे। अनिमित्त कुछ व्याख्यान मैंने पूनाके काँग्रेस भवनमें दिये थे, कुछ व्याख्यान पूनाके लॉ कालेजमें तथा फर्ग्युसन कालेजके इतिहास एवं राजनीति सभामें ववृ. म. कामर्स कालेजमें दिये थे, और कुछ अहमदनगर, सोलापुर, पूना इत्यादि शहरोंकी सार्वजनिक सभाओंमें। वे सब व्याख्यान जैसे दिये थे, वैसे ही इस ग्रन्थमें समाविष्ट हैं। कभी अंक विषयका कुछ हिस्सा अंक सभामें और दूसरा हिस्सा दूसरी सभामें कहा गया था, लेकिन पुस्तकमें वे दोनों अंक साथ अंक व्याख्यानके रूपमें दिये गये हैं। महत्वपूर्ण प्रश्नोंत्तरोंका भी समावेश किया गया है। इस पंचनद भूमिमें आनेके बाद 'राज्योपनिषद्' नाम सूझा और वही इस ग्रन्थको दे दिया गया है। 'गह्वरे गिरीणाम् सगमे नदीनाम् धियो विप्राः प्रजायन्ते' यह कथन कितना सच है, इसका अनुभव हुआ। विशाल नदियाँ और उनके सगम, पार्श्वभूमिमें खड़ा हुआ हिमालय कि रोज जिसके दर्शन होते हैं ! इस वातावरणमें मुझे ग्रन्थ रचनाकी स्फूर्ति मिली—यह मेरा अहोभाग्य ! अनि व्याख्यानोंमें राजनीति-शास्त्रका सब सारांश आ गया है। 'अफाटा समीरणा। आपेते पण शहाणा। केले जैसे विजणा। निर्मूनिया।' अतनी वायु है कि कोअी असे गठरीमें नहीं बाँध सकता, पर पंखसे असे हथियाकर जीवनको सुखी बनाया जा सकता है। ठीक उसी प्रकार असीम राजनीति-शास्त्रको इस छोटेसे ग्रन्थमें समेटकर मराठी मनको सुखी बनानेका मैंने प्रयत्न किया है। महाराष्ट्रीय कानोंके महा द्वारपर यदि यह ग्रन्थ जाअे और मेरे 'ग्यानबा' (महाराष्ट्रीय किसान) को इसमें यदि थोड़ा भी रस मिले, असे इसके 'सूक्ष्म' का किंचित् भी ज्ञान हो सके, तो मुझे निरतिशय आनन्द होगा। पुरोहितकी अदामे यदि कुछ कम-ज्यादह कह गया होऊँ तो मराठी-पाठक मुझे क्षमा करेंगे। यदि मेरी अनि

(ओ)

सभाओंमें श्रोता ही नहीं रहते, तो यह सब सम्भव ही नहीं होता । और यदि यह हुआ है और इसमें कुछ अच्छाही है, तो उसका कारण है—

“पाहा पां माते तुम्हां सांगडे । माहेर तेणे सुरवाडे ।

ग्रन्थाचे आलियाडे सिद्धि नेते ।

[मुझे आपके समान माँ-बाप मिले, इसीलिये (आपकी अनुकूलतासे) ग्रन्थ निर्माणका यह मेरा आग्रह पूर्ण हुआ ।]

यह ग्रंथ मराठीमें अप्रैल १९६० में प्रकाशित हुआ था । इसका हिन्दी अनुवाद राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धाके तत्वावधानमें प्रसिद्ध हो रहा है । आशा करता हूँ कि हिन्दी-पाठक इसको पसन्द करेंगे ।

२ अक्टोबर १९६१ }
राजभवन, चंडीगढ़ }

न. वि. गाडगीळ



१.

अथाऽतो राज्यजिज्ञासा

भाअियों और बहनो,

चुनावका वातावरण अब गरजने लगा है। कुछ ही दिनोंमें वह गरम भी हो जायेगा। कौन-सा पेशा अपनाना चाहिये अथवा किसे अपना जीवन-साथी चुनना चाहिये आदि प्रश्नोंका जैसा और जितना महत्व व्यक्तिके जीवनमें है, उससे कहीं अधिक महत्व जनतान्त्रिक व्यवस्थामें, जनताकी दृष्टिमें, किस दलको अधिकारारूढ किया जाये, इस प्रश्नका रहता है, अथवा रहना चाहिये। तानाशाहीमें जनताको कोअी नहीं पूछता; या यूं कहिये कि वहाँ जनता नामकी कोअी चीज है इस बातकी पर्वाह ही नहीं की जाती। तानाशाह शासकोंकी रायमें जनता वह जन-समूह है जिससे कर वसूल किया जाना चाहिये और जो अुनके सामने गुलामोंकी तरह हमेशा झुका रहे। तानाशाही व्यवस्थामें राज्यकर्ता जनताको अैसा समूह समझते हैं जो जीभ होनेपर भी नहीं बोलता, जो अपनी भावनाओंको स्पष्ट रूपसे प्रकट नहीं करता। वहाँ लोगों अथवा प्रजाजनोंका काम और कर्तव्य सिर्फ आज्ञापालन मात्र है। हमें क्या

चाहिऐ, यह कहना भी राजद्रोह माना जाता है। यह कहना कि मनुष्यके कुछ हक, कुछ अधिकार होते हैं, भी अपराध माना जाता है। एक शब्दमें कहना हो तो अधिनायक तन्त्रमें जनता याने दास, गुलाम। अन्हें कोओ पूछता नहीं, उनसे कोओ सलाह नहीं लेता। बैलोसे जैसे स्वामी या किसान कुछ पूछता नहीं है, बस वैसे ही तानाशाहीमें लोगोसे कुछ पूछा नहीं जाता; बैलोकी-सी अुनकी जिन्दगी होती है। लेकिन जनतन्त्रमें जनता प्रधान वस्तु है, वह सम्पूर्ण राजनैतिक जीवनका केन्द्र है। 'रथकी नाभि' के समान जनतन्त्रमें अुसका महत्व है। अुससे प्रेरणा प्राप्त कर आठों दिशाओंमें प्रयत्न संचालित होते हैं। जनताकी प्रेरणासे ही राज्यका रथ चलता है। अुसकी गतिका निश्चय जनता करती है। जनतन्त्र अर्थात् स्वयं ही आज्ञा देना और स्वयं ही अुसका पालन करना। ये दोनों बातें करना और जानना सरल नहीं है। ये बातें क्यों और कैसे करनी चाहिऐ, और कौन अुन्हें करे, यह जानकारी सामान्य नागरिकको यदि न हो तो जनतन्त्र चल ही नहीं पाऐगा। प्रत्येक सिपाही अथवा सैनिक सब प्रकारसे योग्य न हो तो सेना जीत नहीं सकेगी। एक मूर्ख सिपाही अथवा सैनिक देशको खतरेमें डाल सकता है। यही बात जनतन्त्रमें प्रत्येक नागरिकके लिये कही जा सकती है।

अिस चुनावके सिलसिलेमें यह आवश्यक है कि जनता अिस सूक्ष्म ज्ञानको अच्छी तरह समझे। अिसलिये आज हम 'राज्य' के सम्बन्धमें विचार करेंगे। 'अयाज्तो राज्य जिज्ञासा'। सीधे सादे शब्दोंमें राज्यकी व्याख्या यों की जा सकती है :—निश्चित प्रदेशमें, निश्चित जनतापर, सर्वांगीण सत्ता चलानेवाला संगठन याने राज्य। वह अपने शासनके प्रदेशमें किसी और को अधिकार नहीं चलाने देता; किवा, और किसीका वह अपने अधिकारमें हिस्सेदारी नहीं देता। वह अपने अिलाकेके बाहर किसी भी व्यक्ति अथवा संगठनके अधिकार या हुक्मतको नहीं मानता। राज्यको निश्चित प्रदेश चाहिऐ—अिमका अर्थ यह है कि अुसकी प्रादेशिक मर्यादा तथा सीमाएं निश्चित होनी चाहिऐ। एक बार ये सीमाओं निश्चित हो जानेपर सामान्यतया अुनमें युद्धसे ही परिवर्तन किया जा सकता है। यह बात नहीं कि समझौते द्वारा ये परिवर्तन कभी संभव ही नहीं; लेकिन अपनी मातृभूमिका छोटा-सा भी हिस्सा कोओ राजी-खुशी नहीं देता। सीमाओं कैसे निश्चित होती हैं, यह

कहना कठिन है। अनेक बार भौगोलिक परिस्थिति यह काम करती है। पर्वत और नदियोंसे सीमाओं निर्धारित की जाती है। बीचमें पहाड़ और उसके दोनों ओर दो अलग-अलग राज्य हो सकते हैं। भूगोलके समान अतिहास भी सीमाओं निश्चित करनेमें मदद करता है। जहाँ तक आक्रमणके जरिये, ताकतसे, एक राज्यका झण्डा गाड़ा जा सके, वहाँ तक का अिलाका अमु विगिष्ट राज्यमें समाविष्ट हो जाता है। तात्पर्य, एक वार सीमाओं निश्चिन हो जानेपर राज्यका प्रादेशिक स्वरूप और उसका प्रभुत्व स्पष्ट व स्थिर हो जाता है।

राज्य याने किसी निश्चित भू-भागमें व्याप्त प्रभावपूर्ण संगठन; और अमु प्रदेशमें रहनेवाली जनता उस राज्यकी प्रजा है। उस प्रदेशमें रहने-वाले उस राज्यके नागरिक होते हैं। इसका यह मतलब नहीं कि अमु प्रदेशमें कोई परकीय या परदेशी नहीं रहते। राज्यमें विदेशी-व्यापारी, प्रवासी, राजदूत आदि भी रहते हैं। लेकिन वे उस राज्यके नागरिक नहीं माने जाते, और इसीलिए राज्य चलानेवाली सरकार उन्हें निकाल बाहर कर सकती है। यदि राज्यको यह अधिकार न रहे तो वह वास्तविक अर्थमें राज्य ही नहीं होगा। राज्यका अधिकार अपने सब प्रजाजनोपर देश या परदेशमें सब जगह चलता है; लेकिन अनुर प्रत्यक्ष शासन जब वे देशमें रहते हैं तब, या आते हैं तब ही किया जा सकता है। राज्यके अुत्तराधिकारादि सम्बन्धी कानून प्रजाजन जब विदेशमें रहते हैं तब भी अनुर लागू होते हैं। विदेशमें भी राज्य अनुरकी एक सीमा तक रक्षा करता है। यह राज्यका कर्तव्य है कि वह अपने प्रजाजनोकी रक्षा देशमें पूरी और परदेशमें अंशतः करे। राज्यका नागरिक होना एक प्रकारकी प्रतिष्ठा है। नागरिकताके लाभ और हानियाँ, अधिकार और जिम्मेदारियाँ सब महत्वपूर्ण हैं। इसलिये कौन कैसे नागरिक बन सकता है, इसका विचार करना बहुत ही महत्वपूर्ण है। प्रत्येक आधुनिक राज्यमें तत्सम्बन्धी कानून बने हुअे हैं। कहीं वह कानून स्वतन्त्र रूपसे है तो कहीं वह राज्यके सविधानका एक अंग है। सामान्यतः नागरिकता जन्म, कुल, दीर्घ समयके निवास तथा स्वेच्छासे स्वीकार करनेपर प्राप्त होती है। जो राज्यमें पैदा होते हैं, उन्हें नागरिकता स्वयंमेव मिल जाती है। राज्यमें रहनेवाले विदेशियोंके अुस

प्रति निष्ठावती रहती है उसी तरह। उस राज्यकी जनता अथवा नागरिक अपने राज्यके प्रति-सरकारके प्रति नहीं, पूर्ण रूपसे और सचाजीके साथ निष्ठावान रहते हैं, किंवा अन्हें रहना चाहिये। तभी वह राष्ट्र प्रभुत्वपूर्ण बनता है। आन्तरिक मामलोमे सर्वाधिकार और अन्तर्राष्ट्रीय क्पेत्रोमे मान्यता—ये दो बातें राष्ट्रकी प्रभुताके मुख्य लक्षण हैं।

राज्य प्रभुत्वपूर्ण घटक हैं। यदि वह वैसा न हो, और दूसरोसे अंकित रहे, तो उसे प्रभुत्वपूर्ण नहीं माना जायेगा। कुछ प्रदेश अन्तर्व्यवस्थामें प्रभुत्वपूर्ण होते हैं, पर अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिसे दूसरोके अधीन रहते हैं—ऐसे प्रदेशोंके राज्य प्रभुत्वपूर्ण, सर्व-सत्ता-सम्पन्न नहीं होते। स्वायत्त-अुपनिवेश (Dominions), फिर वे चाहे किसी भी साम्राज्यके अन्तर्गत हों, राज्य नहीं हैं। यद्यपि अुपनिवेश या स्वायत्त-अुपनिवेश स्वायत्त रहते हैं, लेकिन वे किसी अन्य राष्ट्रके खिलाफ न तो युद्ध ही कर सकते हैं और न स्वतन्त्र रूपसे किसीसे कोअी संधि ही। पृथक राज्यके रूपमें अुनको आन्तर्राष्ट्रीय मान्यता नहीं मिलती। असलिये ऐसे अुपनिवेश स्वतन्त्र अेवं प्रभुत्वपूर्ण राज्य नहीं हैं।

यह बताया जा चुका है कि राज्यको प्रभुत्वपूर्ण होना चाहिये, लेकिन यह प्रभुत्व राज्यमें कहाँ रहता है, कौन अस प्रभुत्वका स्वामी है, कैसे वह व्यवहृत होता है, कैसे वह आचरणमे आया है, आदि प्रश्न स्वाभाविकतया बने रहते हैं। राज्यका नाम लेते ही राजाकी कल्पना आँखोंके सामने आ खड़ी होती है। हर माधारण आदमी यह महसूस करता है कि राज्यमे शासक चाहिये, नियंता चाहिये। जिस तरह सभाके लिये सभापति, गाँवके लिये मुखिया (या पटेल), क्रिकेट टीमके लिये कप्तान आदि का होना स्वाभाविक लगता है, उसी तरह राज्यके लिये राजाका होना भी स्वाभाविक लगता है। राजा और असकी प्रजाके बीच जो सम्बन्ध रहते हैं वे महत्वपूर्ण होते हैं। कुछ भी हो, राज्यको नियंता, शासक चाहिये; फिर चाहे वह कोअी व्यक्ति हो या छोटा मन्त्रिमण्डल हो—अन्तिम आज्ञा देनेवाले किसीका रहना आवश्यक है। यह अन्तिम आज्ञा कोअी अेक व्यक्ति दे या बहुमतसे तय हो जानेके बाद कोअी मन्त्रिमण्डल दे। राज्यमे राजा या मन्त्रिमण्डल, जो भी अन्तिम नियन्त्रक संघटन हो, उसके और प्रजा अथवा नागरिकोंके बीच आज्ञाधारणका तत्त्व

प्रभावी रहता है। अंक आज्ञा करेंगे और दूसरा उसे मानेगा—अस आधार पर राज्यकी रचना होती है, राज्य क्रियाशील होता है। यदि यह भाव खतम हो जाता है तो राज्य विघटित हो जाता है, नष्ट हो जाता है। फिर वहाँ मत्स्य-न्याय शुरू हो जाता है, सिर्फ जोर-जबरदस्ती चलने लगती है। अनन्त वर्षोंके अनुभवोंसे मनुष्य-समाजका निर्माण हुआ, उससे राज्यकी कल्पनाका प्रादुर्भाव हुआ और आज राज्य, चाहे वह किसी स्वरूपका हो, समाजकी स्वाभाविक अवस्था बन गया है। अंक समय ऐसा था जब कि कोअी 'प्रजा' नहीं था। सब ओर 'अराजक' था। ऐसा कहते हैं कि तब धर्मके अनुसार प्रजा चला करती थी। फिर अराजकता—अंधा धुंधी फैल गयी। ऐसी कथा है कि तब लोग भगवानके पास गये, मनुके पास गये; फलस्वरूप अन्हें राजा मिला और उस राजाकी बात सब मानने लगे। तात्पर्य यह कि समाजकी स्थिरताके लिये, प्रगतिके लिये राज्य आवश्यक बन गया। अनन्त वर्षोंके अनुभवसे हमारे लिये वह अंक स्वाभाविक अवस्था बन गयी है। आज दुनिया-भरमे कही भी ऐसा कोअी समाज नहीं है कि जहाँ शासन न हो, राज्य न हो; और न ऐसा राज्य ही है जो प्रभुत्वपूर्ण न हो। या जैसा कि पीछे कहा गया है, वह राज्य राज्य नहीं होता जो प्रभुत्वपूर्ण नहीं होता। अन्तिम आज्ञा देनेवाली संघटना और जिस क्पेत्रमें उसकी आज्ञा मानी जाती है वह क्पेत्र ही राज्य है। उसमें अनेक स्वरूपी लोक समूह आ सकते हैं। लेकिन आधुनिक राज्य सामान्य रूपसे 'राष्ट्र राज्य' है, अर्थात् वे जनता, वंश, संस्कृति, अतिहास और भावना अत्यादिकी दृष्टिसे 'अंक-रूपात्मक' है। राज्यका प्रभुत्व उस प्रदेशकी जनतामें सन्निहित रहता है।

राज्य प्रभुत्वपूर्ण रहता है और वह प्रभुत्व जनतामे समाया हुआ रहता है, अतना कह देनेसे साधारण आदमीकी समझमे बात ठीकसे नहीं आती। जनता याने कौन? जनता राज्यकी स्वामिनी रहती है याने निश्चित स्वामी कौन रहता है? यहाँ हमें अंक बात स्पष्ट कर देनी चाहिये: जो चीज राज्य अथवा प्रजाको अथवा राज्य अवं नागरिकोंको आपसमें बाँधती है, वह है प्रजाकी आज्ञाधारकता। जब कानूनको माना जाये तभी वह कानून होता है। कानून तभी कानून है जब तक कि बहुसंख्यक लोग उसे मानते हैं। पुलिसका आदमी भले ही दुबला-पतला हो, पर

पहलवान तक उसकी बात मानता है। इसका यही अर्थ है कि केवल शारीरिक शक्ति या हिंसात्मक ताकत ही आज्ञापालन नहीं करवाती है। राज्यकी आज्ञा अपने मनसे मानी जाती है, उसमें सम्मति का भाव रहता है। जनता जब राज्यका हुकुम मानती है तब उसके मनमें यही भाव रहता है। इसकी जड़में साधारणतया जनताकी यह कल्पना रहती है कि जो राज्य कहता है, वह ठीक है। यदि ऐसा न हो तो राज्यमें अराजकता फैल जायेगी। जब कोई किसीकी नहीं सुनता है, तब जो हालत टूटे हुए हारके मोतियोंकी होती है, वही जनताकी हो जाती है। आज आप जो इस सभामें आये हैं, वह अपने मनसे आये हैं। सभाका कानून अर्थात् अध्यक्षकी बात माननेका आपने निश्चय किया है, इसीलिए यह जमाव सभा है। यहाँ अनुशासन है, शान्ति है; एक मनुष्य बोले और दूसरे सुने—यह नियम यदि आप न मानें, तो यह जमाव 'बाजार' हो जायेगा। तब ऐसा होगा कि जो जहाँ चाहे बैठे, घूमे; जिसके जो मनमें आये कहे। अतः दो स्थितियोंके अन्तरका रहस्य यह है कि इस जमावको सभा बनाया जाय या नहीं, इसका निर्णय आप करते हैं। अर्थात् एक दृष्टिसे आप इसके स्वामी हैं, यह सभा आपकी है। आपमेंसे ही अध्यक्ष चुना गया है। वह सभाका ही एक व्यक्ति है और सभाका एक भाग है। आपकी सम्मतिसे वह अध्यक्षके अधिकारोंका उपयोग करता है। आपमेंसे कोई एक प्रस्ताव रखता है कि अमुक अध्यक्ष बनें, कोई दूसरा उसका समर्थन करता है; आपने उस प्रस्तावको मजबूती दी, तालियाँ बजायीं और वह सज्जन अध्यक्ष बन गये और अध्यक्षके अधिकारोंका उपयोग करने लगे। लेकिन अतः सब क्रियाओंमें आपका, प्रत्येकका हिस्सा है। अध्यक्षके अधिकार पैदा इसीलिए हुये कि आपने उन्हें सम्मति दी। उनके जन्मदाता आप हैं। यही बात राज्यके प्रभुत्वके सम्बन्धमें है। राज्यकी भी जन्मकथा इसी तरहकी है। चित्र जैसे कलाकार द्वारा बनाया जाता है, वैसे ही राज्य बना है। लेकिन बननेके बाद चित्र कलाकारसे अलग दिखायी पड़ता है, उसमें पृथक्त्व रह सकता है; पर, राज्य चूँकि जनताके प्रभुत्वका द्योतक है, वह जनतासे अलग नहीं हो सकता। जैसे मन शरीरको गति देता है, उसी तरह समाज राज्यको गति देता है। राज्यका प्रभुत्व जनतामें समाया हुआ तथा जनता द्वारा ही निर्मित है।

जनता द्वारा निर्मित, पर जनतासे अलग नहीं—यह है आधुनिक राज्यका सूक्ष्म स्वरूप; पर उसका स्थूल स्वरूप दूसरा है। यह बात कुछ 'आत्मा व पुत्रनामासि' के समान ही है। पिताका अस्तित्व पुत्रके रूपमें रहता है—असका अर्थ यह कि कुछ सातत्य नित्य बना है। समाज चिरंजीव है, व्यक्ति क्षणभंगुर है। नागरिक आयेगे और जायेंगे, पर राज्य सतत कायम रहेगा। जिसमें यात्री नहीं होते, उसे मेला नहीं कहा जा सकता। लेकिन मनुष्य समाज जब तक है, तब तक उसमें राज्य अथवा शासनका भाव और व्यवस्था अिस या उस रूपमें अवश्य रहेगी। दो मनुष्य जब अेकत्र आते हैं तो उनमें रिश्ते उत्पन्न हो जाते हैं—कौन किसको मानेगा, कौन खपेगा और कौन खायेगा, कौन श्रम करेगा और कौन आराम, कौन प्रणाम करेगा और कौन नमस्कार, आदि प्रश्न उन दोनोंके बीच उपस्थित होते हैं। और जैसे-जैसे उनका हल निकलता जाता है अथवा निकाला जाता है, वैसे-वैसे सामाजिक संकेत, नियम, और परंपराएं उत्पन्न होती हैं। फिर ये संकेत और ये परंपराएं धर्म बनती हैं और अिस धर्मको बतानेवाले और उसके सम्बन्धमें आदेश देनेवाले समाजके शास्ता बन जाते हैं। समाज याने सिर्फ जन-समूह नहीं। उसमें रहनेवाले और विचरण करनेवाले व्यक्तियोंके सम्बन्ध और उनका आपसका व्यवहार नियमित और निश्चित होता है। समाज व राज्य दो अलग-अलग कल्पनाएं हैं, पर सूक्ष्म दृष्टिसे, स्थूल स्वरूपमें समाज और राज्यमें अन्तर बहुत बड़ा नहीं रहता। जैसे कि अभी मैंने कहा, नियमन-हीन समाज रह ही नहीं सकता। उसमें तो नियमन कोअी करता ही है। घुमक्कड़ पारधियो या अन्य वन्य (जंगली) जातियोंके व्यवहारमें भी नियमन रहता है। जातिके किसी वृहे द्वारा या जातिकी पचायत द्वारा यह नियमन किया जाता है। तात्पर्य, समाज राज्यको छोड़कर नहीं रह सकता, यदि समाज न हो तो राज्य भी नहीं रहेगा। मनुष्यके सदर्थमें ही तलवार अेक हथियार है, वर्रा वह अेक सामान्य वस्तु है। अिसलिये राज्यको समाजका अेक विशिष्ट स्वरूप माना जाना चाहिये। समाज आया याने राज्य आया। राज्यके स्थूल-स्वरूप अलग-अलग प्रकारके हो सकते हैं, पर सूक्ष्म-विचारकी दृष्टिसे उनमें राज्यकी कल्पना अेक है। राज्य चाहे तानाशाही ढंगका हो, मर्यादित जनतंत्र हो, गणतंत्रात्मक जनतंत्र हो या और किसी ढंगका जनतंत्र हो,

सबमें राज्यकी कल्पना अेक है। सब धर्मोंकी मौलिक कल्पनाओं जैसे अेक समान होती है, वैसे ही राज्यकी मौलिक कल्पना भी समान रहती है। कपड़ा किसी भी रंगका हो, किसीके लिये भी हो, कितनी भी उसकी लंबाई-चौड़ाई हो, किसी भी तरह वह बुना गया हो, लेकिन उसके लिये करघा आवश्यक है। करघेके बिना कपड़ा नहीं बन सकता। यह ठीक है कि ताना और बाना उसके अंतर्भूत तत्व है, पर उनको वस्त्र रूपमें परिवर्तित करने-वाला यंत्र करघा है। इसी न्यायसे राज्य किसीका भी हो, किसीके भी लिये हो, उसके हेतु-प्रयोजन भले ही विविध हों, पर वे सब हेतु और प्रयोजन कार्यान्वित हो सकें इसके लिये समाज आवश्यक है। अर्थात् समाजके बिना राज्य अस्तित्वमें नहीं आता।

शब्द और अर्थमें, पदार्थ और उसके आकारमें जैसे साहचर्य अपरिहार्य है; वैसे ही अपरिहार्यता समाज और राज्यके बीच रहती है और इसीलिये समाजमें राज्यका प्रभुत्व समाविष्ट है यह मैंने बताया। वह प्रभुत्व समाजमें समाविष्ट है इसका यह अर्थ नहीं कि समाजके सब व्यक्तियोंके लिये उसका पूर्णरूपसे उपयोग होता है। उसी तरह समाजका हर व्यक्ति हमेशा उस प्रभुत्वका उपयोग करता है अैसा भी नहीं है। प्राचीन समयमें वृद्धको समाजमें और पिताको कुटुम्बमें श्रेष्ठ माना जाता था। इसका अर्थ यह था कि कुटुम्बमें निर्णयात्मक शक्ति पिताके पास और समाजमें निर्णयात्मक शक्ति वृद्धके अथवा नेताके पास रहा करती थी। अब प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि आधुनिक समाजमें निर्णयात्मक शक्ति समाजके किस हिस्से अथवा किस व्यक्तिके पास रहे। यदि यह कहा जाय कि वह शक्ति सबके पास रहे, तो सब हमेशा अिकट्ठे होकर हर विषयका निर्णय नहीं कर सकते। आधुनिक राज्य कपेत्रकी दृष्टिसे विशाल और प्रजाकी दृष्टिसे बहुत बड़े होते हैं। पहिले भी गणराज्य थे, पर वे जनसंख्या तथा विस्तार दोनों दृष्टिसे छोटे-छोटे रहा करते थे। अब यह स्थिति नहीं है। यह मान लेनेपर भी कि सबके हितोंकी रक्षा की जानी चाहिये, सबका सभरण (भरण-पोषण) होना चाहिये; सब अपना प्रभुत्व अथवा राज्य पर अधिकार अेक साथ चला नहीं सकते। इसलिये यह देखना आवश्यक है कि इस दृष्टिसे आधुनिक राज्य किस प्रकार कार्य करते हैं; उसके कार्योंमें प्रजा अथवा समाजके प्रत्येक व्यक्तिकी अच्छा और अपेक्षा,

आशा एवं महत्वाकांक्षाका ध्यान कैसे रखा जाता है। समाज पहिले रक्षाके लिये और बादमें संभरणके लिये कार्यप्रवण हुआ; वैसा ही राज्यको भी करना पड़ा। लेकिन राज्य सिर्फ़ अतना ही करनेके लिये नहीं बना था। जैसे यह स्पष्ट है कि समाजमें ही व्यक्तिका विकास होता है और समाजके संदर्भमें ही साहित्य एवं साहित्यिकता संभव है; उसी तरह यह भी स्पष्ट है कि यह सब कुछ व्यवस्थित रूपसे हो सके अिसलिये राज्यकी आवश्यकता है। समाजका नियमन जरूरी है, लेकिन उस नियमनका अुद्देश्य और उसको करनेवाला कौन हो यह स्पष्ट होना चाहिये। राज्य किसका कहना माने, किसकी आशा आकांक्षा पूर्ण करे, किससे श्रम ले और किसे आराम दे, और यह सब करनेमें किस पद्धतिको अपनाये, किन तत्वोंको गृहीत समझे, किन संकेतोंको माने, आदि प्रश्न अुपस्थित होते हैं। पहले राज्य आवश्यक है; उसके बिना समाज, संगठित समाज संभव नहीं—यही आजके व्याख्यानमें बताना था। ‘अथा ऽ तो ब्रह्म जिज्ञासा’ के सूत्रको समझाते समय ‘अथ’ —शब्द पर जो व्याख्यान दिया जाता है, उसमें पूर्व अितिहासका कथन किया जाता है। वैसा ही मैंने किया है। आगामी व्याख्यानोंमें राज्यके हेतु और तत्सम प्रश्नोंकी चर्चा की जायेगी।



२.

आधुनिक राज्य और उसके अद्देश्य

मनुष्यके लिये समाज और समाजके लिये राज्य अनिवार्य है। राज्यकी जन्मकथा परसोंके व्याख्यानमें कह चुका हूँ। राज्य बदलते बदलते वर्तमान रूपमें कैसे आया, आज यह बताना है। उसी तरह, इस अतुक्रांतिकी विभिन्न मंजिलोंसे गुजरते समय उसके हेतुओंमें और बाह्य स्वरूपमें कैसे फर्क पड़ता गया, इसको भी संक्षेपमें कहना है। ऋषिके कुल गोत्रकी खोजको गलत माना गया है, परन्तु राज्यके कुलका पता लगाना बुद्धिमानकी लक्षण है। आजके राज्यका स्वरूप जनतंत्रात्मक है। प्रत्येक २१ वर्ष की उमरवाले स्त्री अथवा पुरुषको सामान्यतया मत देनेका अधिकार है। यह उसपर अंक बड़ा अतुत्तरदायित्व है। मत देनेवाला यदि विवेकी, विचारशील और तारतम्य समझनेवाला न हो तो जनतंत्र सफल नहीं होगा। इस देशमें १६ प्रतिशत जनता साक्षर है, और इस परिस्थितिमें जनतंत्रको हमें सफल बनाना है। जनतंत्रकी सारी अिमारत “निर्वाचन संघ” की नींव पर खड़ी है। यह नींव मजबूत होनी

चाहिए। मतदाताको साक्षर और बुद्धिमान दोनों होना चाहिये, पर कमसे कम वह बुद्धिमान तो रहे ही। राजनीतिज्ञों एवं नेताओंका काम है कि वे उसे होशियार एवं विवेकी बना दें। यह काम प्रत्येक राजनैतिक दलका है। एक बार मैंने कहा था कि चुनावोंको जनताके लिये राजनैतिक शिक्षा देनेकी 'बहिःशाला योजना' माना जाना चाहिये। इसीलिये मैंने यह तय किया है कि जनताके सामने जितने सम्भव हों, उतने सिद्धान्त विषयक व्याख्यान दिये जायें। प्रचारात्मक व्याख्यान बाजों-गाजोंके समान धूम-धड़ाका पैदा करते हैं, लेकिन सिद्धांतात्मक व्याख्यानोंको वेदमन्त्रोंकी तरह पवित्र मनसे सुनना चाहिये। जनजाति-आत्मक व्यवस्था मुश्किल पर नफीस, नाजुक चीज है। आजकी हालत यह है कि जो एकतारा भी नहीं बजा सकता, उसे महफिलमें सितारपर पूरीया (पूर्वी राग) बजानेके लिये कहा जा रहा है। ऐसी परिस्थितिका हमें आव्हान है। उसका हम स्वीकार करेंगे और सारी दुनियाके सामने जनतन्त्रको-नकली नहीं, असलीको सफल करके दिखायेंगे। इसके लिये पहली आवश्यकता है कि जनताको जनतन्त्रके मौलिक सिद्धान्त समझा दिये जायें। और इसीलिये व्याख्यानोंका यह आयोजन है।

अब हमें यह देखना है कि आधुनिक राज्य कैसे प्रगति करते गया? चूंकि अतिहाससे वर्तमानकी, और वर्तमानसे कलके अतिहासकी रचना होती है, इसलिये हमें आजके राज्यकी वंश-कथा जान लेनी चाहिये। दो मनुष्य एक जगह आये याने समाजका प्रारम्भ हुआ और उसकी संख्या बढ़ी। जैसे समाजके कार्य बढ़े वैसे समाजका विस्तार बढ़ा। जिस तरह झाड़के साथ-साथ झाड़की छाल बढ़ती है और जड़े गहरी जाती हैं, उसी तरह जब समाज बढ़ता है तो वृक्षकी छालके समान राज्य भी बढ़ता है और जड़ोंकी तरह प्रजाकी उसके प्रति निष्ठा भी गहरी और मजबूत होती जाती है। प्राचीन व्यवस्थामें अधिकार पहले पिताको, बादमें जातिके वृद्ध नेताको, उसके बादमें जातिके चार प्रमुखोंको प्राप्त हुआ करता था। जातिकी रक्षाके काममें जो आगे रहे, प्रमुख सिद्ध हुये, वे ही नेता बने और वे ही शास्ता बन गये। पहले समाज अर्थात् राज्य घुमक्कड़ था; बादमें वह धीरे-धीरे स्थिर हो गया। जंगल काटे गये। खेती शुरू हो गयी। पहले झोपड़ियाँ थीं, बादमें मिट्टीके कच्चे घर बने। मनुष्यकी

कल्पनाओं और विचारोंकी प्रगति अुसके गृह-निर्माणमें दिखायी देने लगी। कामका बँटवारा हुआ। कोअी रक्षाका काम करने लगा, कोअी खेतीका, कोअी विनिमयका और कोअी सिर्फ शारीरिक परिश्रमका। समाजके या समाज रूपी पुरुषके अलग-अलग अंग-अवयव होते हैं, यह माना जाने लगा। राज्यका अथवा शासनका कार्य विविध रूपोंवाला बनने लगा। राज्यके प्रदेशगत-प्रदेशमें स्थिर होते ही अुसका रूप बदल गया। घुमन्तू समाज खेतीके कारण या अन्य सुविधाओंकी वजहसे स्थिर हो गये। रक्षा, आवागमन, पानी अित्यादिकी सुविधाअे देखकर साधारण बस्तियाँ बसती गयीं। रहना स्थिर हो जाते ही सामुदायिक मन स्थिर हो गया। अेकको दूसरेकी जरूरत महसूस होने लगी। मनुष्य घरको बनाते हैं और घर मनुष्योंको; मनुष्योंके मानसिक व अन्य जीवनपर वास्तुका परिणाम होता है। नगर-रचना, ग्राम-रचना, गृह-रचना अिन सबका अिस दृष्टिसे महत्व है। जब बस्ती स्थिर हो गयी, तो स्वच्छता और रक्षाकी आवश्यकता महसूस होने लगी। तब अुससे सम्बन्धित नियमनकी शुरुआत हुअी। प्रथम सकेत, बादमें परम्परा और फिर औपचारिक शासन शुरू हुआ। जब किसीने सकेतोंको नही माना, किसीने परम्पराओंको तोड़ा और किसीने नियमनका अपमान किया तब क्या किया जाय, यह सवाल सामने आया। तब समाजको यह लगा कि अिन अपराधोंके लिअे दण्ड दिया जाना चाहिअे। और धीरे-धीरे दण्ड-व्यवस्था कार्य-रूपमें परिणत हुअी। अैसी-व्यवस्थाका होना सबके हितमें है, यह बात समाजकी समझमें आने लगी। अुसी समझने राज्यके बनाअे कानूनका रूप धारण किया। अज आधुनिक जगतमें राज्य कानूनकी चालसे चलता है। कानूनका प्रतिपालन किया जाना चाहिअे, यह भाव बहुत प्राचीन है। मनुष्यका मन विद्रोही था; लेकिन अुसकी प्रवृत्ति, अुसकी प्रकृति राज्याज्ञा माननेकी है। कारण अुस प्रकृतिके मूलमें स्वहित-तत्परताका विचार है।

जब समाजका जन्म हुआ, अुसी समय राज्यका जन्म हुआ। वे सहोदर हैं, यदि अैसा कहा जाय तो गलत नही होगा। राज्यकी भाषाकी लिपि है अुसका कानून। राज्य कानूनके द्वारा बोलता है। यह कानून, सीधे सरल साधारण कानून (Act) के रूपमें, अथवा अध्यादेशके

रूपमे अथवा कानूनों द्वारा घड़े गये नियमोंके रूपमें हो सकता है। मतलब यह कि राज्य कानूनके मुखसे बोलता है। राज्यके अद्देश्योंको उसके कानूनोमेसे खोजा जा सकता है। जैसा राज्यका स्वरूप होता है वैसे ही उसके कानून होते हैं। जो मनमे रहता है वही शब्दोमे अभिव्यक्त होता है, यह बात राज्यपर भी लागू है। धीरे-धीरे समाज स्थिर हो गया; और राज्य स्थायी, अक प्रदेशमे स्थिर हो गये। समाजके और राज्यके कर्तव्य स्पष्ट हो गये। लेकिन समाज अक अखण्ड प्रवाह है। वह आन्तरिक दृष्टिसे स्थिर है, पर बाहरी दुनियासे उसका सम्बन्ध आते ही उसमे अशान्ति व अस्थिरता उत्पन्न हो जाती है। पुरुषार्थका आकर्षण मनुष्योको निश्चित रूपसे अपने सस्थापित राज्यके बाहर खींचने लगा। फलस्वरूप राज्योंमे आपसमे सघर्ष होने लगे। युद्ध नित्यकी बात बन गये। जो पराक्रम कर दिखाते, वे नेता बन जाते। आक्रान्त प्रदेशोको बाँटा जाने लगा। सम्पत्तिके वितरणमे विषमता उत्पन्न हो गयी। समाजका स्वरूप बदला, और साथ ही राज्यका भी स्वरूप बदला। जो सम्पत्तिशाली और पराक्रमी थे, उनके हितोकी सार-सम्भाल राज्यका लक्ष्य बन गया। किबहुना, वे ही लोग प्रधानतः राज्य हैं असा समीकरण बन गया और यही बात राज्यके कानूनोंमे तुरन्त झलकने लगी। अिन सचित सम्पत्तिवालोंके योगक्षेमकी देखभाल ही राज्यका प्रयोजन बन गया। जिसे सामन्तशाही कहते हैं, उस ढंगका समाज अस्तित्वमे आया। राज्यमे अधिनायक या श्रेष्ठ शास्ताके रहनेपर भी सामन्तशाही गुट सामर्थ्यशाली सिद्ध हुआ। पश्चिमी राष्ट्रोंका अितिहास यही सिद्ध करता है कि यद्यपि राज्यमे स्वयं राजा सबसे श्रेष्ठ था, पर सत्ताका अधिकाश अप्रयोग सरदार लोग अथवा सामन्तशाही गुटके लोग ही किया करते थे। चूँकि तत्कालीन सम्पत्ति मुख्यतः जमीनके रूपमे थी, असिलिअे भू-स्वामी होना ही उस समय महत्वपूर्ण बात थी, और जिसके पास जमीन है उसीका राज्यमे प्रभाव है, यह स्पष्ट दिखायी देता था। सारी जमीन सरदारोने दबा ली थी और वे ही राज्यमें 'प्रभावशाली' बन बैठे थे। केवल अितना ही नहीं, मध्यकालीन यूरोपमें पोप और पुरोहित वर्ग भी सत्ताधीश और प्रभावशाली बन बैठा था। तब वहाँ राज्यमे किसकी सत्ता अधिक रहे, अस बातपर झगड़ा शुरू हो गया। यह ठीक है कि अैहिक राज्य राजाका होता है; लेकिन चूँकि उससे पारलौकिक

सत्ता श्रेष्ठ होती है, अिसलिये राज्यमें अुस पारलौकिक सत्ताका याने पारलौकिक सत्ताके प्रतिनिधि (पोप) का प्रभाव अधिक होना चाहिये, यह दावा किया जाने लगा । अिस बातकी जिद्द की जाने लगी कि पोप भगवानका प्रतिनिधि है, अिसलिये पोपके निर्णयको राज्यमें सर्वश्रेष्ठ मानना चाहिये । चूँकि कभी राजाओंने धर्मका नियमन करनेवाली संस्थाओंके नामपर जमीने लगा दी थीं, अिसलिये धर्मके ये नेता सम्पत्तिशाली भी बन बैठे थे; और यह माना जाने लगा था कि धर्मके लिअे राज्य है, धर्मकी स्थापना और अुसका संचालन ही राज्यका मुख्य अुद्देश्य है । तदनुसार ही राज्यका कारोबार चलाया जाता था और कानून बनाये जाते थे । कुछ शताब्दियों तक राज्यका यही स्वरूप रहा और यही अुसके अुद्देश्य रहे ।

बड़े जमींदार जमीन जोतनेवाले किसान वर्गपर अत्याचार किया करते थे, जिसके परिणामस्वरूप अुनमे जागृतिका प्रादुर्भाव हुआ । सरदार वर्ग और मेहनत करनेवाले किसान वर्गके मध्य व्यापारी वर्ग धीरे-धीरे व्यापक होने लगा । यह व्यापारी वर्ग बढ़ते हुअे समाजके लिअे जरूरी होता है । चूँकि अिस वर्गके हाथमे नगदी पैसा आया, अिसलिये समाजमे अुसका महत्व बढ़ने लगा । राजा और सरदार दोनों अुस वर्गकी खुशामद करने लगे । अिस वर्गने 'राष्ट्रीय राज्य' याने 'अेक राज्य, अेक राष्ट्र' के सिद्धान्तका प्रतिपादन शुरू किया । अेक वंश, अेक भाषा और अेक संस्कृतिके कारण अेक बना हुआ अेकरूपात्मक समाज याने राष्ट्र—यह कल्पना सबल होने लगी । फलस्वरूप यूरोपका महान 'होली रोमन अेम्पायर', पवित्र रोम-साम्राज्य, नष्ट हो गया । अुसके बाद यूरोपमें अराजकता फैल गयी और तदनतर नअे विचारोंका वातावरण तैयार होने लगा । पुराने क्रिश्चियन धर्मके खिलाफ नअे विचारोंका अुदय हुआ । नअे-नअे राष्ट्रीय राज्य पैदा हुअे और अितिहास तथा भूगोलकी विभिन्न परिस्थितियोंके कारण अुनका अलग-अलग रूप दृष्टिगोचर होने लगा । प्रत्येक राज्यका अुद्देश्य अलग-अलग था और अुसके कार्यान्वित होने की प्रक्रिया अथवा रीति भी अलग-अलग थी । राज्यकी कल्पना अेक है, लेकिन अुसके स्वरूप अलग-अलग होते हैं, यह बात स्पष्ट हो गयी । यह भी स्पष्ट हो गया कि राज्यके बिना समाजका काम चल नहीं सकता, समाजमे अन्दर या बाहर शान्ति नहीं रह

सकती, उसकी रक्षा नहीं की जा सकती, उसका सवर्धन नहीं किया जा सकता। यूरोपीय समाज तमोगुणमेंसे नअे प्रकाशमें पदार्पण कर रहा था और तभी राष्ट्रीय राज्यकी कल्पनाका अुदय हुआ। बौद्धिक जगतमें अेक प्रकारकी क्रान्ति हो गयी। राज्य-सत्ता कहाँसे, कैसे निकली है, इसका शोध किया गया। कम-से-कम, राजाकी आवश्यकता है क्या, इसपर विचार किया जाने लगा—और राजा और प्रजाके सम्बन्धोंकी जाँच-पड़ताल शुरू हो गयी।

तात्पर्य यह कि प्राचीन समयमें ग्रीक तथा रोमन समाजमें जो राज-नैतिक तत्व और मूल्य थे, जो राजनैतिक दर्शन और सिद्धान्त थे, उन सबका प्रभाव फिरसे बढ़ने लगा, उनपर फिरसे विचार किया जाने लगा। अन्तर्गत तथा आन्तर्राष्ट्रीय व्यापारमें वृद्धि हुयी। उसमेंसे नअे आर्थिक विचारोंका प्रादुर्भाव हुआ। जैसे विचार पैदा होनेपर धीरे-धीरे उसको अभिव्यक्त करनेवाले शब्द ध्यानमें आने लगते हैं, वैसे ही बढ़ते हुअे व्यापारसे जो अनुभव आअे, उनसे कुछ सिद्धान्त बने। जब यह मालूम हुआ कि जबतक अुत्पादन नहीं बढ़ता तबतक व्यापार नहीं बढ़ता, तो अुत्पादन बढ़ाया जाने लगा। तब अुत्पादक, नियोजक तथा मजदूरोंके बीचके सम्बन्ध परम्परागत सीमाओंको लांघने लगे, उनके जो प्रचलित रिश्ते थे, वे छिन्न-भिन्न होने लगे। शासकोंने पुरानी शीशीमें नअी शराब भरनेके प्रयत्न शुरू किये। लेकिन निम्न दलित वर्गकी जागृति समुद्रकी प्रचण्ड लहरोंके समान बढ़ रही थी, उसको रोकनेकी कोशिशें हास्यास्पद थी; फिर भी अुसे रोकनेके प्रयत्न किये गअे। पर जनता अैसी गूंगी नहीं रही थी कि कोअी भी अुसे कही हाँक कर ले जाअे। अब यह सिद्धान्त सबको पटने लगा कि दरिद्रता भगवानकी लिखी हुयी रेखा नहीं है, न अज्ञान ही अुस भगवानकी कृपा का फल है। और ये जितने भी दुःख-दर्द हैं उनके कारण राज्यको चलानेवाले लोग ही हैं, यह बात सबकी समझमें आने लगी। अेक मर-मरकर काम करे और दूसरा बैठकर खाअे, यह परिस्थिति समाजमें मत्सर पैदा करती थी। मत्सर जब लम्बे समय तक टिका रहता है, तो वह द्वेषका स्वरूप धारण कर लेता है और द्वेष जब बढ़ता है तो विवेक संकुचित हो जाता है—गीतामें कथित यह तथ्य सब जगह प्रत्यक्ष दिखायी देने लगा। अिग्लैंडमें १७ वी शताब्दीमें जो

कानूनी क्रान्ति हुई, वह आनेवाली सदीकी रक्त-रंजित क्रान्तिकी ललकार साबित हुई।

अंग्लैंडकी क्रान्तिने सामन्तशाहीको ठीक कर दिया। वहाँ व्यापारी तथा मध्यम वर्ग राज्य सत्ताके केन्द्र बन गये। जैसे पहाड़की चोटी-परसे नीचे गिरनेवाली चट्टान बीचमें रुक नहीं सकती—अुसी तरह क्रान्तिका जो चक्र शुरू हो गया था, वह रुका नहीं, चलता ही रहा। अंग्लैंडकी क्रान्तिका परिणाम सारे यूरोपमें दिखायी देने लगा। १८ वीं शताब्दीके अन्तमें फ्रान्समें जो प्रचण्ड क्रान्ति हुई, उससे सारा यूरोप थरा उठा। राजमुकुट जमीनपर लोटने लगे। जब हजारों-हजारों हाथवाला, विशाल और विस्फारित नेत्रोंवाला जनताका विश्वरूप प्रकट हुआ तो पूंजीवादी क्रान्तिके कर्ता डगमगा उठे। लेकिन जो प्रवाह उत्पन्न हो गया था, वह रुका नहीं था; जरूर कुछ क्षण उसकी गतिमें धीमापन आ गया था। लेकिन १९ वीं शताब्दीके अन्तमें राज्यके स्वरूपकी अेक नयी विचारधारा जनताके मनमें बस गयी। जैसे राष्ट्रीय राज्यकी विस्फोटक कल्पनाके कारण १९ वी शताब्दीके यूरोपीय राजनैतिक भूगोलमें अेक बहुत बड़ा परिवर्तन आया था, ठीक अुसी तरहका बड़ा परिवर्तन राज्यके अुद्देश्यों सम्बन्धी तत्त्वज्ञानमें भी आया। फ्रेंच क्रान्तिके कुछ ही दिनों पहले अमेरिकन प्रजातन्त्रका जन्म हो गया था; उस क्रान्तिके बाद उसका स्वरूप स्पष्ट होने लगा। दोनों जगह राजाका राज्य खतम कर दिया गया और जनताका राज्य ही सच्चा राज्य है, यह बात मान ली गयी। लेकिन फ्रान्समें फिरसे नेपोलियनकी राजाशाही शुरू हो गयी। फ्रेंच जनताका स्वभाव स्वतन्त्रताकी अपेक्षा राष्ट्रीय गौरवको अधिक महत्व देता है, यह बात प्रकट दिखायी देने लगी। तथापि स्वतंत्रता, समता अेव बन्धुत्वके तत्त्वोंकी विजय और उनका बोलवाला सब ओर हो रहा था। क्रान्तिके बाद फ्रान्समें कुछ दिनों तक अराजकता रही और अुसीमेंसे बादशाहतका जन्म हुआ। हिंसात्मक क्रान्तिके सफल होते ही उसकी पहली भेंट उस क्रान्तिके नेता ही बनते हैं। क्रान्तिके कारण जनताकी भावनाअें तीव्र बन जाती है। सदियोंमें होनेवाला काम घण्टोंमें होना चाहिये, अैसा वह महसूस करने लगती है। उसके मनमें जो पुराने दुःख होते हैं, उनकी याद ताजी बनकर विस्फोटक स्वरूप ले लेती है। अैसे स्फोटक

बने हुअे दुःख जनताकी भावनाको, जब अुनकी अपेक्षाअें तत्काल पूरी नहीं हो पातीं, तब तीव्र बना देते हैं और अुसके बाद नेताओंकी बलि ली जाने लगती है। तब आवारा नेतृत्व अूपर अुभरता है। तब शासनका सर्वाधिक शक्तिमान अंश सत्तारूढ़ हो जाता है। और यही बात सेनापति नेपोलियनके सम्राट नेपोलियन बनने पर सिद्ध हुअी। सेनापति शासक बन गया। असमें जनताकी सम्मतिका कोअी सवाल ही नहीं था। सेनापतिकी आज्ञा कानून बन गअी, कारण अुसके पीछे दण्डशक्ति थी। चूँकि भारतकी क्रान्ति बड़े अंशमें अहिंसात्मक थी, असलिअे अुसके क्रान्तिकालीन नेताओंको मरना नहीं पड़ा और वे नअी परिस्थितियोंको तथा नअे युगको नियन्त्रित कर सके। खूब बरसात हो जानेपर योग्य व्यवस्था द्वारा बरसाती पानीके अपुयोगका जैसे अिन्तजाम कर लिया जाअे, ठीक अुसी तरह हमारे यहाँ हुअा। यह हमारे लिअे अभिमानकी चीज है—हमारे नेताओं और अनुयायिओं—दोनोंके लिअे। अितिहासने लिख रखा है कि फ्रान्समें नेपोलियनका क्या हुअा। कुछ देर तक क्रान्तिका प्रवाह खण्डित रहा, लेकिन अुसके बाद फ्रान्सकी जनता फिरसे विवेकी बन गअी और १८७० मे फ्रान्सका पहला जनतन्त्र स्थापित हुअा। बादमें कअी परिवर्तन और कअी युद्ध हुअे, पर वहाँ राजा वापस नहीं आया। आज भी फ्रान्सीसी समाज रूपी पुरुषके गलेमें स्वतन्त्रता, समता और बन्धुत्वका यज्ञोपवीत है। फ्रेंच क्रान्ति सिर्फ फ्रान्सकी सीमा तक ही सीमित नही रही। अुसने अपने क्षेत्रका विस्तार पूरे यूरोपमें कर लिया। १९ वीं शताब्दीका यूरोपीय अितिहास दो बातोंका स्पष्ट गवाह है—अेक तो यह कि राष्ट्रीय राज्यकी कल्पनाने जनतामें राजनैतिक विचारोंकी चेतना-शक्तिके रूपमें काम किया; और दूसरे, राष्ट्रीय राज्य, फिर चाहे अुसका औपचारिक स्वरूप कैसा भी क्यों न हो, जनताका राज्य होता है—यह कल्पना भी यथार्थ रूपमें सबके मनमें समा गअी थी।

अिग्लैंडमें राज्य राजाका है, पर सारी सत्ता जनता की, याने पार्लियामेंटकी है। फ्रान्समें जो राज्य है वह तो स्पष्ट प्रजातन्त्र ही है। अिटलीमें राष्ट्रीय राज्य बना, जन-प्रतिनिधि संस्थाओंका निर्माण हुअा और जनसत्ता प्रभावशाली बनने लगी। जर्मनीमें राष्ट्रीय राज्य आया। अेकता कायम हुअी। यद्यपि अुस राज्यका स्वरूप राजतन्त्रात्मक था, फिर भी

जनताको अुसमें प्रतिनिधित्व मिला; नाम मात्र ही क्यों न हो, अुसे सत्ता मिली । १९ वी शताब्दीके अन्तमें दुनियाका जो चित्र हमारे सामने अुभरा, वह अिस तरहका था—अमेरिकामें जनतन्त्र स्थापित हुआ, अन्यत्र साम्राज्योंके अन्तर्गत कुछ अपनिवेश थे, कुछ देश अेकदम पराधीन थे, और कुछ देशोंमें पौर्वात्य ढगकी तानाशाही थी । लेकिन जैसा कि कहा जा चुका है, फ्रेच राज्य-क्रान्तिके कारण राजनैतिक विचारोंमें जो भूकम्प शुरू हो गया था, अुसके धक्के शताब्दी भर लगते रहे । अब्राहम लिंकनने अेक युग-मन्त्रका अुद्घोष किया—‘न सिर्फ यूरोपमें, बल्कि दुनियाभरमें, हर जगह राज्य जनताका, जनताके लिअे व जनता द्वारा संचालित होना चाहिये ।’ अिस मन्त्रने अनेक पददलित राष्ट्रोंको प्रेरणा दी, स्फूर्ति प्रदान की । जो राष्ट्र साम्राज्यके अधीन थे, वे अपनी आजादीके लिअे आन्दोलन करने लगे । जिन राष्ट्रीय राज्योंमें राजाशाही या सामन्तशाही थी, वहाँके देशभक्तोंको अमेरिकाके अुपर्युक्त राजनैतिक सिद्धान्तने जनतन्त्रकी स्थापनाके लिअे प्रेरित किया । अमेरिकामे जो कुछ हुआ था, अुसका असर कनाडापर पड़ा और सन १८७० के लगभग कनाडा स्वयंशासित बन गया । ब्रिटिश साम्राज्यके अन्य उपनिवेश भी स्वयंशासित बन गये । १९ वी शताब्दीकी जनराज्यकी घोषणा २० वीं शताब्दीमें भी गूँजने लगी । ब्रिटिश अपनिवेश स्वायत्त बन गये । अिसका असर अन्य पराधीन देशोंकी जनतापर भी हुआ । आधुनिक राजनैतिक विचारोंसे प्रेरित भारतके मनीषियोंने यद्यपि प्रारम्भमें क्रान्तिकी बात नही की थी, फिर भी वे प्रागतिक और प्रातिनिधिक राज्य-व्यवस्था की आवाज बुलन्द करने लगे थे । भारतकी राज्य-व्यवस्था (Polity) कैसे विकसित हुअी, यह अगले व्याख्यानका विषय है । अभी सिर्फ अितना ही कहना है कि २० वी शताब्दीके आरम्भमें यह सिद्धान्त प्रस्थापित हो गया था कि राज्यका स्वरूप कैसा भी क्यों न हो, राज्यकी आत्मा लोक-स्वरूपी होनी चाहिये । यह साफ हो गया कि जनताके राज्यके अुद्देश्य सर्व जन-कल्याणकारी होने चाहिये । जनताका हित याने किसी अेक व्यक्तिका, अेक कुटुम्बका या अेक जातिका कल्याण नहीं । यह माना जाने लगा कि जनताका हित याने राज्यमें रहनेवाले सब लोगोंका हित है । अिस अर्थमें राज्य काम करता था या नहीं, यह अलग बात है; लेकिन तब अिस सिद्धान्तके विरुद्ध खुले-आम कोअी

बोल नहीं सकता था। पहले तो कभी लोगोंने अुसके प्रति अुदासीनता दिखायी, लेकिन धीरे-धीरे अिस अुदासीनतामेंसे, अिस अपेक्षा-वृत्तिमेंसे, यह मान्यता अुभरने लगी कि यही सिद्धान्त ठीक है। १९ वीं शताब्दीमें यह भी स्पष्ट हो गया था कि जनताका राज्य प्रत्यक्ष जनता द्वारा नहीं, अुसके चुने हुअे प्रतिनिधियों द्वारा चलाया जाता है।

१९ वीं शताब्दीमें यह कल्पना बड़े जोरोंसे फैली कि जनताका राज्य अुसके प्रतिनिधियों द्वारा ही चलाया जाअे। अिग्लैंडमें और अन्यत्र भी मतदानका अधिकार विस्तृत हुआ। मतदानका यह अधिकार जन्म, कुटुम्ब, जाति, समुदाय, सम्पत्ति, शिक्षा आदिपर आधारित न रहे, वह वयः प्राप्त सब स्त्री-पुरुषोंको मिले यह बात सर्वत्र मानी जाने लगी थी। अिसके साथ-साथ यह भी बात मानी गयी कि मतदाताओंकी संख्याके हिसाबसे प्रतिनिधि चुने जाअें। व्यापारियों, मजदूरों, विश्वविद्यालयों आदिके विशिष्ट निर्वाचक-संघ होने चाहिये, यह मान्यता धीरे-धीरे कम होने लगी। अुल्टे, निर्वाचक-संघ प्रादेशिक होने चाहिये, यह सिद्धान्त सर्वत्र मान्य हुआ। समाजमें नाना प्रकारके हित-सम्बन्ध रहते हैं। वे केवल धर्म अथवा जातिके ही कारण नहीं होते, व्यवसायके कारण और सामाजिक अुत्पादन व्यवस्थाके कारण भी पैदा होते हैं। अेक जमानेमें यह विचारधारा प्रभावपूर्ण थी कि उद्योग-धंधोंवाले, व्यापारी, मजदूर, उपभोक्ता आदि अनेक प्रकारके हित-सम्बन्धोंको दृष्टिमें रखकर निर्वाचक-संघ बनाअे जाअे। लेकिन अब सब मानने लगे हैं कि प्रादेशिक निर्वाचक-संघोंका होना ही सर्वश्रेष्ठ है। निर्वाचक-संघ अेक प्रतिनिधिका हो या अनेक प्रतिनिधियोंका, यह भी प्रश्न महत्वपूर्ण है। लेकिन अिसपर भी विधान-सभामें सब विचारधाराओंको प्रतिनिधित्व मिल सके, अिसी दृष्टिसे विचार किया जाता है। जनतन्त्रकी दृष्टिसे प्रतिनिधि-व्यवस्था अेक बड़ा प्रश्न है और अुसका प्रभाव राज्यके अुद्देश्योपर पड़ता है। सबका कल्याण यदि राज्यका अुद्देश्य है, तो सबको यह कहनेका अधिकार होना चाहिये कि अुनका कल्याण किस चीजमें है, और अैसा कहनेवाला अुनका प्रतिनिधि शासन व्यवस्थामें जा सकना चाहिये। निर्वाचक संघ यदि अैसा है कि अुसमेंसे अेक प्रतिनिधि ही चुना जा सकता है, तो ५१ प्रतिशत जनताको प्रतिनिधित्व मिलता है तथा ४९

प्रतिशत लोगोंको कुछ नहीं मिलता । और यदि उसमें खड़े होनेवाले अुम्मीदवार दो से अधिक हुअे तब तो अल्पमतको ही प्रतिनिधित्व मिलता है, बहुसंख्यक मतदाताओंको नहीं । मान लीजिए, तीन अुम्मीदवारोंमेंसे अेकको ३४ प्रतिशत मत मिले, दूसरेको ३३ प्रतिशत और तीसरेको भी ३३ प्रतिशत मिले; तो ३४ प्रतिशत मत पानेवाला विजयी हो जाएगा और बाकी ६६ प्रतिशत मतदाताओंको कोअी प्रतिनिधित्व नहीं मिलेगा । एकल संक्रमणीय पद्धति (Single Transferable Vote) या क्रमिक देय पद्धतिसे जबतक सफल अुम्मीदवार को ५१ प्रतिशत मत न मिलें तबतक मतदान करवाया जाअे—यह रिवाज कअी जनतन्त्रोंमें है । अुदाहरणार्थ, फ्रान्समें जो निर्वाचन-व्यवस्था है, उसके अनुसार सब विचार-धाराओंको अधिक-से-अधिक प्रतिनिधित्व मिल सकता है; लेकिन वहाँ कोअी अेक दल निश्चित रूपसे बहुमत-वाला न होनेके कारण समिश्र सरकारें बनानी पड़ती है और जो दल पासगके समान याने अत्यन्त छोटा होता है; फिर भी जो अधिरका काँटा अधर कर सकता है, वह प्रभावशाली बन जाता है, उसका मत निर्णायक हो जाता है । मन्त्रि-मण्डलमें जो दूसरे दल होते हैं, उनको अुसे मनाना पड़ता है । यद्यपि यह बात मान ली गअी है कि आधुनिक राज्य जनतन्त्रात्मक होना चाहिअे; फिर भी लोक-राज्य बननेकी क्रियामें प्रतिनिधि-व्यवस्थाके कारण अुसमें अैसी अनेक मुश्किलें पैदा हो जाती हैं जिनके कारण लोक-राज्यका अुद्देश्य ही विफल हो जाता है ।

यह सब मानते हैं कि समाजमें जो नाना प्रकारके स्वार्थ हैं और विचार-धाराअे हैं, उनको यथायोग्य प्रतिनिधित्व देना अिष्ट है । फिर भी अिस आदर्शको कार्यान्वित करनेमें बहुत-सी दिक्कतें आती हैं । राज्य सामान्य रूपसे जनतान्त्रिक राज्य रहे अिस बातका ध्यान रखा जाना चाहिअे । राजाशाहीमें प्रतिनिधित्वका सवाल ही नहीं रहता । सामन्तशाहीमें प्रतिनिधित्व थोड़ा मिलता है, लेकिन वह वर्गीय दृष्टिकोणसे और विशिष्ट स्वार्थोंसे घिरा रहता है । सर्वहित-दक्षता जनतन्त्रकी आत्मा है, यह बात निश्चित है; लेकिन यह सर्वहित-दक्षता सस्थाओंके माध्यमसे, संकेतों द्वारा साकार होनी चाहिअे । जब हित-सम्बन्ध बदलते हैं, तब संस्थाअें (Institutions) भी बदलती हैं और अुन्हें बदलना पड़ता है । अिस दृष्टिसे यदि हम दुनियामें जनतन्त्रके

अतिहासको देखें तो हमें दिखायी देगा कि मतदानका अधिकार विस्तृत हो रहा है और प्रथम महायुद्धके बाद जो संविधान बने या सुधारें गये, उन सबका ध्येय है—मतदानको सार्वत्रिक बनाना, हर वयः प्राप्त नागरिकको मतधिकार देना। आज लोकशाहीका अर्थ है—सबको मतदानका अधिकार : अवयस्क, पागल, दिवालीये और कैदियोंको छोड़कर सबको। जनतन्त्रको जिन संस्थाओंके द्वारा कार्यान्वित होना है, उसका एक नमूना प्रथम महायुद्धके बाद सामने आया। आम-तौरपर प्रादेशिक निर्वाचक-संघ, सामान्यतया हर निर्वाचक संघसे एक प्रतिनिधिका चुना जाना, विधान सभाके नेतृत्वमें जनतान्त्रिक शासन, विधान सभाका प्रायः चुने हुये सदस्यों द्वारा घटन, कार्यपालिका (Executive) एवं विधान-पालिका (Legislative) से अलग एवं स्वतन्त्र न्याय-पालिका (Judiciary) की व्यवस्था, और साधारण रूपसे विधान सभाके प्रति जिम्मेदार कार्यपालिका एवं सरकार—यह है मध्य बीसवीं सदीके आधुनिक जनतन्त्रका स्वरूप। कुछ संविधानोंमें थोड़ा बहुत फर्क दिखायी देता है, जिसका कारण उन संविधानोंकी अलग-अलग ऐतिहासिक एवं भौगोलिक परिस्थितियाँ हैं। राज्यके सम्बन्धमें सामान्यतया एक कानून (संविधान) रहता है, जो राज्यके अन्य साधारण कानूनोंसे अलग रहता है। आगे उसकी चर्चा हम करेंगे। आज अतना ही कहना था कि आधुनिक राज्य साधारणतया राष्ट्रीय राज्य है और जनतान्त्रिक राज्यका आधार और उसका महत्वपूर्ण अद्देश्य सब नागरिकोंका कल्याण है। एक दृष्टिसे राज्य सबके लिये है, तथापि अतना तो कहा ही जा सकता है कि अधिक-से-अधिक लोगोंका अधिक-से-अधिक कल्याण करना उसका अद्देश्य है। आधुनिक राज्यके संविधानमें राज्यके अद्देश्य स्पष्ट लिखे रहते हैं। यह जो साध्य है—अधिक-से-अधिक लोगोंका अधिक-से-अधिक हित—उसका साधन है राज्य, और इस साधनको प्रयुक्त करनेकी अधिकारी संस्था है सरकार। सरकार नामक संस्थाका यही प्रयोजन है।



३.

भारतीय संविधान—पृष्ठभूमि

पिछले दो व्याख्यानोमें राज्यकी क्यों आवश्यकता है, राज्यके जन्म की क्या कहानी है, उसके अद्देश्य और प्रयोजन क्या हैं—अन बातोंपर विचार किया गया था। मनुष्योंसे समाजकी भावना और समाजसे अनिवार्धतः राज्यकी भावना अथवा कल्पना उत्पन्न होती है, यह भी समझाया गया था। प्राचीन समयमें जो समाज घुमक्कड़ था, वह स्थिर कैसे बना और जो राज्य व्यक्तिगत अथवा समूहगत था, वह प्रादेशिक कैसे बना—यह भी हमने देखा। यह भी दिखाया जा चुका है कि प्रदेशका रूप पहले छोटे शहरका या देहातका-सा था, बादमें वह अधिक व्यापक, अक-भाषी, अक संस्कृतिवाला अवं अक नेतृत्वको माननेवाला हुआ और अुममें ही राष्ट्रीय राज्यके भावका प्रादुर्भाव हुआ। पहले राज्य कुछ-अकके हितोंकी सार-सम्हाल लिया करता था, पर आधुनिक युगमें वह सर्व-हित-दक्ष बन गया है—अैसा जो दावा किया जाता है, उसके कारणोंपर भी हमने विचार किया। जैसे-जैसे राज्यका

क्षेत्र बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उसकी सत्ताका स्वरूप और संगठन भी बढ़ता है—अस पर अब हम थोड़ी चर्चा करेंगे और फिर भारतीय संविधानपर विचार करेंगे। राज्यकी जनतामें जो पराक्रमकी वृत्ति रहती है, उसके कारण उसका विस्तार बढ़ा। ऐसा भी हुआ कि अन्य प्रदेशोंपर जब आक्रमण किये गये तो वहाँसे लूट अथवा चौथायी तो वसूल की गयी, पर शासनकी दृष्टिसे वहाँ स्थिर-व्यवस्थाकी ओर ध्यान नहीं दिया गया। इसके विपरीत यह भी हुआ कि जहाँ आक्रमण किया गया, वहाँ शासन-व्यवस्था भी स्थापित की गयी और अपनी संस्कृतिके ताने-बानेमें उस प्रदेशको गूँथ लिया गया। राज्य कैसा भी हो, किसीका भी हो; उसमें शासन-व्यवस्था रहनी ही चाहिये। शासन-व्यवस्थाको स्थिर, नियमित बनाना एक बड़ी महत्वपूर्ण बात है। शासन-व्यवस्था अप्ट-प्रधान और सोलह कारखाने* के रूपकी भी हो सकती है अथवा नीचे पटवारीसे लेकर अपर मुख्य सचिव तककी शृंखलाके स्वरूपकी भी। जैसे भाषाके लिये व्याकरण जरूरी है, उसी तरह समाजके लिये अथवा राज्यके लिये शासन जरूरी है। समाजके सन्दर्भमें जिसे नीति—नियम कहते हैं, उसीको राज्यके सन्दर्भमें शासन कहा जाता है। यह शासन भी कानूनके माध्यमसे चलाया जाता है। प्राचीन कालसे हमे सर्वत्र यही परिस्थिति दिखायी देती है। शासन अच्छा है या बुरा—असका निर्णय अस बातसे होगा कि वह किस अद्देश्यके लिये प्रयुक्त किया जाता है। एक अर्थसे शासन एक चम्मचके समान है। उससे विष भी दिया जा सकता है और अमृत भी। तानाशाही अथवा राजाशाही शासन कुछ लोगोंको अमृत-सा लगता है, तो बहुतोंको विष-सा। अरिस्टॉटलके अनुसार यदि राजा अच्छे ढंगसे शासन करता है तो वह अच्छा है, वरना वह तानाशाह है। वैसे ही यदि कुछ अच्च वर्गीय लोग अच्छी तरह राज्य चलाते हैं, तो राज्य अत्युत्तम गुणी व्यक्तियोंका शासन है और यदि वे बुरी तरहसे राज्य चलाते हैं तो वह शासन तानाशाही ढंगका है—असमें सिर्फ शासन करनेवाले वर्गके हितोंकी

*महाराष्ट्रमें छत्रपति शिवाजी महाराजने अपने स्वराज्यके संचालनार्थ आठ प्रधानों—मंत्रियोंको नियुक्त किया था और उनमें से हरेकके पास दो-दो विभाग—कारखाने सौंप दिये थे। —अनु०

ही परवाह की जायेगी। उसी प्रकार जनतन्त्र-राज्य यदि लोक-कल्याणके लिखे हो तो अच्छा है; वरना वह भीड़-शासन बन जाता है। राज्यके सम्बन्धमें अरिस्टॉटलकी व्याख्याअे इस प्रकारकी थी। इसका यह अर्थ है कि शासन करनेवाली सत्ता तटस्थ है। जिस प्रकार वह प्रयुक्त होता है, उसीके अनुसार उस राज्यका स्वरूप निश्चित होता है। फिर, यदि राज्य प्रादेशिक और छोटा हो तो हमें उसका कुछ अलग ही अनुभव आयेगा; पर यदि वह बड़ा हो तो उसके सम्बन्धमें हमारे अनुभवका विस्तार भी बढ़ा होगा। राज्य जब छोटा होता है, तब उसके सम्बन्धमें लोगोंका अनुभव अधिक निकटतापूर्ण तथा प्रत्यक्ष होता है। राज्य यदि बड़ा होता है तो राज्य सत्ताकी यह निकटता अथवा प्रत्यक्षता कम अनुभूत होती है। यदि हम अंगीठीके पास बैठें तो हमें सेंक अधिक लगेगी, लेकिन जैसे-जैसे दूर होते जायेंगे वैसे-वैसे सेंक कम होता जायेगा। राज्य जब छोटा रहता है, तो सत्ताका संगठन भी सरल और सीधा होता है। राज्य जब बड़ा होता जाता है तो उसमें अधिक अलङ्घने, अधिक सकीर्णताअे उत्पन्न होती जाती है। विस्तारके अनुरूप यदि शासन-व्यवस्था न बन सकी, तो उस राज्यके लोगोंमें केन्द्रके पासके प्रदेश और केन्द्रसे दूरके प्रदेशका भेद-भाव उत्पन्न हो जाता है। कालान्तरमें ये दूरके प्रदेश पृथक् होकर स्वयं-शासित बन जाते हैं। जैसे अन्य ग्रह और तारे सूर्यसे निकलकर स्वतन्त्र हो गये, कुछ-कुछ ऐसी ही हालत अिन प्रदेशोंकी भी होती है। अितिहास इसका साक्षी है। यदि विस्तार और व्यवस्थामें सुसंगति तथा संतुलन बना रहे तो वह राज्य या तो संयुक्त राज्य बन जाता है या फिर साम्राज्य। तात्पर्य, शासन-व्यवस्थाके अनुसार राज्यका स्वरूप भी आकार ग्रहण करता है। संसारने छोटे राज्य और बड़े राज्य-दोनोंका अनुभव किया है।

यदि हम भारतके राजनैतिक अितिहासका निरीक्षण करें, तो हमें यह ज्ञात होगा कि जिसको आज हम भारत कहते हैं या जिसे हम भारतका सघ-राज्य कहकर पुकारते हैं, उस प्रदेशपर कभी किसी राजसत्ताका अेक-छत्र शासन नहीं था। अशोकका साम्राज्य दक्षिणमें नहीं था। शिवाजीका या अुनके बादके मराठी राज्यका विस्तार सारे भारतमें नहीं हो सका था। अँग्रेजोंके राज्यमें अेक तिहाअी भारत ५६० छोटी-छोटी रियासतोंमें बँटा हुआ था।

यह सच है कि अँग्रेजोंकी परमोच्च (Para-mount) सत्ता सम्पूर्ण भारतपर थी, लेकिन शासन-व्यवस्थाकी दृष्टिसे पूरा भारत अेक राज्य नहीं था। अुसी प्रकार राष्ट्रके आधुनिक अर्थमें भारत पहले कभी अेक राष्ट्र था—यह कहना भी ठीक नहीं है। जैसा कि सरदार पणिकर कहते हैं—“ राजनैतिक दृष्टिसे भारत अेक संकीर्ण चित्र था। ” भारतमें राजनैतिक अेकता पहले कभी नहीं देखी गयी थी। जब देखो तब छोटे-छोटे राज्य आपसमें लड़ते-झगड़ते दिखायी देते थे। अैसा लगता है कि राजाओंकी आपसी लड़ाइयाँ भारतके राजकीय जीवनका अेक मात्र सिद्धान्त था। हमारे यहाँ जो आसेतु हिमाचल अेकता पहलेसे दिखायी देती है, वह सांस्कृतिक अेकता है। अुस अेकताका राजनीतिसे या तत्सम्बन्धी अुठापटकसे कोअी सम्बन्ध नहीं था। अुत्तरमें कुछ भी होता रहे, अुसकी जानकारी दक्खिणकी ओर देरसे पहुँचती थी और अुत्तरकी घटनाओंका परिणाम भी दक्खिणमें तुरन्त नहीं होता था। संस्कृति और राज्यमें कतअी सम्बन्ध नहीं रहता, यह कहना गलत है और “ राजा कालस्य कारणम् ”—यह कथन भी सच है; पर भारतमें अनेक राजा या राज्य थे, अुनमें संस्कृतिके अलावा और किसी ढंगके अपनत्वकी भावना नहीं थी। कुछ राजाओंका शासन विशाल प्रदेशोंपर चलता था, लेकिन सम्पूर्ण भारतमें जिसका अधिराज्य या अधिनायकत्व हो अैसे सम्राटकी बात अितिहासमें नहीं आती। यह भावना जरूर थी कि धर्म-संस्कृतिकी रक्षा की जानी चाहिये, लेकिन अिस भावनाका राजनैतिक स्वरूप कही पर भी अुभरकर नहीं दिखायी दिया। राजपूत अितिहासके समय अुस स्वरूपके कुछ दर्शन हुअे थे। शिवाजी महाराजकी ‘ हिन्दवी स्वराज्य ’ की कल्पनामें यह भावना कूट-कूटकर भरी हुअी थी। पर तब भी हिन्दू हिन्दूके विरुद्ध लड़ा करता था। अिसका अर्थ यह होता है कि हमारी संस्कृति अेक होनेपर भी अुसका राजनैतिक स्वरूप लोगोंकी समझमें नहीं आया था, या यह कल्पना रूढ़ नहीं थी कि सांस्कृतिक अेकता और अेक राज्य अविभाज्य है। यूँ तो भारतमें गणराज्य थे, जनपद-राज्य थे, बड़े विस्तारवाले राज्य थे, और चन्द्रगुप्त तथा अशोकके साम्राज्य थे, मराठोंका स्वराज्य या साम्राज्य भी था; लेकिन जो अितिहास हमारे सामने है, अुसमें हम भौगोलिक दृष्टिसे जिसे आज भारत कहते हैं या विभाजनके पहले

जिसको भारतके नामसे पुकारा जाता था, उस क्षेत्रमें कभी भी एक सूत्रीय राज्य या साम्राज्य नहीं था। एक कानून, एक सिक्का, एक झण्डा, एक राष्ट्रगीत तो कभी था ही नहीं। १४ प्रमुख भाषाओं और लगभग २२५ उप-भाषाओं, हिन्दू, मुसलमान और आसामी—ये तीन मुख्य धर्म और अनेक सम्प्रदाय—यही रूप था हमारे देशका। जो एक था, वह था हमारा सांस्कृतिक जीवन; पर उसमें भी परिवर्तन हो रहे थे। अनेक विदेशियों ने हम पर आक्रमण किए, अनेक संस्कृतियों से हमारा सम्बन्ध आया, कभी संघर्ष हुआ और अनेक सबके कारण भारतीय संस्कृतिका रूप नित्य नूतन बन रहा था। फिर भी उसका सनातनत्व अखण्ड रहा और वह आज भी अखण्ड है। १६ वीं तथा १७ वीं शताब्दी में पोर्तुगीज, फ्रेंच, डच तथा अंग्रेज लोग व्यापार के बहाने यहाँ आये, स्वर्ण के लालच से आये और कम या अधिक प्रमाण में सत्ताधीश बन बैठे। यद्यपि उनकी संस्कृति एक थी; लेकिन वे आपस में लड़े। पलासी की १७५७ की लड़ाई के बाद भारत में मुगलाजी और मराठाशाही के साथ-साथ अंग्रेजी राज्य शुरू हो गया। 'खुलक खुदाका, मुल्क वादशाहका और अमल कम्पनी सरकारका'—यह घोषणा तत्कालीन युग की घोषणा बन बैठी। मुगल राज्य को मराठों ने हिला दिया था और मराठों को अब्दाली ने। मराठे फिर से सम्भले, परन्तु १८ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में अंग्रेजी राज्य ने उनको एकदम खोखला बना दिया। अतना ही नहीं, १८०३ में जो 'वसोई की सन्धि' हुई, उसने मानो अंग्रेजी साम्राज्य का तोरण बाँध दिया। १८ वीं शताब्दी के अन्त में बंगाल की सूबेदारी, मद्रास के बन्दरगाह और गोदावरी, साष्टी और बम्बई के बन्दरों का विशाल व्यापार—अनेक सब चीजों का स्वरूप स्पष्ट हो गया था। ये सब अंग्रेजों के हाथ में थे। तराजू से प्रारंभ करके, कूटनीतिपूर्वक तलवार चलाकर तथा उसका आतंक दिखाकर राजकीय साम्राज्य की स्थापना कर ली गयी थी। जिस प्रकार अंग्रेजों का राज्य राजनैतिक अर्थ में शुरू हो गया था। उनके कानून आये, उनका सिक्का आया; देश के अन्दर प्रभुत्व और बाहरी जगत में मान्यता के कवच—कुण्डल उस राज्य पर झलकने लगे।

यह सब कैसे हुआ—जिस अलङ्कार के अन्दर जो राजकीय भाव निहित है, और उस भाव की जो तात्त्विक भूमिका है, उसे यदि हम न समझ सकें तो

हमारे लिये भारतीय संविधानको समझना कठिन होगा। भारतीय संविधान कोरी स्लेटपर नहीं लिखा गया। उसकी हर कलममें, हर शब्दमें अतिहास और अनुभव भरा हुआ है। जैसे कि पीछे कहा गया है, पहले भारतमें छोटे अथवा बड़े राज्य थे, लेकिन देशमें राजकीय अकेलापन नहीं थी, अथवा सम्पूर्ण भारत राजनैतिक दृष्टिसे एक ही नीतिपर नहीं चलता था। अंसी हालतमें हमारे देशमें राज्यकी प्रेरक शक्ति और आध्यात्मिक प्रेरणा भी बहुत कम थी। उस समय हमारे नागरिकोंका मानसिक गठन इस प्रकार था—देशभक्तिकी जगह अच्छे नागरिकोंके मनमें स्वामिभक्ति बसा करती थी और देश-कार्यके बदलेमें स्वामिकार्य। व्यक्तिको संगठनमें, समाजमें विलीनकर फिर उसमें कर्तृत्व-शक्ति पैदा करनेकी कल्पना तब नहीं थी। धर्मके लिये मर मिटना चाहिये, यह भावना राजपूतोंमें और मराठोंमें अवश्य दिखायी दी; लेकिन वे उसी हृद तक एक-दूसरेका साथ देते थे, और फिर उनमें व्यक्तिगत द्वेष प्रबल हो उठता था—यह ऐतिहासिक सत्य है। भारतमें अतिहासने आज जो स्वरूप धारण किया है, उसके कभी कारण हैं। यह सच है कि अंग्रेजोंके शासनसे पहले हमारे देशमें जितनी विचित्रताएँ थी, वे अब कम हो गयी हैं। अंग्रेजोंकी सत्ता भारतके बहुत बड़े प्रदेशमें फैली हुयी थी। उनके शासनकी शिस्त, उनके राजनैतिक सिद्धान्त और उनकी संस्कृतिके रूप-रंग और गठन—इन सबका असर आजके भारतपर पड़ा है। जब अंग्रेजोंके राज्यमें विभिन्न भाषाएँ बोलनेवाले प्रान्त एक ही प्रकारकी शासन-पद्धतिसे शासित हुये, तो जैसे एक ही मापसे तरह-तरहके अनाजोंको मापा जाये, लगभग वैसे ही कुछ हुआ। असंगतियोंमें सुसंगति अथवा “अविभक्तं विभक्तेषु” का वैदिक सिद्धान्त एक अर्थसे व्यवहारमें आता दिखायी देने लगा। क्योंकि सब एक शासन व्यवस्थाके नीचे आ गये थे और उनमें राज्य-विषयक आपसी झगड़े खतम हो गये थे; इसलिये शासनकी ओर देखनेका एक नया दृष्टिकोण धीरे-धीरे पैदा हुआ, राजनीतिको एक नया मोड़ मिला। शासन भी अब व्यक्तिगत नहीं रह गया था। जब राज्य कम्पनी सरकारका था, तब भी कोअी व्यक्ति राज्य नहीं करता था। इसका परिणाम प्रजाके विचारोंपर होना अनिवार्य था। प्रजा व्यक्तिगत ढंगको छोड़कर प्रादेशिक, धार्मिक आदि दृष्टिकोणोंसे विचार करने लगी। अब इसका

भरोसा नहीं था कि एक राजाके जानेपर उसके लड़केको गद्दी मिलेगी। कम्पनीके राज्यमें एक अधिकारी जाता था, दूसरा आता था; लेकिन संगठन कायम रहता था। शासन व्यक्तिनिरपेक्ष था। भारतीयोंको यह नया अनुभव मिल रहा था। कम्पनीका राज-काज अंग्लैडकी पार्लियामेण्टमें बने कानूनोंके अनुसार चलता था। उसमें जैसे-जैसे परिवर्तन होते गये, राजनैतिक दृष्टिसे भारतमें भी वैसे-वैसे वातावरण बनता गया। कम्पनीका राज शुरू हो जानेके बादसे भारतीय राज्य अुत्क्रान्तिकी राहसे आधुनिकताकी ओर कदम बढ़ाने लगा। जब-जब पार्लियामेण्ट कानूनोंमें परिवर्तन किया करती थी, तब-तब वे परिवर्तन, मैकालेके शब्दोंमें, अतिहास और राजनीति शास्त्रको ध्यानमें रखकर ही किये जाते थे। उस समय 'भूमि स्थिर है कि नहीं यह देखकर कदम रखो'—वाली मैकाले-प्रणीत नीति चलती थी और १९ वीं शताब्दीके अन्त तक वह चलती रही। यद्यपि कम्पनीका काम पहले सिर्फ व्यापारसे सम्बंधित था, तो भी इस बातका उसे प्रारम्भसे ही अहसास था कि एक दिन सत्ता हाथमें लेनी पड़ेगी। १७७३ में या १७९३ में जो कानून बने, वे बढ़ते हुअे शरीरके लिअे बदलते हुअे कोटोंके समान थे। १८३३ के कानून द्वारा कम्पनीकी सत्ताके जो बिखरे हुअे केन्द्र थे, उनमें एक सूत्र-बद्धता लायी गयी और राजनैतिक दृष्टिसे केन्द्रीयकरणके दर्शन होने लगे। गवर्नर-जनरल और उसकी कौन्सिल, कम्पनीके अधीन सब प्रदेशोंके लिअ कानून बनाने लगे। कौन्सिलके दो प्रकारके रूप दिखायी देने लगे। एक कानून बनानेवाला और दूसरा उनपर अमल करनेवाला। १८५३ के कानूनसे दोनों प्रकारोंके बीचका यह अन्तर और भी स्पष्ट हो गया और १८५८ में गदरके बाद जो शासन-व्यवस्था कायम की गयी, उसमें तो ऐसा लगता है कि उस दृष्टिसे आमूलाग्र परिवर्तन कर दिअे गये थे। कम्पनीका राज खतम हो गया और भारत-सरकार (Govt. of India) नामकी नयी शासन-व्यवस्थाका सर्जन हुआ। १८६१ का जो कौन्सिल सम्बन्धी कानून बना, उसके अनुसार कानूनन प्रजाके प्रतिनिधि शासन-व्यवस्थामें रहने चाहिये—यह बात मान ली गयी और उन प्रतिनिधियोंको नियुक्त किया जाने लगा। उनमें आधे सरकारी थे, पर आधे प्रतिनिधि गैर-सरकारी भी थे। कुछ लोगोंने इन कौन्सिलोंको दर-बारकी अपुमा दी थी। अंग्रेजों द्वारा यह कौन्सिल असिलिये बनायी गयी थी कि

असन्तोष भड़क उठने, विद्रोह हो जानेसे पहले उसका स्वरूप ख्यालमें आ जाये। कौन्सिल कानून बनानेवाली संस्था है, वह विधान निर्मात्री है, यह बात स्पष्ट हो गयी। कानून कौन्सिलोंके माध्यमसे ही स्वीकृत किये जायें, इस बातको मान्यता मिल गयी थी। जनताकी कोयी माँग न होने पर भी यह रास्ता अपनाया गया। इसका अर्थ यही हुआ कि शासन-व्यवस्थापर अँग्रेजोंके राजनीति-शास्त्रके सिद्धान्तोंका प्रभाव पड़ने लगा। १८५८ के बाद भारतमें ऐसा ही राज्य बना, और साथ ही यह भी निश्चित हो गया कि वह कुछ सिद्धान्तोंके अनुसार चलाया जायेगा।

शिक्षाके कारण देशमें जागृति फैली। पाश्चात्य देशों सम्बन्धी जानकारीयें मिलने लगीं। जनताने यह महसूस करना शुरू कर दिया कि आधुनिक राज्य जन-प्रतिनिधियों द्वारा संचालित राज्य होता है। राष्ट्रीय कांग्रेसकी स्थापना हुयी। अँग्रेजी राज्य व्यक्तिगत नहीं था, इसलिये प्रजाके कामोंको भी अपरिहार्य रूपसे सामूहिक होना पड़ा। सब तरफ राजकीय अधिकारोंके सम्बन्धमें जागृति फैलने लगी। संक्षेपमें राजनीति संगठित स्वरूपकी हो गयी। भारतकी राजनैतिक विचार धाराये अँग्रेजी राजनैतिक सिद्धान्तोंसे अुद्भूत हुयीं और उनके अतिहास अेव राजनीतिक अनुभवोंके सहारे वे फलने-फूलने लगीं। राजनैतिक विचारधाराओंकी दृष्टिसे भी १८५८ से भारतमें एक नये युगकी शुरुआत हुयी। जो चन्द्रवंशी, सूर्यवंशी होनेका दम भरते थे, वे राजा भी ठंडे हो गये। अुन्हें यह अनुभव हुआ कि अब अुन्हें भी किसीके अिशासनोंपर चलना पड़ता है। भारतकी परिस्थितिमें जो परिवर्तन हो रहा था, उसका असर अुनपर भी पड़ने लगा। भारतीय राजनीतिको और भारतीय जनताकी आकांक्षाओंको एक निश्चित दिशा प्राप्त हुयी। यद्यपि यह अुद्देश्य स्पष्ट-रूपेण १८६१ के विधेयकमें नहीं था, फिर भी उसके जरिये एक नयी दिशाकी ओर कदम बढ़े—यह बात निश्चित है। इस विधेयकका अुद्देश्य, भारतमें अिग्लैंडके ढंगका संसदीय शासन स्थापित करना नहीं है, यह बात लॉर्ड डफरिनने स्पष्ट कर दी थी। लेकिन इसके तीस साल पहले मेकालेने साफ कहा था कि आधुनिक विद्या और आधुनिक राज्य-व्यवस्थाका ज्ञान प्राप्तकर जब भारतीय जनता हमें “जाओ” कहे तो वह दिन हमारे लिये अभिमानका दिन होना चाहिये। इस कथनसे यह बात स्पष्ट हो

जाती है कि कुछ अँग्रेजोंके मनमें मेकालेके समान विचार थे और वे प्रकट भी किअे जाते थे। अनुपर पार्लियामेण्टमें चर्चाअें हुआ करती थीं, लेख लिखे जाते थे। अिन सब चीजोंका परिणाम यह हो रहा था कि भारतके भविष्यका ताना-वाना अँग्रेजी राजनैतिक सिद्धान्तोकी सहायतासे तैयार हो रहा था। कौन्सिलके सदस्योंकी यद्यपि नियुक्तियाँ ही हुआ करती थी, पर अुसके पहले कअी सस्थाअोसे पूछ-ताछ कर ली जाती थी। अिसीमें जन-प्रतिनिधित्वकी जड़ें निहित थी। १८९२ के कौंसिल-विधेयकमें प्रतिनिधि-तत्वको मान लिया गया। मोर्ले-मिण्टोके मुझावोंपर आधारित १९०९ के विधेयकसे यह प्रतिनिधित्व और स्पष्ट अेव व्यापक बन गया। फलस्वरूप कौंसिलके काम-काजका संतुलन बदल गया। जनताकी अिच्छाओंका प्रभाव बढ़ने लगा। अपने प्रतिनिधियोंके जरअे अपने दुख, अपनी आकांक्षा और अपनी माँगोंको पेश करनेका पाठ जनताको मिला। प्रतिनिधि भी अिन बातोंपर ध्यान देना अपना प्रथम कर्तव्य समझने लगे। कुछ प्रान्तीय कौंसिलोमें गैर-सरकारी सभासदोंका बहुमत हो गया। हर नया कदम अुठाते समय सरकार अपने निवेदनमें कहा करती थी कि वह जो कुछ कर रही है, वह अपने शासनकी सुविधाके लअे करती है, जनतन्त्रके लअे या प्रातिनिधिक-राज्य-व्यवस्था कायम करनेके अुद्देश्यसे नहीं। तथापि, अँग्रेजोंको जो कुछ करना पड़ा, वह काँग्रेस और अन्य राजनैतिक संस्थाओंके आन्दोलनके कारण था, यह बात भी स्पष्ट थी। मोर्लेने कहा था कि अुन्हें अँग्रेजी ढंगकी राजनैतिक संस्थाअें भारतमें आज नहीं तो कल स्थापित करनी पड़ेगी, भारतकी जनताके बजाय ब्रिटेनके मतदाता ही अुन्हें अैसा करनेके लअे मजबूर करेंगे।

१९०९ के कानून द्वारा लगभग ३०,००० लोगोंको मतदानका अधिकार मिला। यद्यपि प्रत्यक्ष जिम्मेदारी अेवं सत्ता नहीं मिली थी; लेकिन प्रतिनिधि जो आलोचनाअे किया करते थे, अुसका असर होता था। शासनके कारो-बारका रुख धीरे-धीरे जनताकी ओर होने लगा। स्वतन्त्र सदस्य कौंसिलोंमें जो प्रस्ताव रखते अुसपर चर्चा होती, अुसकी रिपोर्ट अखबारोंमें छपती और जनताको राजनैतिक शिक्का मिलती। जनताकी जो अपेक्षाअें थी और जो कुछ अुन्हें मिलता था, अुनमें चूँकि बहुत अधिक अन्तर रहा करता था, अिसलअे असन्तोष बढ़ने लगा और अुससे आन्दोलन पैदा होने लगे। तथापि १९०९ के

बाद अैसे कुछ लोग हमारे बीचमें पैदा हो गये थे जो आधुनिक अेवं प्रातिनिधिक राज्यका काम कैसे चलता है, अिस बातको और अैसे राज्यकी प्रक्रियाको समझने लगे थे। अुनकी आलोचनाओंका अुत्तर सरकारको विवश होकर देना पड़ता था। कभी-कभी अुनकी बातें अुसे माननी पड़ती थीं। अिन सबके कारण भारतीय राजनीतिकी दिशा निश्चित हो गयी। १९१४ के विश्व-महायुद्धसे जो घोषणाअें निकलीं, जिन तत्वोंका जोर-शोरसे प्रतिपादन किया गया, अुन सबका परिणाम यह हुआ कि भारतीय जनताके राजनैतिक विचार और अुसकी आशाअें तीव्रतासे बढ़ चली। भारतकी राजनैतिक परिस्थितिकी जाँच-पड़ताल करनेके लिये १९१७ में मॉण्टेग्यु-चेम्सफोर्डकी नियुक्ति हुई और अुन्होंने भारतकी राजनैतिक परिस्थितिका अध्ययन करके अपनी रिपोर्ट पेश की। वह रिपोर्ट अिस बातपर आधारित थी कि धीरे धीरे साम्राज्यके अन्तर्गत भारतमें अुत्तरदायित्वपूर्ण राज्यकी स्थापना की जाअें। बादमें १९१९ का विधेयक आया जो १९३५ तक चला। अुसके द्वारा यद्यपि प्रत्यक्ष जिम्मेदारी, प्रत्यक्ष सत्ता नहीं कायम हुई थी; फिर भी शासनका कुछ काम लोक-प्रतिनिधियोंसे नियुक्त मन्त्रियों द्वारा होने लगा। अुन्हे शासनका कारोबार प्रत्यक्ष रूपसे करनेका सीमित अवसर प्राप्त हुआ। १९१९ के विधेयकके बाद अँग्रेजोंके हाथमें अनियन्त्रित सत्ता रह नहीं सकती थी, और अिसलिये अुसके बाद स्वाभाविक रूपसे सत्ता किस क्रमसे और कैसे छोड़ी जाअें, अिस प्रश्नको महत्व प्राप्त हो गया। १९१९ के कानूनने भारतीय राजनीतिके ध्येयको अधिक सुनिश्चित बना दिया। जो कहा करते थे कि भारतीयोंको कुछ भी मत दो, वे भी अब कहने लगे कि 'दो, लेकिन धीरे-धीरे दो।' सुराज्य अच्छी चीज है पर स्वराज्य अुससे भी अच्छी चीज है और स्वराज्यका स्थान सुराज्य नहीं ले सकता—अिस राजनैतिक सिद्धान्तको सर्वत्र मान्यता मिल गयी। योग्यता देखकर जिम्मेवारी दी जानी चाहिये, अिस तर्कके जवाबमें जब कहा जाता था कि प्रत्यक्ष शासन करनेके अनुभवसे ही जिम्मेवारीका भाव पैदा होता है तो अँग्रेजोंके पक्षपाती निरुत्तर हो जाते थे। अुत्तरदायी सरकार याने वह सरकार जो जन-प्रतिनिधियोंके प्रति जिम्मेदार हो। अर्थात् जो सत्तापर है, अुनके काम यदि

पसन्द न आये तो उन्हें हटानेका अधिकार जनताको या अन्के प्रति-निधियोंको रहे। अस अधिकारका अपुयोग जो सत्तारूढ़ है, अन्के खिलाफ अविश्वासका प्रस्ताव लाकर या फिर अस दलको आम चुनावोंमें हराकर किया जा सकता है। तदनतर जो चुने जावेंगे, वे अधिका-रारूढ़ होंगे। असका अर्थ यह कि प्रायः सबने अंग्लैंडके संसदीय जनतन्त्रको ध्येयके रूपमें स्वीकार कर लिया था। मॉण्टफोर्ड रिपोर्टमें राजनैतिक दलोंके बारेमें चर्चा नहीं है। पर, दलोंका अस्तित्व संसदीय लोकशाहीका अनिवार्य लक्षण है। जो चुनावमें सफल होते हैं, अन्हें जनतासे पहले यह कहना पड़ता है कि वे चुन कर आनेपर क्या काम करेगे। और यह कहना व्यक्तिगत नहीं हो सकता। यह पार्टीके जरिअे ही कहा जा सकता है। ब्रिटिश राजनीतिका अध्ययन करनेवाले भारतमें अनेक व्यक्ति थे। काँग्रेस और अन्य दलोंका निर्माण अससे पहले ही हो चुका था। अन्के कार्यक्रम, कमसे कम अन्के आदर्श, देशके सामने पेश हो चुके थे। तात्पर्य यह कि दल ही संसदीय लोकशाहीका जीवन है, अस बातका ज्ञान देशको हो चुका था। हमारे राजनैतिक जीवनमें यह बात दृढ़ हो चुकी थी। मॉण्टफोर्ड रिपोर्टमें कहा गया है कि यदि अत्तरदायी सरकारकी योजनाको सफल होना है तो जिससे राष्ट्रका हित हो, असके प्रति प्रत्येककी निष्ठा समर्पित होनी चाहिये और बहुमतकी बात शान्तिपूर्वक मानी जानी चाहिये। बहुमतको चाहिये कि वह सहिष्णु हो और अल्पमतको चाहिये कि वह धीरज न खोअे, जल्दबाजी न करे। असका अर्थ यह है कि व्यक्तिगत स्वार्थकी अपेक्षा सार्वजनिक स्वार्थ अधिक महत्वपूर्ण अेवं श्रेष्ठ है, अस बातको सभी मान लें। जिम्मेवार सरकारकी योजनामें जनताके अधिकारोंकी रक्षा प्रमुख बात रहती है।

जिम्मेवार सरकारकी अस योजनाको सफल बनानेके लिअे आवश्यक संस्थाओं और परम्पराओंका निर्माण करनेकी दृष्टिसे यह जरूरी था कि बहुतसी बातें की जाअें। भारतकी परिस्थिति, असकी गरीबी, असका अज्ञान, असमें फैले हुअे जातिभेद आदिको ध्यानमें रखते हुअे प्रगतिशील अेवं जनतन्त्राभि-मुख राज्यके लिअे आवश्यक मानसिक भूमि अेवं राजनैतिक आदतोंको पैदा करना अत्यन्त महत्वका काम था। जब तक तैरना न आअे तब तक

पानीमें मत घुसो—यह सिद्धान्त अद्वारदशितापूर्ण है; कारण, पानीमें घुसनेके बाद ही तैरना आता है। ठीक उसी तरह जिम्मेवार सरकारका संचालन करते-करते ही उसके संचालनकी योग्यता प्राप्त होती है, उसके लिये आवश्यक मानसिक दृष्टिकोण तैयार होता है। पहले महायुद्धके बाद अंग्रेजोंका राज्य नहीं चाहिये यह भावना प्रबल हो गयी थी और उसी हदतक हममें राजनीतिक अकेलापन थी। लेकिन यह परिस्थिति शहरों और सुशिक्षित लोगोंमें ही लक्षित होती थी। सर्वसाधारण जनता एवं ग्रामीण अलगाववादी थे—जो है उसीको ठीक माननेवाले, उसीमें सन्तोष करने वाले। कष्ट चुभ रहा था, सुख मिल नहीं रहा था, पर विद्रोह करना चाहिये, यह मनोवृत्ति पैदा नहीं हो पायी थी। फिर भी अपूरके वर्गका असन्तोष निचले वर्गोंमें अतृप्त रह गया था। मॉण्टेग्यू रिपोर्टमें कहा गया था—“अब यह बात साफ-साफ कहनेका समय आ गया है कि लाचारी, शरण जानेकी वृत्तिका लोप हो; आत्मविश्वास एवं पराक्रमकी भावना प्रबल बने; जातीय एवं सम्प्रदायगत भावनाओंका स्थान राष्ट्रीय भावना ग्रहण करे।” १९१९ के विधेयकसे दो राजनैतिक प्रवाहोंका अद्गम हुआ। एक, कुछ अंशोंमें राजनीतिमें यानी शासनमें जिम्मेवारीका तत्त्व दाखिल हुआ और दूसरे, यह साफ-साफ दिखायी देने लगा कि केन्द्रीय सरकारका गठन सांघिक ढंगपर होगा। १९१९ से पहिले केन्द्रीय शासन प्रमुख बात थी और वह जिस प्रमाणमें सत्ता देता (डेलीगेशन ऑफ पावर करता), उसी प्रमाणमें प्रान्तीय सरकारोंको कारोबारमें हिस्सा मिला करता था। १९१९के विधेयकके बाद प्रान्तोंको कानून द्वारा विशिष्ट अधिकार सौंप दिये गये और शेष सत्ता केन्द्रीय सरकारके हाथोंमें रखी गयी। लेकिन साधारण रूपसे देखरेख, नियन्त्रण और मार्गदर्शनका काम केन्द्रीय सरकारके हाथोंमें ही रहा। प्रान्तोंको किन-किन साधनोंसे आमदनी मिलेगी, यह भी निश्चित कर दिया गया। सारांश, संयुक्त राज्यके दोनों लक्षण—अधिकारों तथा आमदनीका बँटवारा, इस विधेयकमें दिखायी देते थे। मतदाताओंकी संख्या तीस हजारसे साठ लाख तक पहुँच गयी। विधान सभामें सामान्यतया चुने गये प्रतिनिधियोंकी संख्या ३०४ हो गयी। केन्द्रीय धारा सभामें १४५ मेसे १०४ प्रतिनिधि चुने जानेवाले हो गये। पर मतदानका अधिकार सीमित था। जो ६० रुपए लगान

देते थे या जो आय-कर भरते थे, सिर्फ वे ही धारा सभाके मतदाता बने। पहला चुनाव १९२१ में हुआ। उसमें देशकी प्रमुख राजनैतिक पार्टी कांग्रेसने हिस्सा नहीं लिया। कांग्रेसने चुनावोमे उसके बादसे भाग लेना शुरू किया। १९३५ का विधेयक जब बना तब तक याने १९२१ से १९३७ तक, अिस विधेयकके द्वारा जो परिवर्तन हुअे वे अेकदम तुच्छ नही थे। हममेंसे कअियोंको राजनीतिका, विशेषकर शासनका, अनुभव प्राप्त हुआ। कौंसिल राजनीतिकी चाहे कितनी भी निंदा क्यों न की गयी हो, लेकिन वह हमारे राजनैतिक जीवनका अेक भाग बन बैठी थी। अिससे महत्वाकांक्षाको अेक प्रकारका नया मोड़ मिला। हमारे अनुभवका क्षेत्र बढ़ा। साथ ही अधूरी जिम्मेदारीके कारण हमारे मनमे प्रक्षोभ जाग अठता था और विफलताकी भावना बढ़ती थी। परिणामस्वरूप, तुरन्त सम्पूर्ण सत्ता चाहिअे, यह माँग प्रबल बनी। अिस युगमें अर्थात् द्वैध शासन कालमें चार बार निर्वाचन हुअे, मतदान करनेवाले लोगोंकी संख्या बढ़ी, ९३ लोग मन्त्री बने, १५० व्यक्ति गवर्नरोंकी कौन्सिलोंके सदस्य बनाअे गअे और १००० से ज्यादाह लोगोंको केन्द्रीय अेवं प्रान्तीय धारा सभाओंका अनुभव प्राप्त हुआ। विधान-सभामें सभापतिकी बात मानकर चलना चाहिअे, कामकाज चलानेकी परम्पराका आदर किया जाना चाहिअे—आदि बातें मोटे रूपसे मानी जाने लगी। विरोध किया जाता था लेकिन असुमे भौडापन या अशिष्टता नही रहती थी। अिस कालमें अनेक प्रकारके सामाजिक कानून पास किअे गअे। देशमें यह माँग जरूर प्रबल हो रही थी कि हमारे हाथमें अधिक सत्ता आअे; लेकिन यह प्रारम्भिक मत कि १९१९ के विधेयककी योजना अेकदम त्याज्य है, अब खतम हो गया था। देशमें असहयोगका वातावरण था। सत्याग्रहकी लहरोपर लहरें अुठ रही थी; तथापि जिसको संसदीय जीवन कहते हैं, वह शुरू हो गया था। विधान-सभाओंमें बहस सुननेके लिअे बड़ी संख्यामें लोग जाया करते थे, यही अिसका प्रमाण है।

लेकिन अनुभव यह हो रहा था कि भारतीयोंमे नअी-नअी कल्पनाओंका पहले तो फौरन स्वागत किया जाता है, पर अुनकी नवीनता खतम होते ही और किसी नवीनकी माँग अुभरने लगती है। अिस कालमें सयानी-बुर्जुगियत या कुशल राजनीतिज्ञताके दर्शन प्रायः नहीं हुअे। लेकिन यह कहना भी ठीक

नहीं कि १९२१ से लेकर १९३५ का कानून बनने तक कोअी प्रगति ही नहीं हुई। जिम्मेवार शासन-व्यवस्थाकी ओर अनेक कदम अठाये जा रहे थे, परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करने पर ही यह बात समझमें आ सकेगी; फिर भी जनतामें असन्तोष बढ़ा और दूसरे प्रगतिशील संविधानकी माँग बढ़े जोरोसे होने लगी। अस वजहसे साअिमन कमीशन आया और असने अपनी रिपोर्ट पेश की। वह १९३० मे प्रकाशित हुई। उसके बाद गोलमेज परिषदें हुईं। वहाँ जो विचार-विनिमय हुआ, असका अनुभव १९३५ के कानूनमें आया। १९३० से लेकर १९३४ तक देशमें जो राजनैतिक आन्दोलन चले, उनके कारण साअिमन कमीशनके सुझाव पिछड़ गये। संयुक्त-राज्यकी दृष्टिसे साअिमन कमीशनने कुछ सुझाव दिये थे, लेकिन १९३५ के विधेयकमे वे दूसरे रूपमें सामने आये। प्रान्तीय सरकारें असके द्वारा अेक सीमा तक स्वायत्त बना दी गयी। केन्द्रीय शासनमें भी परिवर्तन किये गये, लेकिन सत्ता हस्तान्तरित नहीं की गयी। विधेयकमें यह योजना थी कि जब देशी रियासतों और संघराज्य सम्बन्धी सम्पूर्ण योजनापर अमल हो तो सत्ता हस्तांतरित की जाये। १९३५ के विधेयकके अनुसार पहला चुनाव १९३७ में हुआ। जन-प्रतिनिधियोंमें मन्त्रिमण्डल चुने गये। ७ प्रान्तोंमें कॉंग्रेसी मन्त्रिमण्डल अधिकारारूढ़ हुअे। प्रान्तोंमें अुत्तरदायी शासन व्यवस्था शुरू हो गयी। लेकिन १९३५ के विधेयकपर अस समय जो आलोचनाये की गयी, वे भी अुचित थी।

यहाँ हम जिस वातपर विचार कर रहे हैं, वह है—अुत्तरदायी राज्य कैसे-कैसे मूर्त स्वरूप धारण कर रहा था। जो सत्ता हमें मिली थी वह, कुछ अशोंमें ही क्यों न हो, वास्तविक थी; अिसीलिअे हमारे यहाँ साम्प्रदायिक राजनीतिको बढ़ावा मिला। अस समय मन्त्रिमण्डल जिस तरह काम कर रहे थे, यदि असका हम विचार करें तो ज्ञात होगा कि हमारे जो अन्दाजे थे वे अनुभवोके आगे पिछड़ रहे थे। जनताकी आकांक्षाअें बढ़ रही थी। थोड़ा-थोड़ा देनेसे भूख मिटती नही, बढ़ती है—अिसका अनुभव आ रहा था। चूँकि केन्द्रीय सत्ता जनमतके प्रति अुत्तरदायी नहीं थी, अिसलिअे प्रान्तीय सरकारें अधिक लोक-हितकारी काम नहीं कर पाती थीं। संघराज्यकी योजना मुसलमानोंको पसन्द नहीं थी;

असलिअे १९३५ के विधेयकमें परिवर्तन करना जरूरी है, यह महसूस किया जाने लगा था। प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ कूपलैंडकी राय थी कि प्रान्तिक मन्त्रिमण्डल प्रातिनिधिक शासनको अुत्तम ढंगसे चला सकते हैं। असलिअे योग्यताका अब सवाल नहीं रहा था। मुसलमानोंकी अड़गेबाज और अराष्ट्रीय नीति सत्ताके हस्तान्तरणके मार्गमें अड़चन थी। ब्रिटिश राजनीतिज्ञ अपने स्वार्थकी दृष्टिसे अुस नीतिका अुपयोग कर लिया करते थे। काँग्रेस दलके कड़े अनुशासनकी कटु आलोचनाअें हुआ करती थीं। लेकिन स्वतन्त्रताके प्रयत्न ठीकसे चलते रहें, अिसके लिअें अैसा अनुशासन आवश्यक था। शायद अंगलैंडके जनतन्त्रके अनुभवोंसे तुलना करनेपर जनतान्त्रिक परम्पराकी दृष्टिसे यह अुचित न जंचे। कुछ अंशों तक यह भी ठीक है कि अन्य दलोंके साथ जो सहिष्णुता दिखायी जानी चाहिअे थी, अुसे काँग्रेस तब नहीं दिखा पायी और कुछ हद तक अुसका प्रशासन केन्द्रित ढंगका हो गया था। लेकिन यह सब अनिवार्य था। स्वतन्त्रता जब तक न मिले तब तक जनतन्त्रके सब पथ्योंका ध्यान रखना न तो सम्भव था और न अिष्ट ही। काँग्रेस स्वतन्त्रताके ध्येयके प्रति निष्ठावान थी, कानूनके प्रति नहीं। सारे काँग्रेसी मन्त्रिमण्डल हाजी-कमान्डके नियन्त्रणमें थे। यह सम्भव था कि विधायक वृत्तिपर चलकर १९३५ का विधेयक व्यापक बनाया जाता, लेकिन अिसी बीच राजनीतिक परिस्थिति अितनी सन्तप्त हो गयी कि १९३५ की योजना भारतीय स्वतन्त्रताके मार्गमें रुकावट है, दुष्ट षड़यन्त्र है, अैसा खुले आम कहा जाने लगा। और १९३९ में महायुद्ध शुरू हो गया। अुसकी वजहसे अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न अधिक महत्वके बन बैठे। अिच्छा न रहनेपर भी और बिना स्वीकृतिके भारतको लड़ायीमें ढकेल दिया गया। काँग्रेसी मन्त्रिमण्डलोंने स्तीफे दे दिअे। पहले वैयक्तिक सत्याग्रह और बादमें 'भारत छोड़ो' आन्दोलन हुआ; लेकिन अिन सबके बीचमें कैसे आगे बढ़ा जाअे, अिस बातपर जब जब विचार किया गया तब तब अुत्तरदायी शासन-व्यवस्था और केन्द्रमें संघीय राज्यके सन्दर्भमें ही यह विचार हुआ। हम अपना संविधान अपनी संविधान-सभाके द्वारा बनाअेंगे—यह घोषणा भी जोरोंसे अुभरी; लेकिन संविधानके स्वरूपकी हमारी कल्पनाअें पिछले अितिहास और अनुभवसे लगभग निश्चित हो गयी थी।

साधारण रूपसे केन्द्रीय धारा सभाके निर्वाचक संघ और प्रतिनिधि कैसे कैसे बढ़ते गये, यह बात भी देखने योग्य है। १९०९ से १९१९ तक कुल प्रतिनिधि ६८ थे; उनमेंसे चुने हुए २७ थे और मतदाता संख्या सिर्फ ४८१८ थी। १९१९ से १९३५ तक कुल प्रतिनिधि १४५, जिसमेंसे चुने हुए १०४ और मतदाता ११,४२,९४८ हो गये। १९३५ से १९४७ तक लगभग यही परिस्थिति रही। १९४७ से १९५१ तक जो संविधान सभा थी और जिसे धारा-सभा भी माना जाता था, उसमें अप्रत्यक्ष चुनावों द्वारा चुने हुए कुल प्रतिनिधि २९२ थे। संविधान लागू होनेपर १९५२ के चुनावोंमें लोक सभामें जन प्रतिनिधि ५०० थे, जिनमेंसे चुने हुए ४९७ थे; और मतदाताओंकी संख्या १७ करोड़ ६० लाख थी। लेकिन जिस तरह केन्द्रीय धारा सभाका स्वरूप-परिवर्तन हुआ, वैसा परिवर्तन केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल अथवा कार्य-कारिणी कौन्सिलमें नहीं हुआ था। १९०९ के बाद धीरे-धीरे भारतीय महानुभाव कार्यकारिणीमें लिखे जाने लगे। १९१९ के विधेयकके बाद उनकी संख्या बढ़ी। १९३५ तक वह आधे तक पहुँची और लड़ाईके दिनोंमें जो चर्चाएँ हुई थी, उनमें सब भारतीय ही कार्यकारिणीके सदस्य रहेंगे, अतना शाब्दिक रूपसे कह दिया गया था। मैं संविधान सभा बननेके पहले जो पृष्ठभूमि थी, उसकी चर्चा कर रहा हूँ। यदि यह पृष्ठभूमि ठीकसे समझमें आ गयी, तो हमारा संविधान कैसे बना, उसका रूप क्या है, उसके पीछे कौन-कौनसे राजनैतिक सिद्धान्त हैं और कौनसा राजनैतिक दर्शन है, उसे भी आप ठीकसे समझ लेंगे। १९४६ की मजीमें संविधान सभाकी घोषणा की गयी। सन १९४६ की अगस्तमें चुनाव हुए। २ सितम्बर को अन्तरिम सरकार सत्तारूढ़ हुई। ९ दिसम्बरको संविधान सभाकी पहली बैठक हुई। संविधानके स्वरूपके सम्बन्धमें उसमें चर्चाएँ हुई। अनेक अपसमितियोंकी नियुक्तियाँ की गयीं। तब यह दृष्टिकोण था कि सामान्यतया संविधान सभाकी घोषणाके चौखटमें संविधान बनाया जाये। प्रान्तिक सरकारें अधिक स्वायत्त बनें, यह भी ख्याल था। देशी रियासते कैसे और किन शर्तोंपर सघराज्यमें मिलें इसपर सोचा गया। देशमें गृह-युद्धकी राजनीति, भाजी-भाजीकी लड़ाई जोरपर थी। लेकिन अँग्रेज जाने वाले हैं, यह भी निश्चित हो गया था। १९४७ में जो दंगे हुए हुए और उससे पहले देशकी जो परिस्थिति थी, उसको मद्दे

नजर रखकर ३ जून १९४७ की घोषणा की गयी। हिन्दुस्तानके दो टुकड़े हो गये। १५ अगस्तके दिन स्वतन्त्र भारत अस्तित्वमें आया। संविधान सभा ही कानून बनानेवाली धारा-सभा बन गयी। अिन सब घटनाओंके परिणामोंसे प्रभावित भारतका संविधान १९४९ के नवम्बर महीनेमें बनकर तैयार हुआ। जनताने अुसको अंगीकृत किया। १९५० में २६ जनवरीको भारतका संघराज्य अस्तित्वमें आया। आधुनिक दुनियाके अनुभवों तथा भारतके अतिहासपर और राजनीतिके शाश्वत सिद्धान्तोंपर योग्य और लम्बा विचार करनेके बाद यह संविधान बनाया गया है। जो बना, वह बिल्कुल दोष रहित है, अैसा हमारा—चूँकि मैं भी अुसके गढ़ने-वालोंमेंसे अेक था—दावा नहीं है। जो प्रत्यक्ष संविधान बना है, अुसमें क्या-क्या व्यवस्थाअें हैं, अुसपर हम अगले व्याख्यानमें विचार करेंगे।



४.

भारतीय संविधान—रचना एवं स्वरूप

पिछले व्याख्यानमें भारतीय संविधानकी पृष्ठभूमि बतायी गयी थी। वह किन राजनैतिक सिद्धान्तों एवं किस दर्शनपर आधारित है, इसपर भी प्रकाश डाला गया था। यह भी दिखलाया था कि वह अनुभवोंसे सबक ले-लेकर तैयार किया गया है। पहले तो कुछ दलोंने संविधान सभाका बहिष्कार किया था। जब वह बन रहा था तब, और उसके बन जानेके बाद भी कुछ लोगोंने उसकी कड़ी आलोचनाओं की थीं। कुछ लोगोंकी शिकायत थी कि यह संविधान भारतीय संस्कृतिके अनुरूप नहीं है, तो कुछका कहना था कि इसमें संरक्षणको मूलभूत अधिकारोंमें स्थान नहीं दिया गया है। कुछ लोगोंको उसमें पूंजीवादकी बू आयी, तो कुछको वह खतरनाक सिद्ध होनेवाली वस्तु महसूस हुयी। कुछने आलोचनाकी कि १९३५के विधेयकमें ही घटा-बढ़ा कर उसे संविधानका नाम दे दिया गया है। कौरवोंके दरबारमें कृष्णको जैसे अलग-अलग व्यक्तियोंने अलग-अलग रूपमें देखा, वैसे ही इस संविधानके सम्बन्धमें अलग-अलग प्रतिक्रियाओं हुओं। यह किसीका भी दावा नहीं कि संविधान

अेकदम निर्दोष है। अवश्य अुसमें पुराने और नअेकी जोड़-तोड़ है और अनुभव यह कहता है कि राजनीतिके क्षेत्रमे प्रायः अैसा ही करना पड़ता है; अतः “व्यासोच्छिष्टं जगत् सर्वम्” की बात मोटे रूपसे सत्य है। फिर भी अिस सविधानके सम्बन्धमें अिग्लैण्डके सुप्रसिद्ध राज्य-शास्त्रज्ञ श्री बार्करका जो कथन है अुसे आपके सामने रखता हूँ। वे कहते हैं कि संविधानकी प्रारम्भिक प्रस्तावनामे अब तकके राजनैतिक सिद्धान्तोंका सार-निचोड़ आ गया है। राजनीति तथा समाजनीति कभी भी निरपेक्ष नही होती। मानव-जीवन जैसा और जितना चंचल होता है, अुतनी अस्थिरता तथा चंचलता राज्य-प्रशासन अेव समाज-व्यवस्थामें रहती है। और अिसलिअे प्रगतिकी गंगा प्रयोग अेवं प्रमाद (trial & error) नामक दो किनारोंके बीच बहा करती है। भाषाके क्षेत्रमे जैसे ‘प्रयोग-शरणाः वैयाकरणाः’ ठीक है, वैसे ही राजनीतिमें भी प्रयोगकी शरण लेनी पड़ती है। भाषाके पीछे-पीछे व्याकरणके कदम चलते हैं; राजनीतिमें भी घटनाओं पहले हो जाती हैं और बादमें शास्त्रज्ञ सिद्धान्त निश्चित करते हैं। अिसलिअे हमारे सविधानकी भले ही कोअी आलोचना करे, लेकिन यदि वह यह सोचे कि किन-किन तत्वोंके आधारपर अुसकी रचना हुआ है और अुसकी पृष्ठभूमिमे कौन-कौनसे राजनैतिक सिद्धान्त हैं, तो वह महसूस करेगा कि यह संविधान आजकी व्यवस्थाके लिअे यथेष्ट है, भविष्यके लिअे अिसमें पूर्ण गुजाअिश है, अिसका क्रान्तिकारक ढगसे अप्रयोग संभव है, लेकिन स्वरूपसे, मोटे तौरपर, यह अुत्क्रान्तिवादी अथवा क्रमवादी है। पिछले सात सालका अनुभव अिसी तथ्यको प्रमाणित करता है। हमारी पार्लियामेंट कितनी सत्ताशाली है—यह बात अुन अनेको कानूनोंसे जो अुसने स्वीकृत किअे है, सिद्ध होती है। पहले अँग्रेजोंका अुद्देश्य हमें सत्ता देना नही था, कुछ और था; लेकिन परिस्थितिने अुन्हें मजबूर कर दिया और अुन्हें सत्ता देकर चले जाना पड़ा। वह सत्ता जनताको मिली है, किसी राजनैतिक दल-विशेषको नहीं—अिसका प्रमाण संविधानकी प्रस्तावना मे ही है। ‘हम हिन्दुस्तानके लोग सार्वभौम जनतन्त्रात्मक गणराज्यका निर्माण करते हैं’—अैसा वह अुद्धोष करती है। अँग्रेजोंकी तरह हमारे यहाँके अनेक मनीषियोंके मनमें भी यह डर था कि अनेक भाषा, अनेक धर्म और अनेक जातिवाले हमारे अिस देशमें

जनतांत्रिक व्यवस्था कैसे सफल होगी ? कअियोंको लगता था कि हमारे यहाँ पार्लियामेंटरी जनतंत्रके बदले कुछ अनिश्चित-सा रामराज्य बने। संचित-वादी याने निहित स्वार्थवाले (vested interests) जनतन्त्रसे डर रहे थे। उनके तथा अल्पसंख्यकोंके डरको दूर करनेके लिये अनेकोंने संविधानमें संरक्षणों (Safeguards) को समाविष्ट करनेका सुझाव रखा। संविधान सभाके पहले अधिवेशनमें ही प्रस्तावनाकी घोषणाके तत्त्वोंपर चर्चा शुरू हो गयी थी। पूरे संविधानकी नींव प्रभुत्व, लोकशाही एवं गणतन्त्र—अनि सिद्धान्तोंके आधारपर रखी गयी है। संविधानके ये शब्द साधारण नहीं हैं। उनमें बड़ा आशय समाया हुआ है। जैसे कमलके खिलनेपर उसकी शोभा और उसका स्वरूप खुलकर दिखायी देने लगता है, उसी प्रकार जैसे-जैसे अनि शब्दोंकी गहराई विकसित होगी (और यह काम परिस्थिति करती है।), वैसे-वैसे उनका अर्थ व्यापक बनते जायेगा और उनके प्रभावका अनुभव होने लगेगा।

जो संविधान बना है, वह भारतीय सस्कृतिके अनुरूप नहीं है, उसमें वीणा या सितारके स्वर नहीं हैं, सिर्फ बँड बाजा है—अस तरहकी जो आलोचनाओं हुआ करती थी, वह १९५२ के चुनावोंकी घोषणा होते ही खतम हो गयी। विरोध करनेवाले लोग तथा दल निर्वाचनके मैदानमें आ डटे। यह अनुभव है कि जनतांत्रिक युगमें संविधानसे यदि सेवा नहीं ली जाये तो संविधान ही लोगोको जोत लेता है। संविधानका जो हिस्सा पसन्द नहीं आता, उसको बदल देनेका अपाय भी उसीमें बताया रहता है और उसीके अनुसार उसे बदला जा सकता है। ऐसा करनेके लिये जनताकी सम्मति लेनी पड़ती है, दलको बहुसंख्यक बनना पड़ता है, सत्तारूढ होना पड़ता है और तब संविधानमें परिवर्तन किया जा सकता है। अस दृष्टिसे यदि सोचा जाये तो मालूम होगा कि जनमत अत्यंत प्रभावी वस्तु है। जनता ठीकसे सब बातें समझे और ठीकसे मतदान करे असिलिये उसे ज्ञानवान बनाना आवश्यक है। संविधान एक हथियार है और उसका अपयोग जनता अपने प्रतिनिधियोंके द्वारा करती है। असिलिये वह हथियार कैसा है, किससे बना है, उसे तेज कैसे किया जा सकता है, वह कैसे पकड़ा जाता है, उसे लेकर कैसे खड़ा होना चाहिये आदि बातें जब तक जनताकी समझमें नहीं आयेगी,

तब तक वह उसका उपयोग ठीकसे नहीं कर पायेगी। इसीलिसे हमारे संविधानमें क्या है, इस बातकी चर्चा करना हमारे लिसे जरूरी है और वह चर्चा मैं अपने इस व्याख्यानमें सवषेपमें करूँगा। जैसे मैं पहले बता चुका हूँ, संविधानका मूल आधार है—प्रभुत्व, लोकशाही अथवा गणतंत्र। प्रभुत्व याने पूर्ण स्वामित्व। भारत किसीके अधीन नहीं है, उसका स्वामित्व किसी अके व्यक्ति या वंशमें निहित नहीं है, वह किसी जाति विशेषके भी हाथमें नहीं है; इस देशके सब नागरिकोंमें वह समाना हुआ है। प्रजा ही राजा है। उसकी सत्ता पूर्ण और अन्तिम है। उसके खिलाफ कहीं कोई अपील नहीं है। इस अधिकारका उपयोग जो सरकार करेगी, वह जनतांत्रिक ढंगकी होगी, अर्थात् जनता जिन्हें चुनेगी, वे लोग उसके मुनीमकी तरह कारोबार चलायेंगे। यह बात कैसे अमलमें आती है, इसपर हम आगे सोचेंगे। यहाँ महत्वकी बात अतनी ही है कि हमारा यह राज्य जनताका है, जनता ही उसे चलायेगी और वह जनताके लिसे चलाया जायेगा अथवा जनताके हितमें ही उसका संचालन होना चाहिये। संविधान-दर्शनका यह महा-वाक्य है, मुख्य मन्त्र है। गणतन्त्र याने राज्यका वह स्वरूप कि जिसमें कोई राजा नहीं होगा तथा उसका जो मुखिया होगा, वह अनियन्त्रित तानाशाह नहीं बन सकेगा। वह अपने पदपर अपनी मियाद तक रहेगा। हाँ, मियाद खतम होते ही वह फिरसे चुना जा सकेगा। इस संविधानकी दृष्टिमें जन्म अथवा जाति, वंश अथवा खानदानका कुछ अपवादात्मक अवसरोंको छोड़कर कोई महत्व नहीं है। संविधानकी प्रस्तावनामें यह मूलभूत सिद्धान्त निहित है। उसमें यह भी लिखा गया है कि राज्य इस संविधानको कार्यान्वित करे, राज्यके नागरिकोंको सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक न्याय मिले, उनका भाषण-स्वातन्त्र्य व श्रद्धा-स्वातन्त्र्य अबाधित रहे, सबको समान अवसर, समता अथवा समान प्रतिष्ठा प्राप्त हो, सबमें भ्रातृभाव बढ़े, व्यक्तिकी प्रतिष्ठा तथा राष्ट्रकी अक्य-भावना प्रस्थापित रहे। संविधानके ये अद्देश्य हैं। उसकी प्रस्तावनामें ऐसी ही प्रतिज्ञा की गयी है। सामान्य रूपसे प्रस्तावनाको कानूनका सक्षिप्त सारांश माना जाता है। संस्कृत नाटकोंकी नांदीमें ही नाटकके मुख्य मर्मका अल्लेख कर दिया जाता है; उसी तरह हमारे संविधानकी प्रस्तावनामें राज्यके आधारभूत सिद्धान्त, उसके अद्देश्य और आदर्शका अल्लेख कर दिया गया है। यह प्रस्तावना मानस-

सरोवरके समान है, और यह स्पष्ट है कि अुसीमेसे संविधानके मुख्य प्रवाह उत्पन्न होते हैं।

यदि हमें राज्यपर विचार करना हो तो नागरिक कौन हैं, प्रजा कौन हैं, विदेशी कौन हैं आदिपर सोचना पड़ेगा; कारण, नागरिकके नाते किस प्रदेशमें क्या व्यवस्था है, यह समझ लेना हमारे लिये अेकदम जरूरी है। हमारे राज्यका नाम हिन्दुस्थान अर्थात् भारत है, और वह अनेक घटक-राज्योंका संघ है। इसका अर्थ यह है कि वह अेक संयुक्त राज्य है। अेकात्मक राज्यमे अेक विधान सभा, अेक मन्त्रिमंडल, अेक शासन व्यवस्था रहती है जैसे कि अंग्लैंड और फ्रान्समे है। संयुक्त राज्यका अभिप्राय होता है—राष्ट्र-प्रदेशको अनेक राज्योंमे अथवा प्रान्तोंमें बाँटकर हर प्रान्तमें अथवा हर घटक-राज्यमे अलग मन्त्रिमंडल, अलग विधान-सभा व अलग शासन व्यवस्था रहे। और साथ ही पूरे राष्ट्र-प्रदेशपर शासन करनेवाली अेक मध्यवर्ती अथवा केन्द्रीय सरकार भी रहे। अुसमें केन्द्रीय सरकार सारे देशपर हुकूमत चलाती है, केन्द्रीय धारा सभा सारे देशके लिये कानून बनाती है, केन्द्रीय शासन-व्यवस्था पूरे देश भरका शासन करती है। बम्बयी सरकारका अधिकार बम्बयी राज्य तक मर्यादित है और अुसकी विधान सभा बम्बयी राज्यके लिये कानून बना सकती है। इसके विपरीत दिल्लीमे स्थित केन्द्रीय धारा-सभा सारे भारतके लिये कानून बनाती है, केन्द्रीय सरकारकी सार्वभौम सत्ता सारे देशपर चलती है और अुसकी शासन व्यवस्था भी पूरे देशके लिये होती है। सत्ताका बाँटवारा, अधिकारोंका विभाजन, आमदनीके मदोंकी हिस्से-बाँट—संयुक्त राज्य व्यवस्थाके मुख्य लक्षण है। जो विषय और जो अधिकार पूरे देशकी दृष्टिसे केन्द्रीय सरकारके हाथमे होने चाहिये, वे अुसके हाथमे दिये जायें और बाकी विषय घटक राज्योंके हाथमे सौंपे जायें—प्रायः अिस प्रकारकी व्यवस्था संयुक्त राज्यमे सामान्यतया दृष्टिगोचर होती है। अपने संविधानमें अधिकारोंका विभाजन केन्द्रीय सरकारके विषय, प्रान्तीय सरकारोंके विषय तथा दोनोंके सामान्य विषय आदिमें किया गया है, और शेषाधिकार केन्द्रीय सरकारको दे दिये गये हैं; अर्थात् जिनके लिये संविधानमे स्पष्ट निर्देश नहीं हैं, वे विषय केन्द्रीय सरकारके जिम्मे रहेंगे। रक्षा, आयात, निर्यात, व्यापार, मुद्रा, हवायी एवं रेल्वे आवागमन इत्यादि विषय केन्द्रीय सरकारके अधीन

रहेंगे। शिक्षा, लगान-वसूली, प्रादेशिक आवागमन-व्यवस्था आदि विषय घटक राज्योंके अधीन रखे गये हैं। आमदनीकी कुछ मदे, जैसे कि आयात-शुल्क, सिर्फ केन्द्रीय सरकारको दे दी गयी है, तो प्रान्तीय राज्योंके हिस्सेमें कुछ मदे, जैसे कि लगान आदि, आ गयी है। संविधानमें यह सब ब्यौरेवार बताया गया है। यद्यपि संविधान प्रान्तीय राज्य और मुख्य केन्द्रीय राज्य अिस तरह अलग-अलग दर्शाता है; तब भी उसने घटक राज्योंको पृथक्, स्वतन्त्र अेव सर्व सत्ता-सम्पन्न नहीं बनाया है। अत्यंत विशाल देश और उसकी अनेक भाषाओं अिस दृष्टिसे हमें राज-शासनकी व्यवस्था करनी थी, अिसलिअे सत्ताको विकेन्द्रित करनेके सिद्धान्तपर अिस हमारे सयुक्त राज्यकी रचना की गयी है। भारत अेक राज्य है, उसका सिक्का और झंडा अेक है; उसी तरह उसकी सार्वभौमिकता और कानून भी अेक है। उन कानूनोंको माननेवाला नागरिक पूरे भारतका नागरिक होता है। “मैं बम्बयी राज्यमें रहता हूँ,” अिसका अर्थ अितना ही है कि मेरा निवास-स्थान बम्बयी राज्यमें है; लेकिन मेरा नागरिकत्व संपूर्ण भारतव्यापी है। मेरी मुख्य और मौलिक निष्ठा भारतके प्रति है, मेरे मनमें महाराष्ट्रके सम्बन्धमें अैसी कोअी निष्ठा नहीं हो सकती जो उसके विपरीत और विसंगत हो। बड़े वृत्तमें जैसे छोटा वृत्त रहता है, असी तरह ये दोनों निष्ठाओं रहती हैं। मान लीजिअे कि मैं अेक आमका पेड़ हूँ; आमके पेड़के नाते मेरा अलग व्यक्तित्व उस बगीचेके वृक्ष-समाजमें समाया रहता है; उसी तरह मेरी महाराष्ट्र सम्बन्धी निष्ठा मेरी भारत-निष्ठासे निगड़ित है, वे समांतर नहीं हो सकती। सारांश, नागरिकका नागरिकत्व संपूर्ण भारत-व्यापी है। अलग-अलग घटक राज्योंको मुख्य रूपसे शासनकी सुविधाके लिअे बनाया गया है। यदि भाषाके अनुसार घटक राज्योंकी रचना की जाअे तो अिसमें राज्य-कारोबारकी दृष्टिसे अधिक सुविधा होगी, यह मैं मानता हूँ। लेकिन नागरिकत्वकी कल्पनामें अथवा उसके आध्यात्मिक भावमें किसी तरहकी विकलता अथवा विकृति नहीं आनी चाहिअे। मैं भारतका नागरिक हूँ। भारत राज्यका क्षेत्र संविधानमें विवरित किया गया है। उसमें नअे प्रदेशका समावेश किया जा सकता है। उसी तरह घटक राज्योंकी सीमाओंमें परिवर्तन करनेका अधिकार संविधानने संसदको दिया है, किसी भी घटकको स्वयं यह अधिकार नहीं है। उसी तरह नागरिक कौन है यह निश्चित करनेका

अधिकार केन्द्रीय सत्ताको है। यह नागरिकत्व सामान्यतया जन्मसे अथवा माता-पितामेसे किसी अेकका जन्म भारतमें होनेपर प्राप्त होता है। अिसके अलावा, अन्य प्रकारसे भी वह प्राप्त किया जा सकता है। विभाजनसे जो अेक विशेष परिस्थिति पैदा हो गयी थी, अुसको ध्यानमें रखकर नागरिकताके सम्बन्धमे व्यवस्था की गयी है। जो भारतीय परदेशमें है अुनको भी वह मिल सकती है। अुसी तरह कुछ समय तक भारतमे रहनेपर और अुचित अधिकारीके पास दरखास्त देनेपर विदेशियोंको भी वह प्राप्त हो सकती है। १९५६ मे अिसके सम्बन्धमें कानून बना है। तात्पर्य, अिस देशमें जन्म लेनेपर या माता पितामेसे किसी अेकका जन्म अिस देशमें होनेपर नागरिकत्वकी प्राप्ति होती है और वह आमरण रहती है। कानूनसे अुसे छीना नहीं जा सकता। कोअी भी भारतीय अन्य किसी स्वतन्त्र देशकी नागरिकता अुस देशके कानूनके अनुसार प्राप्त कर सकता है। तब अुसकी भारतीय नागरिकता नष्ट हो जाती है। वर्ना, मृत्यु तक वह दुनियामे कहीं भी हो, भारतका ही नागरिक रहता है। वह नागरिकता अुसके सुख-दुखकी सहचरी रहती है, छायाके समान अुसके पीछे पीछे जाती है।

नागरिकता सिर्फ भावना नहीं है; वह अेक अधिकार है, अेक सम्पत्ति है। कोअी अधिकारारूढ़ सरकार अुसे हमेशाके लिअे नहीं छीन सकती। भारतका नागरिक अिस देशका मालिक है, देशमुख है, अैरागैरा-नत्थू-खैरा नहीं। अुसके स्वामित्वका हिस्सा भले ही $\frac{1}{100}$ करोड़ हो, लेकिन वह बात अुसके स्वामित्वकी निर्देशक है ही। कस्तूरीकी बड़ी गोली कस्तूरी है, लेकिन अुसका अेक कण कस्तूरी नहीं—अैसा कौन कह सकता है? अिस भारत रूपी विशाल खतके मालिक हैं १७ करोड़ मतदाता और अुनके नाम मालिककी हैसियतसे फार्म नं. ७ तथा १२ मे चढ़े हुअे हैं, अर्थात् मतदाता सूचीमें लिखे जा चुके हैं। सामूहिक स्वामित्वमे भी प्रत्येक व्यक्ति मालिक रहता है और स्वामित्वके अधिकारोंका अुपभोग करना अुसका अधिकार होता है। नागरिक राज्यकर्ता-ओंको चुनता है, सम्पूर्ण राज्यकी व्यवस्थाका वह आधार है; अिसीलिअे अुसके जो अधिकार हैं, अुन्हें वह भलीभाँति समझ ले। शासन-व्यवस्था अैसी होनी चाहिअे कि अुसके अधिकारोंका हनन न हो और जब अुनपर आघात पहुँचे तब अुस आघातके विरुद्ध अुचित न्याय मिलनेकी व्यवस्था अुसमें रहे। अतः

संविधानने मौलिक अधिकारोंको निश्चित कर दिया है। कोअी भी प्रान्तीय-राज्य कानून बनाकर अनुपर आक्रमण नहीं कर सकता। अिन्हें सकुचित भी नहीं बनाया जा सकता। अनुमे परिवर्तन केन्द्रीय धारा-सभा ही कर सकती है, अर्थात् लोकसभा और राज्यसभाको ही यह अधिकार प्राप्त है। हमारे संविधानमे अिन मौलिक अधिकारोंका स्पष्ट रूपसे अुल्लेख किया गया है। अिगलैडकी तरह वे परम्परागत (Conventional) नहीं हैं। पहला अधिकार समताका है; कानूनकी निगाहमे सब अेक है, सबको कानूनका अेक-सा संरक्षण प्राप्त होगा। न्यायालय अिस दृष्टिसे विचार नहीं करेगे कि यह धनवान है, यह अधिकारी है, यह हिन्दू है, यह सिख है आदि। सबको न्याय अेक-साँ मिलेगा। सरकारी कारोबार मे अथवा न्यायदानके कार्यमे धर्म, वंश, जाति अथवा लिगभेदका विचार नहीं किया जाअेगा। सार्वजनिक सुख-सुविधाके स्थानो, दूकानों, कुओं, सड़कों अथवा जहाँ सामान्य रूपसे जनता जा सकती है वहाँ, किसी अेक जाति या धर्मके नामपर किसीको रोका नहीं जा सकेगा। सरकारी अनुदानके सहारे चलनेवाली संस्थाओंमें अिस दृष्टिसे किसीको मनाअी नहीं की सकेगी। सरकारी नौकरियोंमे सबको समान रूपसे अवसर मिलेगा; धर्म और जाति आदिकी दृष्टिसे किसी भी व्यक्तिकी अवहेलना नहीं की जाअेगी। जो पिछड़े हुअे हैं उनको और हरिजनों तथा आदिवासियोंको कुछ समय तक सहूलियतें मिलेगी; लेकिन वे सहूलियतें अुन्हें अूपर अुठानेकी दृष्टिसे ही दी जाअेंगी। अिसी दृष्टिसे कुछ समय तक अिन वर्गोंके लिअे अेक अनुपातमें जगहें सुरक्षित कर दी जाअेंगी। पर धार्मिक संस्थाओंमें जो नौकरियाँ हैं उनके लिअे ये नियम लागू नहीं होंगे। अुसी तरह अब आगे अस्पृश्यता नहीं रहेगी। जो अस्पृश्यताका व्यवहार करेगा, अुसे अपराधी माना जाअेगा। जो भारतीय नागरिक नहीं है, अुन्हें विशेष अनुमतिके बिना सरकारी नौकरी नहीं मिल सकेगी। सब नागरिकोंको भाषण व लेखनकी स्वतंत्रता प्राप्त है। अुसी तरह अुन्हें बिना हथियारोंके अिकट्ठे होने, संगठन बनानेका भी स्वातंत्र्य है। पूरे भारतमे बिना किसी रोकथामके कहीं भी आने-जानेकी अुन्हें आजादी है। भारतके किसी भी भागमें रहने, व्यापार-धंधा करने, संपत्ति प्राप्त करनेका भी अधिकार हरेकको है। अुसी तरह हरेकको किसी भी प्रकारका व्यवसाय, पेशा, व्यापार अथवा अुद्योग करनेकी आजादी है। अिस स्वतंत्रताका

अुपयोग राष्ट्र-हितकी दृष्टिसे हो—अिसलिअे राज्यको अुसकी मर्यादाअें निश्चित करनेका अधिकार रहेगा । यदि कोअी प्रत्यक्ष अपराध करेगा तो ही अुसे सजा दी जा सकेगी । जो अपराध पहले हो गया है, अुसकी सजा नया कानून बनाकर बढ़ाअी नही जा सकेगी । अुसी तरह किसीको भी कानूनके खिलाफ नही पकड़ा जा सकेगा । गिरफ्तार करते ही अुसे क्क्यों पकड़ा गया है, यह बता दिया जाअेगा । वह अपनी ओरसे वकील नियुक्त कर सकेगा । गिरफ्तार होनेपर २४ घटेके अन्दर अुसे न्यायाधीशके सामने पेशकर दिया जाअेगा । कुछ परिस्थितियोंमे अवरोधक गिरफ्तारियाँ की जा सकेंगी । पार्लियामेन्टने अिस सम्बन्धमें सन १९४९ और १९५१ मे व्यौरेवार कानून बनाअे है । मनुष्यको गुलामकी हैसियतसे खरीदा या बेचा नही जा सकेगा । १४ वर्षसे नीचेकी अुम्रके किसीसे भी कारखानेमें मजदूरकी हैसियतसे काम नही लिया जा सकेगा । धार्मिक स्वतन्त्रता रहेगी, लेकिन मन्दिरों अथवा धार्मिक संस्थाओं-की ठीकसे व्यवस्था हो, अिस दृष्टिसे राज्यको कानून बनानेका अधिकार रहेगा । धार्मिक संस्थाअे अपनी संपत्तिका अुपयोग न्यायानुसार और वर्तमान कानूनोंके अनुसार कर सकेंगी । हरेकको भाषा और सस्कृति सम्बन्धी स्वातंत्र्य रहेगा । अिस दृष्टिसे अल्प-संख्यकोको अपनी संस्थाअे बनानेका अधिकार है । किसीकी भी संपत्ति कानूनके खिलाफ छीनी नही जा सकेगी; और जब वह लेनी ही पड़े तो अुसका अुचित मुआवजा दिया जाअेगा । जिस कानूनके अनुसार वह संपत्ति ली जाअेगी, अुसीमे मुआवजा किस बिनापर दिया जाअेगा अिस बातका स्पष्टीकरण रहेगा । अिसके सम्बन्धमे न्यायालय हस्तक्षेप नही कर सकेगा । आज हमने जिन मूल अधिकारोंकी चर्चा की है, नागरिक अुन सबका अुपभोग कर सकते हैं । यदि अुनपर आक्रमण हुआ तो किस न्यायालयसे किस प्रकारकी मदद हासिल की जा सकती है, अिस बातका भी अुल्लेख संविधानमें किया गया है । अिन स्वतन्त्रताओंके अलावा कुछ स्वतंत्रताओंकी चर्चा मै दूसरे व्याख्यानमें करूँगा ।

संविधानकी प्रारम्भिक घोषणामे संविधानके आधारभूत तत्व दे दिअ गअ है, यह मै पहले ही बता चुका हूँ । सामान्यतया आगे आनेवाला अितिहास किस मार्गपर चलेगा, प्रगतिके कदम किस-किस दिशाकी ओर बढ़ेगे,

असकी चर्चा संविधानके मार्गदर्शक तत्व (Directive Principles) नामक परिच्छेदमे की गयी है। वहाँ पंचायत, शिक्षा और व्यवसाय, बेकारी, बीमारी, अपगता, अपरिहार्यता आदिके सम्बन्धमे मार्गदर्शक तत्व निर्देशित गये हैं। अिन बातोंका मौलिक अधिकारोमे समावेश नहीं होता। दोनोमें फर्क यह है कि मौलिक अधिकारोंपर आक्रमण होनेपर उस आक्रमणके खिलाफ न्यायालयसे मदद माँगी जा सकती है, लेकिन मार्गदर्शक तत्वोंके अनुसार यदि वर्तमान सरकार न चले तो उसे कोर्टमें नहीं खींचा जा सकता। हाँ, चुनावोंमें उस बातका प्रचार करके सरकारको हटाया जरूर जा सकता है, अर्थात् सरकारी दलको पराजित किया जा सकता है। पेशेकी दृष्टिसे मजदूरोंके साथ अच्छा बर्ताव हो, गर्भावस्थामे स्त्रियोंको मदद मिले, वेतनमान अचित रहे और अिस दृष्टिसे कानून बनाये जाये—अिस तरहका निर्देश अिन तत्वोमे है। यह भी कहा गया है कि पूरे देशमें अेक ही तरहकी न्याय-निर्णय पद्धति हो तथा अिसके सम्बन्धमें मार्गदर्शक तत्वोंके अनुसार कानून बनाये जायें। अिसका भी अुल्लेख है कि पिछड़ी हुई और अुसूचित, वनवासी तथा पहले जिन्हें अस्पृश्य माना जाता था अैसी जातियोंको विशेष सुविधाये दी जायें। सारांश यह कि मार्गदर्शक तत्वोंके मातहत शिक्षा, स्वास्थ्य, मजदूरोंमे सम्बन्धित विषय, प्राचीन और अैतिहासिक महत्वकी वस्तुओं और शिल्पका संरक्षण आदि सब बातोंपर विचार किया गया है। अुसी तरहसे न्यायदानका कार्य निर्भीकतासे हो, कार्यकारिणी अर्थात् सरकार द्वारा अुसमें किसी तरहका हस्तक्षेप न हो, तदर्थ न्यायदानकी व्यवस्था पृथक अेवं स्वतन्त्र रहे—अिस तरहका आदेश अिन तत्वोंमें निहित है। देशमें सुव्यवस्था रहे, अिस दृष्टिसे ये मार्गदर्शक तत्व विवरित हुअे हैं। आंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धोंमें भारतकी क्या नीति रहेगी, अिस विषयपर भी अुनमें मार्गदर्शन किया गया है। भारतीय राज्यका प्रयत्न रहेगा कि आंतर्राष्ट्रीय दुनियामें शांति अेवं सुरक्षा कायम रहे, राष्ट्रों-राष्ट्रोंके आपसी सम्बन्ध न्यायानुसार और सम्मानास्पद रहें, आंतर्राष्ट्रीय कानूनों और संधियोंकी शर्तोंका पालन हो और राष्ट्रोंके आपसी मतभेद अेवं झगड़े पंचोंके द्वारा सुलझाये जायें। मैं अलग व्याख्यानमें बताऊंगा कि पहले सात सालोंमें और अुससे भी पहले, अिस दिशामें भारतने किस-किस तरहके प्रयत्न किये। यहाँ अितना ही बताना है कि आंतरिक और आंतर्राष्ट्रीय क्षेत्रमें संविधानका

मार्गदर्शन कितना प्रगतिशील एवं शान्तिको पुष्ट करनेवाला है। यह बात सरलतासे समझी जा सकती है कि देशमें अराजकता न फैले और विश्वमें युद्धोत्तेजक परिस्थिति न रहे यही उसकी दृष्टि है।

अब, राज्य याने सत्ताके संगठनके विषयमें कुछ कहेंगे। व्यापार और उद्योगमें जैसे संगठनकी आवश्यकता होती है और उसके कारण वहाँ जैसे कामकाज व्यवस्थित चलता है, उसी तरह और उसी दृष्टिकोणसे राज्यको संगठन एवं कार्यपद्धतिकी आवश्यकता है। कंपनी भागीदारोंकी—शेअर होल्डरोंकी होती है, लेकिन उसका दैनंदिन कारोबार डायरेक्टरोंका बोर्ड चलाता है। उसी तरह देशमें जो नागरिक हैं, वे मानों भागीदार हैं, और उनके द्वारा चुनी हुई सरकार मानो देशका संचालक-मंडल है। कम्पनीका कारोबार जैसे व्यवस्थित रूपसे, कुछ नियमोंके अनुसार चलता है, उसी प्रकार राज्यमें सत्ताका कारोबार चलाया जाता है। राज्यका स्वरूप त्रिविध होता है:—एक काम करनेवाला—कार्यकारी, दूसरा विधान—कानून बनानेवाला और तीसरा न्याय देनेवाला। यद्यपि राज्यका स्वरूप त्रिविध है, लेकिन उसमें समन्वय और संगठन है, उसके कार्यकी दिशा और ध्येय एक हैं। मोटरके चक्के चार होते हैं, लेकिन चारों ओर ही में चलते हैं। यदि उनके चलनेमें विसंगति आ जाये, तो मोटरकी गति नहीं मिलेगी, इसलिये उनमें सहकार और समन्वय रहना चाहिये। जैसे सिरके सुदर बालोंको तीन हिस्सोंमें बाँटकर उनकी सुदर चोटी गूँथी जाती है; उसी तरह एक मूल सत्ताको तीन हिस्सोंमें बाँटकर सुविधा और शोभा पैदा की जाती है। हर संविधानका यही अद्देश्य रहता है। जागतिक अनुभवोंको ध्यानमें रखकर भारतीय संविधानमें पृथक्ता एवं अंकीकरण—दोनोंका संयोजन किया गया है। राज्य नामक वस्तुका प्रकटीकरण सरकारके माध्यमसे होता है। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक कहा करते थे कि राज्य ब्रह्म-स्वरूपी है और सरकार नित्य बदलनेवाली मायाके सदृश। लेकिन यह भी सच है कि जिस ब्रह्मका स्वरूप मायाके स्वरूपसे निश्चित होता है। सरकार जैसे बताव करेगी, जनता राज्यको उसी रूपमें ग्रहण करेगी। पहला महत्व राज्यका है; लेकिन उसके साथ-साथ सरकार भी होनी चाहिये। बिना सरकारके राज्य नहीं चल सकता। सरकार सूत्र है, नागरिक मोती हैं और राज्य उनसे

बनी माला है—यह उपमा अंकदम अनुचित नहीं कहीं जा सकती। इसलिये सरकारपर अर्थात् कार्यकारिणी सत्तापर पहिले विचार करना चाहिये। एक प्रश्न है, यह सरकार (Government) कैसे सगठित होती है ? दूसरा प्रश्न है, उसकी रचना कैसी होती है ? अपने संविधानमें प्रत्येक वयस्क स्त्री-पुरुषको बिना अपवादके मतदानका अधिकार है। उन्हें प्रादेशिक निर्वाचक संघोंमें बाँट दिया जाता है। ये निर्वाचक-संघ नियमानुसार अपने प्रतिनिधिका चुनाव करते हैं। राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल बहुमतवाले दलके नेताको मन्त्रिमण्डल बनानेके लिये कहते हैं। वह जिनके नाम देता है, उन्हें मंत्री बना दिया जाता है; और इस तरह मन्त्रिमण्डल बनाये जाते हैं। लेकिन सरकारकी कल्पनामें अथवा कार्यकारी सत्ताकी कल्पनामें सिर्फ मन्त्रिमण्डल ही नहीं आता, उसमें राज्यके प्रमुखका याने राष्ट्रपतिका भी समावेश होता है। भारतके राष्ट्रपति प्रान्तीय राज्योंकी विधान सभाओं एवं पार्लियामेंट अथवा ससदके सभासदों द्वारा नियमानुसार निर्वाचित किये जाते हैं। कुछ विशेष सवालको छोड़कर बाकी अन्य सब बातोंमें उन्हें अपने मन्त्रिमण्डलकी सलाहसे ही चलना पड़ता है। प्रान्तीय राज्यमें यदि संविधानके अनुसार काम न चलता हो तो राष्ट्रपति उस राज्यके कारोबारको अपने हाथमें ले सकते हैं। यद्यपि सब आदेश राष्ट्रपतिके नामपर निकलते हैं, लेकिन वे रहते हैं मन्त्रिमण्डलके। मन्त्रिमण्डल यदि गलती करे तो उसे उसका जवाब संसदको देना पड़ता है। कुछ विशेष चीजोंको छोड़कर बाकी विषयोंपर राष्ट्रपतिको मन्त्रिमण्डलकी सलाह माननी पड़ती है। यदि राष्ट्रपति न मानें तो मन्त्रिमण्डल अस्तीफा दे देगा अथवा राष्ट्रपति उसे बरखास्त कर देंगे; लेकिन यदि फिरसे वे ही लोग चुनकर आ जायें तो राष्ट्रपतिको ही झुकना पड़ेगा। मतलब यह कि राष्ट्रपति कार्यकारी-सत्ताके प्रमुख सिर्फ नाममात्रके होते हैं, सच्ची सत्ता मन्त्रिमण्डलके हाथमें रहती है और संविधानके अनुसार सारे देशमें वह प्रयुक्त की जाती है। शासन-व्यवस्था (Administration) मन्त्रिमण्डलके आदेशानुसार चलती है। मन्त्रिमण्डल कैसे बनता है, यह मैं आपको अभी बता चुका हूँ। बहुमतवाले दलके नेताको राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल बुलाते हैं और उसे मन्त्रिमण्डल बनानेके लिये कहते हैं। वह नेता तब मुख्य-मन्त्री बनता है और अपने

साथियोंको चुनता है। ऐसा करनेका उसे अधिकार है। आम तौरपर जहाँ अत्तरदायी राज्य-पद्धति रहती है, वहाँ मुख्य प्रधानको यह अधिकार रहता है। राज्यके काममें अकमुखी पद्धति और शिस्त रहनी चाहिये—अस दृष्टिसे यह बात अच्छी है। अनुभव भी यही कहता है। सिर्फ न्यूजीलैंड ही एक ऐसा देश है जहाँ नेताकी तरह मन्त्रियोंका भी चुनाव दल ही करता है, और अस वजहसे वहाँ मन्त्रिमण्डलमें एक राय या समान राय नहीं रहती। हमारे यहाँ नेता अपने साथियोंको चुनता है। संविधानके अनुसार मन्त्रिमण्डलकी जिम्मेदारी संयुक्त रहती है। अर्थात् एक मन्त्री जो भी कुछ करेगा, उसके लिये वह अकेला जिम्मेदार नहीं रहेगा, उसके लिये सब मन्त्री समष्टि-रूपसे जिम्मेदार रहेंगे। वह जो कुछ करता है उसे मन्त्रिमण्डलका, औपचारिक रूपसे कार्यकारी सत्ताका और असिलिये उस सरकारका—जिसमें उस राज्यके प्रमुखका भी समावेश है, काम माना जाता है। कारण, मन्त्रिमण्डलकी सलाह वस्तुतः आदेश स्वरूपी होती है। मन्त्रिमण्डल राष्ट्रपतिको या राज्यपालको सलाह देता है, पर सलाहके नामसे वह जो भी कुछ कहता है, वह होती है आज्ञा ही। कानूनके अनुसार मन्त्रिमण्डल राष्ट्रपति अथवा राज्यपालकी जब तक मर्जी हो तब तक (During his pleasure) सत्तापर रहता है; लेकिन वस्तुतः जब तक मन्त्रिमण्डलपर संसदका, विधान सभाका विश्वास रहता है, तब तक वह अधिकारारूढ़ बना रहता है। शपथ-विधि होनेके बाद ही मन्त्री काम कर सकता है। यह शपथ राज्यके प्रमुख द्वारा दिलवायी जाती है। मन्त्रिमण्डलने क्या सलाह दी है, उसके बारेमें कोई न्यायालय पूछताछ नहीं कर सकता।

मन्त्रिमण्डलका काम कैसे चलता है, संयुक्त जिम्मेदारी कैसे कार्य-रूपमें परिणत होती है—असे हम अलग व्याख्यानका विषय बनाओगे। कार्यकारिणी सत्ता कैसे संगठित होती है, यह मैं बता चुका हूँ। शासन व्यवस्था, उसको चलानेवाले वर्ग, नौकरोंकी भर्ती एवं निवृत्ति आदि सम्बन्धी व्यवस्थासे संविधानमें हैं। परीक्षाके द्वारा गुणानुक्रमसे अनुकी भर्ती की जाती है। जब तक अनुका बर्ताव अच्छा रहता है, तब तक अनुकी नौकरी कायम रहती है और वयो-मर्यादा समाप्त हो जानेपर उन्हें निवृत्त कर दिया जाता है। भर्ती नियमानुसार, गुणानुसार एवं योग्यतानुसार की जाती है और यह

योग्यता लिखित परीक्षा अथवा प्रत्यक्ष भेट (मौखिक परीक्षा) के जरिअे निश्चित की जाती है । वेतन, पदोन्नति, कामपर बहाल करने आदिके सम्बन्धमें नियम है; नौकरी देना अथवा बर्खास्त करना किसीकी मर्जीपर निर्भर नहीं है । फौजी हो या गैर-फौजी, दोनों प्रकारके नौकर-वर्गको राजनैतिक दृष्टिसे तटस्थ रहना चाहिये । असका अर्थ यह नहीं कि अिन लोगोंको मतदानका अधिकार नहीं रहता । अुन्हें अपने विचार निश्चित करनेका अधिकार है । लेकिन अपने मतोंको प्रकट करनेमें अुन्हें कुछ बन्धनोंको मानना पड़ता है । सामान्यतया जनतान्त्रिक राज्यकी कार्यक्षमताके लिअे अैसी व्यवस्था आवश्यक है । सरकारकी कार्यकारी सत्ता अपूर मन्त्रि-मण्डलसे लेकर नीचे गाँवके पटेल-पटवारी तक कार्यान्वित रहती है, अिसीलिअे अुसमें सुसंगति और अनुशासन होना जरूरी होता है । कोअी भी सवारी करे, पर सवारीके जानवरपर खोगीर तथा लगाम तो होनी ही चाहिये । कार्यकारी सत्ता चूँकि कार्यकारी है, अिसलिअे अुसमें विचारकी अपेक्षा आचारको अधिक प्रधानता है । जो कुछ सोचना-विचारना है वह विधान-सभामे और मन्त्रि-मण्डलमे हो । जनतन्त्रमें या ससदीय लोकतन्त्रमे सूत्र-संचालन अथवा अपक्रमशीलता मन्त्रि-मण्डलकी जिम्मेदारी है, अुसका वह लक्षण है । चुनावमें हरेक दल अपना-अपना कार्यक्रम घोषित करता है । जिस दलका बहुमत हो जाता है वह दल मन्त्रिमण्डल बनाता है और हजारो मुखोसे हजार बार जो घोषणाअे अुसने की थी, अनपर अमल करनेकी नैतिक और वैधानिक जिम्मेदारी अुसपर आ पड़ती है । दलकी स्थूल घोषणाओंको कानूनका जामा पहिनानेके लिअे मन्त्रि-मण्डलको विधेयकोके मसविदे (Bills) अथवा प्रस्ताव तैयार करने पड़ते हैं । हर बिलपर मन्त्रि-मण्डलमें तो विचार होता ही है; लेकिन विधान-सभामें, अुसको पेश करनेके बाद, अुसपर तीन बार चर्चा की जाती है । वहीं अुसपर पूरा विचार किया जाता है । राष्ट्रकी जो नीति निश्चित करनी है, वह वही की जाती है । वही प्रगतिका शुभारंभ होता है । वहींपर नाना प्रकारके दृष्टिकोण और विविध विचारधाराओंका प्रकटीकरण होता है । संविधानकी दृष्टिसे विधान सभा वाद-विवाद, विचार और विमर्शका क्षेत्र है । अिस तरह कूट-पीसकर और घोट-घाटकर जो विधेयक रूपी रसायन पैदा किया जाता है, अुसे चूँकि वह जनतन्त्रका

बना हुआ माल रहता है, जिसलिअे जनताको मान्यता देनी पड़ती है। कारण, तब वह धरतीका और राष्ट्रका कानून बन जाता है। पंचोके मुंहसे परमेश्वर बोलता है, यही भाव जिस मान्यताके पीछे रहता है। विधान-पालिका जिस प्रकार कार्य करती है।

जैसे बताया जा चुका है, जनताके प्रतिनिधि चुने जाते हैं और वे विधान-सभामें चर्चा करते हैं। संसद अथवा विधान-सभामें जो कुछ बोला जाता है, उसको लेकर कहीं कोअी मुकदमा वगैरह नहीं चलाया जा सकता। प्रतिनिधियोंको यदि मुकदमेका डर रहे तो वे स्पष्टरूपसे मनकी बात नहीं कह पाअेंगे, सच्ची परिस्थिति सामने नहीं रख पाअेंगे। तब सरकार जनतन्त्रकी आड़में तानाशाही चलाने लगेगी। यह न हो, इसीलिअे प्रतिनिधियोंको सम्पूर्ण भाषण-स्वातन्त्र्य दिया जाता है; अनुपर जो मर्यादा रहती है, वह सिर्फ सभ्यता और अच्छे बर्तावकी दृष्टिसे ही रहती है। प्रतिनिधि कारोबारके बारेमें प्रश्न पूछ सकते हैं, अप्रश्न पूछ सकते हैं, कार्य-स्थगनका प्रस्ताव रख सकते हैं, अन्य प्रस्ताव भी पेश कर सकते हैं और विल भी अप्रस्थित कर सकते हैं। चूँकि सरकार बहुमतपर आधारित रहती है, इसलिअे उसका संसदपर नियन्त्रण रहता है; लेकिन विरोधी दलके अधिकारोकी रक्षा सभापतिको करनी पड़ती है। सभागृहपर सभापतिका शासन चलता है, मुख्य प्रधानका नहीं। इस दृष्टिसे विधान बनानेवाली सत्ता स्वतन्त्र होती है। पहलवानोंका काम अखाड़ेमें कुश्ती लड़ना है, उसमे अखाड़ेका मालिक कौन है, यह प्रश्न नहीं उठता। अेक दृष्टिसे विधान-मण्डल स्वतन्त्र है, लेकिन उसमें काम करनेवाला जो मुख्य पात्र अथवा नाटक कम्पनी है, वह है कार्यकारी-सत्ता; और इस तरह ये दोनों सत्ताअें अिकट्ठी हो जाती है। यदि सरकारकी विभिन्न सत्ताअे पृथक-पृथक रहें तो नागरिक स्वातन्त्र्य अबाधित रहता है यह पुराना सिद्धान्त है। लेकिन जैसे गोंफ तैयार करनेके खेलमें गोपियाँ अलग-अलग नाचती हुआी दिखायी पड़ती हैं, उसके धागे भी अलग-अलग दिखायी देते हैं, पर अपूर अनु सब धागोंसे गूँथा हुआ अेक संगठित गोंफ बनते जाता है; ठीक वही बात जनतन्त्रमें होती है। कार्यकारी सत्ता, विधान बनानेवाली सत्ता और न्याय करनेवाली सत्ता—तीन प्रकारकी सत्ताअें हैं; लेकिन अपने संयोगसे जनतान्त्रिक राज्यके मुख्य हेतु जन-कल्याणको

वे साधा करती है। विधान बनानेवाली सत्ता कानून बनाती है, कार्यकारी सत्ता अनुपर अमल करती है, लेकिन कानूनके अनुसार अनुपर अमल होता है या नहीं, कानूनका सच्चा अर्थ क्या है आदि बातें न्याय देनेवाली सत्ताको देखना पड़ता है। संविधानमें न्यायदान व्यवस्था विवरित की गयी है। हर घटक-राज्यमें उच्च न्यायालय और सम्पूर्ण भारतके लिये एक सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) रखा गया है। राष्ट्रपति न्यायाधीशको नियुक्त करते हैं, पर सर्वोच्च न्यायालयके मुख्य न्यायाधीशकी सलाहसे। कनिष्ठ न्यायालयपर उच्च न्यायालयका अधिकार चलता है। इसके अलावा संविधानमें जो मार्गदर्शी-तत्त्व बताये गये हैं उनमें कहा गया है कि कार्यकारी सत्ता और न्याय-दानकी व्यवस्था पृथक् पृथक् रहे। अदृश्य स्पष्ट है। मन्त्रि-मण्डलको, फिर वह प्रांतीय राज्यका हो या केन्द्रका, यदि न्यायाधीशोंकी नियुक्तिका अधिकार दे दिया जाये और उनके काम-काजपर उसका नियन्त्रण रख दिया जाये तो 'गुड़के गणपतिको गुड़का नैवेद्य' वाली कहावत चरितार्थ हो जायेगी और तब नागरिकोंकी मूलभूत स्वतंत्रतासे मन्त्रि-मण्डलकी याने कार्यकारी सत्ताकी कृपापर आधारित हो जायेगी। तब जनतन्त्र टूट जायेगा। इसलिये न्यायधीय स्वतन्त्र रूपसे नियुक्त किये जाने हैं। यदि सजगतासे उनको चुन दिया जाये तो वे पक्कातीत नहीं रहेगे; इसलिये उनकी नियुक्ति की जाती है। यह व्यवस्था दुनियाभरमें जो अनुभव प्राप्त हुये हैं, उनको ध्यानमें रखकर की गयी है। तीनों प्रकारकी सत्तासे स्वतन्त्र है, उनका संगठन स्वतन्त्र है; लेकिन कामकी दृष्टिसे उनका संयोजन किया गया है और यह संयोजन इस तरहसे किया गया है कि नागरिक अधिकारोंको धक्का न लगे।

भारतीय संविधान अपने प्रमुख लक्षणों सहित इस प्रकारका है :—
 प्रभुत्वपूर्ण, जनतन्त्रात्मक गणराज्य उसका आधार है; सार्वत्रिक मतदान; प्रादेशिक निर्वाचक सभ; बहुमतवाले दलका मन्त्रि-मण्डल; निर्वाचित राष्ट्रपति, पर घटक-राज्योंके औपचारिक प्रमुखोंकी नियुक्ति; विधानसभाके प्रति जिम्मेदार अर्थात् जबतक विधान-सभाका उसपर विश्वास है, तबतक अधिकारारूढ़ रहनेवाला मन्त्रि-मण्डल; निश्चित मौलिक अधिकार; राज्यका

हेतु कार्यान्वित किया जा सके इस दृष्टिसे संगठित स्वतन्त्र न्यायदानकी व्यवस्था; गुणोंके आधारपर नियुक्त शासकीय कर्मचारी गण; सांघिक स्वरूपका भारतीय राज्य; प्रान्तीय राज्यों और केन्द्रके बीच अधिकारों एवं आमदनीका अचित विभाजन, लेकिन शेषाधिकारकी सत्ता केन्द्रके हाथमे सुरक्षित। साधारण शान्तिके कालमे आन्तरिक व्यवस्था कैसी रहेगी, यह तो संविधानमें बताया ही गया है, लेकिन सकटकालीन परिस्थिति पैदा हो जानेपर मध्यवर्ती सत्ता और प्रान्तीय सत्ताका कौन कैसे बिस्तेमाल करेगा आदिकी व्यवस्था भी उसमे है। संकटकालीन परिस्थिति पैदा हो जानेपर अथवा संविधानके अनुसार जब राज्यका कारोबार न चल सकता हो तब राष्ट्रपति अपने हाथमें कारोबार ले लेते हैं और फिर अन्हीके द्वारा वह चलाया जाता है। जिन कारणोंसे इस कारोबारको राष्ट्रपति अपने हाथमें लेते हैं, उनके खतम होते ही फिरसे संविधानके अनुसार जनतान्त्रिक व्यवस्था शुरू कर दी जाती है। संकटकालीन राज्य-व्यवस्थामे जो कुछ मर्यादाओं नागरिक अधिकारोंपर आती हैं, अन्हे मानना चाहिये। 'सिर सलामत तो पगड़ी पचास' इस न्यायसे यदि राज्य रहेगा और समाज-व्यवस्था रहेगी तो नागरिक-स्वतंत्रताओं भी कायम रहेंगी। समाजकी रक्षा प्रथम महत्वपूर्ण मौलिक वस्तु है। समाज सर्वदा स्थिर नहीं रहता, वह प्रगतिकी ओर खिंचता चला जाता है, तेजीसे आगे बढ़ जानेकी उसकी अच्छा रहती है। लेकिन जो कुछ प्रगति करनी है वह संविधानके अनुसार करनी है; इसलिये जैसे बच्चोंका कोट उनकी वाढ़को ध्यानमें रखकर बड़ा सिलवाया जाता है, उसी तरह परिवर्तनकी थोड़ी बहुत व्यवस्था हर संविधानमे रखी जाती है। संविधानमें अिष्ट एवं आवश्यक परिवर्तन कैसे किये जायें, यह लिखा रहता है। जहाँ संविधान लिखा हुआ नहीं होता, जहाँ अनेकों कानूनोंमे एवं साकेतिक परम्पराओं-मे राज्यके मूलभूत सिद्धान्त बँटे हुअे रहते हैं, वहाँ ये परिवर्तन, जिस प्रक्रिया द्वारा साधारण कानून बनते हैं, उसी प्रक्रियासे किये जा सकते हैं। लेकिन जहाँ संविधान अक कानूनमे, विधानके कानूनके रूपमे ग्रथित रहता है, वहाँ उसमें परिवर्तन लानेकी प्रक्रिया (Procedure) को साधारण कानून बनानेकी पद्धतिसे अलग दिखाया जाता है। लेखनिष्ठ संविधानमें सामान्य (Ordinary) कानून एवं संवैधानिक (Constitutional)

कानूनमें अन्तर किया जाता है। जो सिद्धान्त मूलभूत हैं अथवा नींवके हैं, उनमें परिवर्तन करते समय सावधानी रखी जानी चाहिये, इस बातको सब मानेंगे। हमेशा की साफ-सफाई अथवा छोटे-मोटे सुधारोंका स्वरूप अलग है, और मूल ढाँचोंमें रचनासे सम्बन्धित (Structural) सुधारोंका स्वरूप अलग है। वास्तु-रचना (घर बनाने) सम्बन्धी सुधार बारबार नहीं किये जा सकते; उनके लिये नगरपालिकाकी अनुमति लेनी पड़ती है। पर साधारण नल दुरुस्त करने, नाली दुरुस्त करने, रंग मारने आदि कामोंके लिये अनुमतिकी आवश्यकता नहीं। उसी तरह संविधानिक सुधारोंके लिये एक विशेष पद्धति रहती है। अनेक संविधानोंमें यह पद्धति विशिष्ट बहुमत, सार्वत्रिक मतदान (Plebiscite), अथवा उसी प्रश्नपर चुनाव आदि रहती है। कहीं-कहीं तो यह बहुत क्लिष्ट होती है। जहाँ राज्य संयुक्त स्वरूपका होता है, वहाँ ऐसे परिवर्तनोंके लिये घटक राज्योंकी भी सम्मति आवश्यक मानी जाती है। हमारा संविधान अिन परिवर्तनोंके सम्बन्धमें न तो क्लिष्ट है और न सरल। तदनुसार सामान्यतया कुल प्रतिनिधियोंकी सख्याके कम-से-कम ५१ प्रतिशत द्वारा और अपस्थित प्रति निधियोंके ३ द्वारा मान लिये जानेपर ऐसे परिवर्तन स्वीकृत कर लिये जायेंगे। किसी भी परिवर्तनके लिये सुधार-विधेयक पेश करना पड़ता है। अनुच्छेद ३६८ में जिनका उल्लेख किया गया है, उन विषयोंके सम्बन्धमें यदि कोई परिवर्तन करना हो तो प्रान्तीय राज्योंमेंसे कम-से-कम आधे राज्योंको अपनी-अपनी विधान-सभाओंके द्वारा अनुपर अपनी मान्यता प्रकट करनी चाहिये; वरना वे परिवर्तन नहीं हो सकते। ये सब विषय राष्ट्रपति, मार्गदर्शक तत्व, प्रतिनिधित्व, राज्यपालके अधिकार आदिसे सम्बन्धित हैं। सिर्फ संसदकी मान्यता प्राप्त कर लेनेपर अिन विषयोंसे सम्बन्धित सुधार संविधानमें नहीं लाये जा सकते। सारांश, संविधानमें सुधारकी यह पद्धति पूरी तरहसे सोच-विचार करनेके बाद निश्चित की गयी है। जल्दी करके कोई कुछ करना चाहे तो उसके लिये यह सम्भव नहीं। उसी तरह जो परिवर्तन नये युगके अनुरूप एवं आवश्यक हैं, उन्हें कुछ लोगोंके कारण बहुत देर तक स्थगित भी नहीं रखा जा सकेगा। इस तरहके परिवर्तन करनेकी यदि संविधानमें व्यवस्था न हो तो प्रगतिशील विचार क्रान्तिकी

और झुकने लगते हैं। जो सीधी राहसे सम्भव नहीं होता, उसे टेढ़े और वाम मार्गसे किया जाता है। ऐसी स्थितिमें संविधानकी राह छोड़ दी जाती है और हिंसाका रास्ता अपना लिया जाता है। इस प्रकार एक बार हिंसाकी राह जब आकर्षक बन जाती है तो राजनीतिका स्वरूप बदल जाता है। तब जनतन्त्र खतम हो जाता है और तानाशाहीका तूफान शुरू हो जाता है। तब सारा प्रकाश नष्ट हो जाता है। नागरिकोंके परस्पर सम्बन्ध अस्तव्यस्त हो जाते हैं। सर्वत्र सारे देशमें अस्थिरता पैदा हो जाती है। इसलिये संविधान ऐसा होना चाहिये कि जैसे-जैसे सामाजिक मूल्य बदलें, वैसे-वैसे वह उसके अनुरूप बदलता जाये। इसीलिये, संविधानमें परिवर्तन करनेकी व्यवस्था अथवा प्रक्रिया जैसे सीधी और सरल नहीं होनी चाहिये वैसे ही वह अतनी क्लिष्ट भी नहीं होनी चाहिये कि उससे विफलताकी भावना पैदा हो। इस तराजूपर यदि हम हमारे संविधानको तौलें तो ऐसा लगेगा कि वह ठीक है और उसपर गर्व किया जा सकता है।

प्रश्न—यदि आधे प्रान्तीय राज्य किसी सुधारको मंजूर न करें तो क्या होगा ?

अुत्तर—अिसका अर्थ यही है कि देशके बहुमतको वह चीज मंजूर नहीं है, अिसलिये उसके सम्बन्धमें अधिक प्रचार किया जाना चाहिये। अिसके विपरीत यदि संविधानमें जबरदस्तीसे परिवर्तन किया जाये तो यह काम कुछ लोगोंकी जिद्दको अधिक लोगोंपर लादनेवाला हो जायेगा। तब ऐसा राज्य जनतान्त्रिक राज्य नहीं रहेगा।



५.

जनतन्त्र और दल

जनतन्त्रात्मक राज्यका अर्थ है कि उसमें जो कारोबार चलेगा, वह लोकमतके अनुकूल होगा और चूंकि देशभरके सब लोग एक जगह अिकट्ठा नहीं हो सकते, इसलिये उनके प्रतिनिधि एक जगह अिकट्ठे होंगे और यह कहेंगे कि लोग क्या चाहते हैं। जनता अपनी अिच्छाओं आजकल सभाओं और समाचार-पत्रोंके द्वारा प्रकट करती रहती है। देशभरमें वाद-विवाद चलते हैं, छोटी-मोटी सभाओं हुआ करती हैं, सार्वजनिक चर्चाओं होती हैं, नियमित समुदायों एवं संघोंकी बैठकें होती हैं, बड़े-बड़े प्रश्नोंपर सोचा-विचारा जाता है। जनताके राज्यका अर्थ है : जनताके मतानुसार चलनेवाला राज्य। जनताका क्या मत है, इसे जाननेके लिये चर्चाओं और वाद-विवादोंकी आवश्यकता होती है। जनतन्त्रमें बड़े-बड़े प्रश्नोंपर छोटी-छोटी पुस्तिकाओं निकाली जाती हैं और लोग प्रश्नोंको ठीकसे समझ सकें, इसलिये कभी व्यक्ति अपने विचार लिखकर अथवा बोलकर प्रकट करते हैं। इस तरहसे चर्चा करनेकी आजादी जिसमें नहीं रहती, वह जनतन्त्रात्मक राज्य-

व्यवस्था नहीं कही जा सकती। या यों कहिये कि जनतन्त्रकी आत्मा चर्चा, परस्पर वाद-विवाद तथा विचार-विनिमयमें निहित रहती है; और यदि यह सब खुलेआम न हो सके, तो जनतन्त्रके सिद्धान्त बल नहीं पकड़ सकेंगे। इसी कारण जनतन्त्रमे चर्चाका महत्व है और भाषण तथा लेखन-स्वतन्त्रताको जनतन्त्रमे मूलभूत स्वतन्त्रता माना गया है। जब अेक विषयके विचारम कम-से-कम दो दृष्टिकोण होते हैं, तभी चर्चा सम्भव होती है। जब तक सबने यह नहीं मान लिया कि पृथ्वी गोल है, वह चर्चाका विषय बना रहा। दो मनुष्योंके अेकत्र आनेपर यदि अुनके मत पूरे मिल जाते हैं तो अुनमें चर्चा नहीं होगी। जब अेक व्यक्ति अेक बात कहता है और दूसरा दूसरी, तब चर्चा चल पड़ती है। हर मनुष्य अपने मनमें, किंचित ही सही, कुछ-न-कुछ विचार अवश्य करता है और अुसका अपना मत भी होता है। कम-से-कम वह अितना तो कहता है कि रावजी पाटिल जो कहते हैं, वह सच है। जब वह यह कहता है तब अेक प्रकारसे वह अपना अभिप्राय ही व्यक्त करता है। मनुष्य बोलना चाहता है। अुसकी अिच्छा होती है कि वह अपना दुःख किसीसे कहे। अैसा करनेमें अुसे सुख मिलता है। अपने पराक्रमकी बातें भी मनुष्य थोड़ी-बहुत दूसरोसे कहता है। मनके विचारोको प्रकट करनेकी यह क्रिया अुसके लिये अन्न-वस्त्रकी तरह आवश्यक और ब्वासोच्छ्वासकी तरह स्वाभाविक है। अिस क्रियासे अुसके व्यक्तित्वका विकास होता है, अुसे वह प्रगति करनेकी चेतना देती है। जैसे नया कपड़ा पहनकर अथवा स्वच्छ और अपटुडेट पोशाक डटाकर मन खुश होता है, अुसी तरह जब मनमे नया विचार आता है अथवा किसी पुराने विचारका कोअी नया पहलू स्पष्ट हो अुठता है, या अेकाध सुन्दर कल्पना अुभरने लगती है अथवा कोअी आकर्षक शब्द गूँजने लगता है, तो मनुष्यके जीवनपर अेक निराली छटा छा जाती है और अुसमें अेक नअी प्रभाके दर्शन होने लगते हैं। तात्पर्य यह कि मनके विचारोको अथवा भावनाओंको प्रकट करनेकी पूरी स्वतन्त्रता रहनेपर जैसे व्यक्तिका जीवन खिल अुठता है, वैसे ही समाज-जीवन भी प्रफुल्लित होता है। सिर्फ यही नहीं, चर्चा-मार्ग-दर्शन करनेवाली घटना सिद्ध होती है। “वाद-वादे जायते तत्वबोधः”—यह सच है। वाद-विवादमें गला सूखता है, पर तत्वबोध भी होता है। किस समय क्या करना ठीक

होगा, जिस विवेकका अुदय भी वाद-विवादसे होता है। जिसलिये राज्यमें प्रत्येक व्यक्तिको भाषण-स्वातन्त्र्य और संगठन-स्वातन्त्र्यके अधिकार मिलने चाहिये। यदि मनको विचारशील होना है, और आचरणको विवेकशील, तो यही एक मार्ग है। प्रत्येक विषयको अलग-अलग पहलुओंसे देखने और अनुपर विचार करनेके बाद ही उसका मूल्यांकन होना चाहिये। किसी भी विषयकी पूरीवषा उसके सब पहलुओंको जाँचनेके बाद ही की जानी चाहिये। महावस्त्र * की परख करते समय उसकी तहें खोली जाती हैं, उसका पोत देखा जाता है और तब वह अच्छा है या बुरा जिसका निर्णय किया जाता है। जिस क्रियामे कभी दृष्टिकोणोंका समावेश होता है। यदि किसी विषयको चर्चाका विषय बनाना हो तो यह जरूरी है कि कोभी उसे अपस्थित करे। जब विचार करते समय उसके सम्बन्धमें अनेक दृष्टिकोण तथा मत-मतान्तर सामने आते हैं, तभी उसपर चर्चा सम्भव होगी। एक कहे और सब सुनें, यह जनतन्त्र नहीं है। “एक ही कल्पना” जनतन्त्रके विरुद्ध है। जनतान्त्रिक राज्य ‘एक कल्पनावाला राज्य’ (One Idea State) नहीं है। अनेक कल्पनाएं, अनेक विचारधाराएं, अनेक दृष्टिकोण और अनेक मत—इन सबको जो सँभाल सके वही राज्य जनतान्त्रिक राज्य है।

अभी बताया जा चुका है कि चर्चा जनतन्त्रका प्राण है और चर्चाका अर्थ है भाषण-स्वातन्त्र्य। हरएकको स्वतन्त्रता रहती है कि वह कानूनकी मर्यादामें रहकर दूसरोंके विचारोंको अपने अनुकूल बना ले। जिसका अर्थ यह हुआ कि अलग-अलग विचारोंके कारण अलग-अलग दल पैदा होते हैं। मेरे मनमें जब तक कोभी एक विचार है, तबतक उसपर मेरा अपना स्वामित्व है, मेरे मनके राज्यमें मैं ही एक हूँ। लेकिन जब मैं अपने विचार दूसरोंके आगे रखता हूँ उसी समय मेरा विचार सिर्फ मेरा न रहकर समाजका हो जाता है; तब वह सामाजिक सृजन या उत्पादन (Social Product) बन जाता है। यदि हमारे—दो व्यक्तियोंके—मत भिन्न-भिन्न होंगे तो चर्चा होगी;

* महावस्त्र—महाराष्ट्रमें पूजा, होम, यज्ञ तथा तदुपरान्त भोजनादिके समय देह-शुद्धिकी दृष्टिसे कमरमें धोतीकी जगह, विशेष रूपसे ब्राह्मणों द्वारा परिधान किया जानेवाला बेशकीमती रेशमी वस्त्र। —अनु०

हम दोनों तब अपने-अपने मतोंका प्रचार करेंगे। मैं अपना मत माननेवालोंको अिकट्ठा करूँगा; दूसरा उसके मत माननेवालोंको करेगा। यह जो विचारोंकी अभिव्यक्तिका स्वातन्त्र्य है तथा उसके कारण जो चर्चा, वाद-विवाद और विचारोका विनिमय होता है, उससे सामाजिक मन मुक्तताका अनुभव करता है, इसमें उसमें प्रसन्नता आ जाती है। देशके सामने जो प्रश्न है, उनपर जब विचार किया जाता है, तब उनसे सम्बन्धित अनेक दृष्टिकोण जनताके सामने आते हैं; कभी विचार-प्रणालियाँ, बहुतसे दृष्टिकोण और सामाजिक अथवा राजनैतिक प्रश्नोंको हल करनेकी दृष्टिसे सुझावे गये अनेकों अपाय समाजके सामने रखे जाते हैं। तब सामान्य जनताको उनमेंसे किसी एकका निर्वाचन करना पड़ता है। हुकुमशाहीमें जनताको सरकारकी बातोंको मानना पड़ता है, उसके आगे सिर झुकाना पड़ता है; परन्तु जनतन्त्रमें जनताको निर्वाचन करनेका, चुनकर देनेका गौरव प्राप्त होता है। जनतन्त्रका अर्थ है अपनी मर्जीसे किया हुआ चुनाव, न कि किसी अन्यकी चुनी हुअी बातको सिर झुकाकर स्वीकृति (Democracy is a choice & not something chosen)। या यूँ कहिये कि अपनी मन-पसन्द लड़की या लड़केसे विवाह, किसी ओरके द्वारा चुनी-चुनाओसे नहीं। हमारे जमानेमें माँ-बाप द्वारा चुनी हुअी लड़कीसे शादी करनी पड़ती थी अथवा जिन्दगीभर हनुमान (ब्रह्मचारी) बनकर रहना पड़ता था, लेकिन अब ऐसा नहीं है। पहले ऐसा था कि या तो राजसत्ताकी बात मानो अथवा जेल जाओ। लेकिन अब वैसा कुछ नहीं है। जो मनमें आये, राजसत्ताके विरोधमें बोलो, अनशन अथवा भूख हड़ताल करो, बीच-बीचमें राजनैतिक स्वास्थ्य ठीक रखनेके लिये अथवा राजनैतिक बदहजमीको दूर करनेके लिये सत्याग्रह करो। यह सब अब धड़ल्लेसे चलता है। कारण, जनतन्त्र याने भाषण-स्वातन्त्र्य, चर्चा और संगठन-स्वातन्त्र्य। अकेले विचारको दूसरेने सुना, उसने तीसरेसे चर्चा की और तब उस चर्चाकी लहरें समाज भरमें फैल गयीं। प्रशान्त सरोवरमें यदि एक पत्थर फेंको तो उससे उसमें सिर्फ एक ही लहर पैदा नहीं होगी; उसमें लहरपर लहर उठती जायेगी और चारों ओरसे किनारेपर पहुँचने लगेगी। जैसे-जैसे फेंके हुअे पत्थरका घातवेग (Impact) कम होता जायेगा, वैसे-वैसे उनकी गति भी कम होती

जायेगी। यही क्रिया—जब कोसी नया विचार समाजमें फँका जाता है, तब होती है। इस प्रकारसे चर्चाकी क्रिया जब चलती है तो अेक विचारवाले मनुष्य अेक जगह होते हैं; और चूँकि जनतन्त्रमें संगठन-स्वातन्त्र्य रहता है, इसलिये अेक-से विचारवाले संगठित हो जाते हैं—इस प्रकार समाजके क्षेत्रमें जिसे हम दल या पार्टी कहते हैं, उसका निर्माण होता है। दलका सम्बन्ध दृष्टिकोणसे, कार्य-पद्धतिसे रहता है।

चर्चाके लिये जैसे कम-से-कम दो दृष्टिकोणोंकी आवश्यकता रहती है, वैसे ही जनतान्त्रिक व्यवस्थामें कम-से-कम दो दलोंकी आवश्यकता होती है। दृष्टिकोणका संगठित स्वरूप दल है; यदि दृष्टिकोण आत्मा है तो दल शरीर है। जनतन्त्र मत देनेवालों तक ही सीमित नहीं रहता। जनतन्त्र याने चर्चा, वाद-विवाद—सब जगह, कल्पनासे लेकर कार्य तक, और जो कार्य हो गया है उसके मूल्यांकनके लिये भी। मतोंके अनुसार संगठन बनते हैं, दल बनते हैं। प्रत्येक दलकी इच्छा रहती है कि उसे सत्ता प्राप्त हो और अपने कार्यक्रमपर अमल करनेका अवसर मिले। उसके लिये वह आकाश-पाताल अेक करता रहता है। प्रत्येक दल यह दावा करता है कि उसकी विचारधारा अचूक है, उसका कार्यक्रम देशको अुभार लेगा, सुधार देगा आदि। व्यक्तिगत हठीलापन दलके संगठनमें सुसंस्कृत बनकर सिद्धान्त-वादिताके नामसे गौरवान्वित होता है। वाद-विवादके लिये जैसे दो व्यक्तियोंकी आवश्यकता रहती है, वैसे ही जनतन्त्रके लिये आपसी चर्चा आवश्यक है। वाद-विवाद, चर्चा, लोकशाहीकी आत्मा है, उसका जीवन है, और इसलिये जनतन्त्रमें दो दल अवश्यमेव चाहिये। या यों कहिये कि दो दल, कम-से-कम दो दल, जनतन्त्रके फेफड़े (Lungs) हैं। इनके बिना उसका जीवन सम्भव नहीं। चर्चा करते समय हर प्रश्नके सम्बन्धमें दलको अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करना पड़ता है। इसका मतलब यह हुआ कि हर दलको अपना कार्यक्रम तैयार करना पड़ेगा और उसे जनताके सामने रखना पड़ेगा। इसके लिये विचार आवश्यक है। प्रत्येक दल विचारोंका, दृष्टिकोणोंका अेक भांडार होता है। भांडार (Store) का सामान जितनी सुन्दरतासे सजाया जाता है, ग्राहकोंका आकर्षण उसके प्रति अतना ही अधिक रहता है। अैसा ही कुछ राजनीतिमें भी होता है।

यह प्रत्येक दल चाहता है कि चुनाव जीतें जायें, बहुमत प्राप्त किया जाये, अधिकारारूढ़ हुआ जाये, अपने कार्यक्रमको विधान सभाके सामने उपस्थित कर तदनुसार कानून बनवाये जायें और फिर शासन-व्यवस्थाके द्वारा अनुपर अमल कर जन-सेवा की जाये। चुनाव याने स्वयंवर। चुनावके विवाह-मंडपमे कौन-कौन आये है, इसका वर्णन स्वयं वर महोदय ही करते हैं। वहाँ कोअी तलवार नही अुठाता; हाँ, कभी-कभी पत्थर जरूर बरसते हैं; लेकिन मुख्य बात जनताको खुश करनेकी होती है। दूसरे दलोसे मेरा दल श्रेष्ठ है, यह बात जनताको समझानी पडती है। जनतासे राक्षस विवाह नही किया जाता है, प्रेम-विवाह किया जाता है। इसलिये प्रत्येक दलको अुसे अपना कार्यक्रम समझाना चाहिये, और अुसे प्रत्येक दलका अितिहास मालूम होना चाहिये। निर्वाचनके लिये जिस ज्ञानकी और अभिप्राय व्यक्त करनेकी योग्यता आवश्यक है, वह जनताके पास रहनी चाहिये; और यह सब शिक्षा जनतन्त्रमे जनताको राजनैतिक दल दिया करते हैं। जिस राज्यमे तानाशाही रहती है, वहाँ वाद-विवाद नही होता, चर्चा नहीं होती; अुसमे तो किसी व्यक्तिकी अथवा दलकी बातको सिर्फ मानना ही पडता है। अलग-अलग विचार-धाराओंको वहाँ स्थान नही रहता, प्रश्नके विविध दृष्टिकोणोपर कोअी सोचता नही, अथवा इस तरहसे सोचनेका मौका ही नही मिल पाता। वहाँ आलोचना करना सम्भव नहीं, क्योकि आलोचनाको राज-द्रोह माना जाता है, देश-द्रोह समझा जाता है। इस परिस्थितिमें वहाँ कोअी राज्य-व्यवस्थाके दोष दिखानेवाला नही रहता, निन्दक तो रहते ही नही। जनताका मत अथवा जनताके मताधिकारकी बात वहाँ अप्रस्तुत रहती है। जनतन्त्रमे हर अेक व्यक्तिको अपनी बात कहनेकी छूट रहती है। राज्यके नागरिक राज्य-कारोबारके दोष दिखाते हैं; और चुंकि राज्य करनेवालोंको फिरसे चुनकर आनेकी अच्छा रहती है, इसलिये वे अुन दोषोंको दूर करनेकी कोशिश करते हैं। मनके बारेमे हम कहते हैं कि मनमें द्विविधा अुत्पन्न हो गयी। जनतन्त्रमे सामाजिक मनमे द्विविधा अुत्पन्न करनेकी क्रिया दलों द्वारा की जाती है। जनताको विवेककी राह मिले, अुसे खतरे कम अुठाने पडें, पर अधिक प्रगति हो, इसीलिये दल आवश्यक होते हैं।

मैं यह बता चुका हूँ कि दो दल—एक सत्तारूढ़ और दूसरा विरोधी, रहना ही चाहिये। क्रिकेटके खेलमें दो पक्ष (Teams) रहते हैं। बगैर दो पक्षोंके क्रिकेट मँच सम्भव नहीं; उसी तरह सरकारी दल और विरोधी दल यदि न हों, तो जनतान्त्रिक राज्यका अस्तित्व सम्भव नहीं होता। जनतन्त्रमे ऐसा कोअी पक्षका आश्वासन नहीं रहता कि जो अेक बार सत्ताधीश बन गअे, वे हमेशा सत्ताधीश बने रहेगे। निश्चित समयके बाद अुसमे चुनाव होने ही चाहिये और वे भी अनिर्बन्ध तथा खुले वातावरणमें। असका अर्थ यह हुआ कि जनतन्त्रमे हमारा राज्य कौन चलाअे, असका निर्णय करनेका जो अधिकार जनताको दिया गया है, अुसके अुपयोगका मौका अुसे बराबर मिले। जो आज विरोधी दलमे है, वे भी सत्तारूढ़ हो सकें, ऐसा अवसर अुन्हें कानूनन प्राप्त होना चाहिये। सत्तारूढ़ होनेपर ही जिम्मेदारीका भाव आता है; तब आलोचना सयम-पूर्ण होती है, अुसमे विधायकता आने लगती है। यदि मौका ही नहीं मिले तो जैसे व्यक्तिके सम्बन्धमे होता है, अुसी तरह दल भी विफलताकी भावनासे ग्रसित हो जाता है और तब वैध व प्रचलित मार्गको छोडकर वह अन्य मार्ग या अुपायोंको सोचने लगता है; पर मतदाता ही यदि अुसे चुनकर न भेजे तो अुसे चुप बैठना पड़ता है। यदि चुनावमें कालावाजार होता हो, तो मन सहज रूपसे चिड जाता है और जो संविधान अन्यायसे बनता है स्वाभाविकतया अुसे माननेकी ओर वृत्ति नहीं होती और न अुसके प्रति वैसा अुत्तरदायित्व ही महसूस होता है। असलिअे निर्वाचन ठीक ढंगसे और नियमित होने चाहिये। अुसी तरह यदि जनतन्त्रको सफल होना हो तो राज्यके विभिन्न दलोंको मौलिक दृष्टिकोणके बारेमे अेकमत होना चाहिये। जैसे अक्षर ह्रस्व हो या दीर्घ, अनुस्वार अनुच्चरित रहे या अुच्चरित—अिसके बारेमें मतभेद हो सकते हैं, लेकिन मूल लिपि देवनागरी रहे, असपर मतैक्य होना चाहिये। अुसी तरह देशके विकास, नीति, नियम, आर्थिक प्रगति आदिके बारेमे यदि मतभेद हों तो चल सकेगा; लेकिन राज्यके मौलिक तत्व—जैसे कि राज्य प्रजातान्त्रिक रहेगा, अुसमें सार्वत्रिक मतदानका अधिकार रहेगा, जाति, धर्म, लिंग अित्यादिकी दृष्टिसे कोअी भेदभाव नहीं किया जाअेगा, कानूनकी दृष्टिसे सब समान समझे जाअेंगे, अित्यादि के सम्बन्धमें सब दलोंको अेकमत होना चाहिये। यदि अनिके बारेमें अुनमें

मतभेद रहें, और सबसे बड़ी बात—संविधानमें परिवर्तन, उसमें बताये गये तरीकेके अनुसार करनेपर यदि मतभेद हों, तो जनतन्त्र नहीं चल पायेगा। अकाध्या दल अल्पसंख्यक होनेपर भी यदि हिंसा अथवा ज़ोर-जबरदस्तीकी राह ग्रहण कर ले, तो उसका वह काम जनतान्त्रिक नहीं माना जायेगा। जनतन्त्रमें मौलिक परिवर्तन भी जनतन्त्रकी राहसे, जनतान्त्रिक पद्धति तथा प्रक्रियासे होने चाहिये—यह बात सारी जनताको हमें समझानी चाहिये। अपने अत्यन्त क्रान्तिकारी कार्यक्रमको भी लोगोंके गले अतारो, उसपर उनकी अनुज्ञा प्राप्त करो, चुनकर आओ और ससदके माध्यमसे कानून बनाकर संविधानमें परिवर्तन करो। इस दृष्टिसे यदि विचार किया जाये तो जनतन्त्रमें दो दलोंका होना अिष्ट प्रतीत होगा। इसका यह मतलब नहीं कि जनतन्त्रमें अधिक दल नहीं हो सकते। दृष्टिकोण अनेक हो सकते हैं और अनुके अनुसार दल भी अनेक संगठित किये जा सकते हैं; लेकिन दल बनानेका अर्थ है—सामान्य तौरपर एक प्रश्नके बारेमें एक राय रखनेवालोंका संगठन। यदि ऐसा न हो तो बहुत दिनों तक उसका चलना मुश्किल हो जायेगा। दलको देशके सामने कम-से-कम १०-५ सालका कार्यक्रम तो रखना ही चाहिये, और देशके सामने जो सवाल आ रहे हैं, उन सबका विचार उस कार्यक्रममें किया जाना चाहिये, फिर भले ही कुछ बातोंको कम और कुछको अधिक महत्व दिया जाये। भोजन जिस तरह सिर्फ भात या सिर्फ दालका नहीं होता, उसी तरह दलमें एक ही समस्यापर ज़ोर देनेसे काम नहीं चलता। कारण, जनताकी आवश्यकताएं विविध होती हैं। सामान्यतः सर्व-संग्रह बुद्धिसे दलको अपना कार्यक्रम निश्चित करना पड़ता है; और ऐसा कार्यक्रम तथा उसपर आधारित दल ही एकमुखी, संगठित और सामर्थ्यवान हो सकता है। जो दल बहुमतसे चुनकर सत्तापर आया है, वही यथार्थ रूपसे जनतान्त्रिक राज्यको चला सकता है। दो दलोंकी युतिसे भी बहुमत बन सकता है और सत्ता प्राप्त की जा सकती है; लेकिन चूंकि चुनावमें ये दल अलग-अलग खड़े होते हैं और जनताके अलग-अलग हिस्से उन्हें उनके कार्यक्रमोंके अनुसार अलग-अलग समर्थन प्रदान करते हैं इसलिये इस तरहसे एकत्रित दलके पास बहुसंख्यक जनताका एकमुखी आदेश नहीं होता। एकत्रित आनेवाले अिन दोनों दलोंने जनतासे अलग-अलग आदेश प्राप्त किये थे, पर सत्ता

प्राप्तिके लिये वे समझौते द्वारा अेकत्रित हो गये हैं। समझौतेका अर्थ होता है, स्वार्थोंकी जोड़-तोड़ और तत्वोंकी हानि। यह अनुभव है अिसीलिअे यदि जनतान्त्रिक राज्यको जनतान्त्रिक रूपमें चलाना हो तो अेक ही दलको सत्ताधीश बनाना चाहिये, तभी जनता अुससे ठीकसे जवाब-तलब कर सकती है। जब किसी अेक दलका निर्णायक बहुमत नहीं होता, तब शासन चलानेकी जिम्मेदारी सबसे बड़े दलकी रहती है, पर सत्ता दूसरोके हाथमें रहती है। संमिश्र सत्ताधारी दलमें जो अधिक-से-अधिक छोटा दल होता है, वही अुस समीकरणके सबसे बड़े दलकी नीति निश्चित करता है; क्योंकि अुसे नाराज करनेसे अुस बड़े दलका बहुमत खतम हो जाता है। अिसलिअे अिस तरहकी परिस्थितिका पैदा होना ठीक नहीं। पासग कांटेको ही न अुलट दे, अिस सिद्धान्तानुसार सत्ताधारी दल अेकेला और पूर्ण बहुमतवाला होना चाहिये। अिसी तरह विरोधी दल भी अेक ही हो तो अच्छा।

विरोधी दलको अक और संगठित रहना चाहिये। अनेकों दल वे सत्ता-रुढ़ नहीं हैं, अिसीलिअे यदि सरकार-विरोधी बन जाअे तो सच्चे व अर्थपूर्ण जनतन्त्रका अनुभव नहीं हो पाअेगा। यह सच है कि विरोधी दलका काम सरकारका विरोध करना है, लेकिन यदि विरोधी दलको अथवा दलोंको सत्तारुढ़ होनेका मौका ही न मिले तो सत्ताधीश दल मदोन्मत्त हो सकता है। अिसीलिअे विरोधी दल अवश्यक है; पर विरोधी दलको अिस तरहकी आलोचना नहीं करनी चाहिये कि जो सत्ता प्राप्त होने पर अुसपर ही अुलट जाअे। जब कोअी दल राज्य चलाकर देख लेता है तब अुसकी जीभपर, किंचित ही क्यों न हो, लगाम लग जाती है। जब सत्ता प्राप्त होती है तो मन विकृत हो जाते हैं। लेकिन, लोकशाहीमें सत्ता निरपेक्ष रूपसे और अमर्यादित नहीं मिलती; अुसमें सत्ता-प्राप्ति मर्यादित समयके लिये होती है। जनतन्त्रमे यह जरूरी है कि आम चुनाव निश्चित मियाद खतम होते ही किअे जाअें तथा सत्तारुढ़ होनेके लिये लोकमत अनुकूल रहे। सत्ताका अुपयोग यदि स्वार्थकी दृष्टिसे किया गया अथवा जनतामें किसी कारणसे दलके प्रति कषोभ पैदा हो गया तो जनमत हमारे विरुद्ध हो जाअेगा, यह ज्ञान स्वाभाविक रूपसे हर सत्तारुढ़ दलको बना रहता है और विरोधी दल अिस प्रकारकी अनुभूतिको

जगाते रहता है। विरोधी दलको यह देखते रहना चाहिये कि सत्ताधीश दलका कारोबार वैध और नीतियुक्त रहे। साथही सत्तारूढ़ दलको भी इस बातकी सावधानी बरतनी चाहिये कि उसका कारोबार अकांगी और अतिरेकी न बनने पाये। उसे इस तरहकी सावधानी बरतनेके लिये विवश करना विरोधी दलका नैतिक, और वैधानिक, कर्तव्य-कर्म है। यह काम उसे विधान-सभामें और बाहर भी ठीकसे करते रहना चाहिये। यह काम प्रभावशाली ढंगसे हो सके इसलिये सिर्फ अकेले ही विरोधी दलका रहना अधिक अिष्ट है। संयुक्त मोर्चेका आयोजन अकाध प्रश्नको लेकर कुछ देरके लिये किया जा सकता है। लेकिन यह मोर्चा अथवा फ्रंट (Front) कृत्रिम बन्धनोसे बाँधकर खड़ा किया जाता है। दल याने यन्त्र (Machine), संगठन और ध्येय; संयुक्त मोर्चेमें यन्त्र नहीं रहता, स्थिर संगठन नहीं रहता और ध्येय अकेले रहनेपर भी उसके लिये वास्तविक आत्मीयता नहीं रहती। राजनैतिक सुविधाके लिये, राजनैतिक सत्ता हथियानेके लिये अथवा सत्तारूढ़ दलको नीचे खींचनेके लिये अैसे मोर्चे बनाये जाते हैं। यदि कृत्रिम मूँछे लगाकर मरदानगीका प्रदर्शन करना हो तो अन्हे ठिकानेपर रखनेके लिये हाथका अुपयोग करना पड़ेगा; लेकिन असली पराक्रमके काममें हाथ ही खाली नहीं रहते। जब संयुक्त मोर्चा सत्तारूढ़ हो जाता है, तब चूँकि राज्य चलानेकी दृष्टिसे उसका ध्येय अकेले नहीं रहता, इसलिये तथा उसकी मशीन भी अकेले ही न होनेके कारण जो दल क्पणिक रूपसे अकत्रित हुअे थे, वे तूफानका अिशारा पाते ही राजनीतिके समुद्रमें अलग-अलग हो जाते हैं और बंट जाते हैं। “साधनानाम् अनेकता” इस सिद्धान्तका तब जोर-शोरसे प्रतिपादन होने लगता है और साधनोंका अभिमान ही साध्य बन बैठता है। तब अुपकरणोंको लेकर ही सिद्धिका आग्रहपूर्वक प्रतिपादन किया जाने लगता है; और इस तरह यह मोर्चा क्पण पड़ जाता है। उस समय दलोमें जो पारस्परिक अन्तर रहते हैं अुनपर तथा मतभेदोंपर जोर दिया जाने लगता है। जब विरोधी दलके रूपमें काम करनेवाले संयुक्त मोर्चेकी अैसी हालत हो जाती है, तब सत्तारूढ़ दल चोर होनेपर भी शाह साबित हो जाता है। इस तरह जनतान्त्रिक व्यवस्थाके आवरणमें अनियन्त्रित सत्ताका “मंत्रोच्चार” होने लगता है। यदि जनतन्त्रको अर्थपूर्ण होना हो तो यह जरूरी है कि विरोधी दल सिर्फ अकेले और संगठित

रहे, उसके ध्येय स्पष्ट हों, उसके कार्यक्रममें अस्त-व्यस्तता न रहे तथा जनताके मनमें उसके स्वरूपके सम्बन्धमें किसी तरहका शक-शुबह न हो।

भारतका जनतन्त्र संसदीय जनतन्त्र है, अमेरिकाके समान वह अध्यक्ष-निष्ठ नहीं है। अर्थात् हमारे यहाँ मन्त्रि-मण्डल लोकसभाके प्रति जिम्मेदार रहेगा और यदि उसके पीछे बहुमत न हो तो उसे अस्तीफा दे देना होगा। तब राष्ट्रपति विरोधी दलको मन्त्रि-मण्डल बनानेके लिये कहेंगे लेकिन गद्दी संभलानेसे पहले वे यह देख लेंगे कि वह दल वास्तविक रूपमें बहुमतवाला दल है या नहीं। अथवा, यदि मन्त्रि-मण्डल सलाह दे तो वे संसदको बर्खास्त कर देंगे। और तब फिरसे आम चुनाव होंगे। जो दल बहुमतमें आयेगा उसको अथवा जो बहुसंख्यक है, पर बहुमतवाला नहीं है, लेकिन जिसके बारेमें वे यह महसूस करते हैं कि वह राज्यका कारोबार चला सकेगा—ऐसे दलको वे मन्त्रि-मण्डल बनानेके लिये आमन्त्रित करेंगे। यह सब संसदीय जनतान्त्रिक व्यवस्था है। अध्यक्षीय जनतन्त्रमें राष्ट्रके मुखियाको—अध्यक्षको सब लोग चुन देते हैं। अध्यक्ष अपने मन्त्रि-मण्डलको नियुक्त करता है। उसमें विधान सभाके सदस्य नहीं रहते और इस योजनाके अनुसार मन्त्रि-मण्डल विधान सभाके प्रति जिम्मेदार नहीं रहता। विधान सभा प्रस्ताव चाहे जो करे, अध्यक्ष महोदय बने रहते हैं; वे भी विधान सभाके प्रति जिम्मेदार नहीं रहते। इस व्यवस्थामें भी दल रहते हैं, लेकिन यहाँ उनकी भूमिका दूसरी रहती है। उनके काम करनेका ढंग निराला होता है। अमेरिकामें अध्यक्षको जनता चुन देती है और वह चार बरस तक कारोबार चलाता है। उसके मन्त्री वहाँकी विधान सभाके सदस्य नहीं रहते, असलिये वहाँ विधान सभाके कामका तरीका दूसरा रहता है। जब विरोधी सामने रहते हैं, तब उत्तरदायित्वकी अनुभूति साक्षात् होती है और साकार दिखायी देती है। चूँकि अध्यक्षीय जनतन्त्रमें अविश्वासके प्रस्तावको जगह नहीं है, असलिये जो आतुरता संसदीय जनतन्त्रकी राजनीतिमें रहती है, वह वहाँ नहीं रहती। संसदीय जनतन्त्रमें विधान-सभाके सदस्योंको अधिक महत्व रहता है। उसमें एक दलके खिलाफ दूसरा दल लगातार लड़ता-भिड़ता रहता है और एक मन्त्रि-मण्डलके जाने और दूसरेके आनेकी सम्भावना प्रत्येक क्षण बनी रहती है। लोकसभा अर्थात् संसद उनकी युद्ध-भूमि होती है, सबको उसका

प्रभुत्व मानना पड़ता है। उसमें प्रश्न पूछे जाते हैं, उत्तर दिऐ जाते हैं, पुनः अप्रश्न अुठाऐ जाते हैं, प्रस्ताव रखे जाते हैं, कानूनके कच्चे मसविदे पेश किऐ जाते हैं तथा अनपर चर्चा होती है। और ये सब काम बड़ी सतर्कतासे चलते हैं। “कः कालः फलदायक” अस न्यायसे कब सत्ताका छीका टूटेगा और कब ताकनेवालेको मक्खन मिलेगा, यह कोअी निश्चित रूपसे नही कह सकता। यह हो सकता है कि जो मन्त्रि-मण्डल आज है, वह कल गिरा हुआ दिखाओ दे; और जनतन्त्रमें ऐसा होना कोअी चमत्कारकी बात नही है। असिलऐ संसदीय जनतन्त्रमे दल सदा तत्पर दिखाओ देते हैं, अुन्हें तैयार रहना ही पड़ता है। अध्यक्षीय जनतन्त्रमे चुनाव निश्चित समय तक नही होते। संसदीय जनतन्त्रमे ऐसा नही होता। वहाँ मन्त्रि-मण्डलके विरुद्ध अविश्वासका प्रस्ताव पास हो जानेपर मन्त्रिमंडल और ससदको बर्खास्त करने तथा फिरसे चुनाव करनेकी सलाह अध्यक्षको माननी पड़ती है। संसदीय जनतन्त्रमें मन्त्रि-मण्डल चुनावोंकी याद क्षण भर भी नही भुला सकता। उसमें अपुचुनावोंका भी महत्व होता है, अुनके जरिऐ लोकमतकी हवा किस ओर बह रही है यह ज्ञात होता है। अनेक बार अपुचुनाव मन्त्रि-मण्डलको जड़से अुखाड़ देते हैं और वह गिर पड़ता है। अिन सब कारणोंसे जनतन्त्रमें याने संसदीय जनतन्त्रमे दलका बहुत अधिक महत्व रहता है। यह बात नही कि अध्यक्षीय जनतन्त्रमें दलको महत्व नही रहता; लेकिन अस मन्त्रि-मण्डलको अुड़ा दो, अुसे नीचे गिरा दो—ऐसा कुछ वहाँ नही चल सकता। अेक बार जनता अध्यक्षको चुन देती है; अुसके बाद चार साल तक वह अचल हो जाता है। अध्यक्ष स्वयं मन्त्रियोंकी नियुक्ति करता है और अुसीकी अिच्छा-नुसार मन्त्रियोंको चलना पड़ता है। मन्त्रि-मण्डलके नामपर जो नीति विधान-सभाके सामने आती है, वह अध्यक्षकी नीति होती है। विधान-सभामें अुस नीतिमें परिवर्तन हो जानेपर या अुसके अमान्य कर दिऐ जानेपर भी अध्यक्ष अिस्तीफा नही देता। मन्त्रि-मण्डलके अिस्तीफेका तो सवाल ही पैदा नहीं होता। अस हालतमें वहाँके दल अध्यक्षके चुनावमें अपनी सब शक्ति केन्द्रित कर देते हैं। वहाँ अध्यक्ष राजनीतिका प्रभावपूर्ण केन्द्र होता है, मन्त्रि-मण्डल नही। लेकिन संसदीय जनतन्त्रमें मन्त्रि-मण्डल प्रभावपूर्ण केन्द्र अथवा बिन्दु होता है। वह नीति निश्चित करता है, अुसपर अमल

करता है। मन्त्रि-मण्डलके पीछे उसके दलकी सारी शक्ति लगी रहती है। अध्यक्षीय जनतन्त्रमें अध्यक्षके व्यक्तित्वको अधिक महत्व रहता है, संसदीय जनतन्त्रमें दलके संगठनको और उसके कार्यक्रमको। संसदीय जनतन्त्रमें जिस मन्त्रि-मण्डलको गिराना होता है, वह कभी भी किसी भी क्षण बुझाया जा सकता है; लेकिन अध्यक्षीय जनतन्त्रमें निश्चित समय तक अध्यक्षको बदलना सम्भव नहीं होता।

अब तक यह बताया गया है कि जनतन्त्रमें दल क्यों आवश्यक है और बिना उनके उसे नैतिकता प्राप्त क्यों नहीं होती। मनमें अनेक विचार आते हैं, लेकिन बुद्धिमान मनुष्य अकदम उनके अनुसार आचरण नहीं करता। वह कम-ज्यादा, कुछ और अधिक सोचता है। यही कम-ज्यादा, कुछ और अधिक सोचनेका काम दल समाजके सम्बन्धमें किया करते हैं। *Second thoughts are best*—दुबारा हम जब सोचते हैं तो हमें बेहतर बात सूझती है। इसलिये राजनैतिक मानस-शास्त्रकी दृष्टिसे देशमें राजनैतिक दलोंका रहना श्रेयस्कर है। जनतन्त्रमें तो उनका होना नैतिक दृष्टिसे भी आवश्यक है। पर संसदीय जनतन्त्रकी अलुक्रुष्ट कार्यनिष्पत्तिमें कभी दलोका अस्तित्व बाधक बन जाता है। दो ही दल—एक सत्तारूढ और दूसरा विरोधी, हो तो जनतन्त्र अच्छा-भला दिखायी देता है; उसका जीवन प्रफुल्लित एवं समृद्ध बनता है। स्वतन्त्रता और सत्ता दोनोंके बीच सतत लेकिन सुषुप्त विरोध चला करता है। यदि सत्ताको एक बार राजनैतिक तथा कार्यपालिकाका कुछ क्पेत्र मिल जाता है, तो उसे वह मुश्किलसे छोड़ती है। इसलिये, यदि जनतन्त्रको स्वस्थ रखना हो तो नागरिकोंको सतत जागृत रहना चाहिये। यह विलकुल ठीक बात है कि जो सजग है, वही जिन्दा रहता है। कभी बार ऐसा होता है कि अधिकारारूढ दल अपने अच्छे कारोबारके कारण फिर-फिरसे चुन दिये जाते हैं। लेकिन अधिक व्यापक दृष्टिसे सोचा जाये तो ऐसा होना भी बहुत अच्छा नहीं है। जैसे सूर्य और अन्य प्राकृतिक वस्तुओं जीवनके लिये आवश्यक हैं, वैसे ही राजनैतिक जीवनके लिये एक प्रकारका संघर्ष, एक प्रकारकी निःस्पृहता आवश्यक रहती है। आम तौरपर सत्ता मिल जानेके बाद मनुष्यको ऐसा लगता है कि जीवन सार्थक हो गया; जिस प्रकार कि माँ बन जानेके बाद स्त्रीके मनमें समृद्धताकी

भावना उत्पन्न हो जाती है। इस दृष्टिसे यदि बहुत दिनों तक विरोध ही करते रहना पड़े तो सतत अपूर्णता और असफलताके कारण मनुष्य किंचित विकृत मनवाले बन जाते हैं। तब जैसे पुराने कपड़े त्याग कर नए कपड़े पहने जाते हैं, उसी प्रकार कुछ लोग एक दलको छोड़कर दूसरेमें चले जाते हैं। कुछ स्थिर-बुद्धि, दृढ़-निश्चयी और दृढ़-श्रद्धायुक्त मनुष्य अपनी भूमिकाको नहीं छोड़ते। जनता ऐसे लोगोंका आदर करती है, लेकिन उनकी अनुगामी नहीं बनती। एक ही दल जब बहुत समय तक सत्तारूढ़ रहता है तब जैसे कि पहले कहा गया है, उसमें सत्ताके कारण लालच पैदा होता है और दलका हित ही देशहित है, ऐसा वह महसूस करने लगता है। सरकारी कर्मचारीको इसीलिए बहुत दिनोंतक निश्चित वर्षोंसे अधिक एक जगह नहीं रखा जाता। वैसे ही निश्चित समयसे अधिक किसी सत्तारूढ़ दलका अधिकार-पदपर रहना भी अिष्ट नहीं है। लेकिन जनतन्त्रमें प्रायः ऐसा नहीं होता। यदि सत्तारूढ़ दल निर्वाचन-तन्त्रका और चुनाव-यन्त्रका उपयोग अपनी गद्दी बरकरार रखनेके लिये इस तरहसे करे कि चुनाव अनिर्बन्ध और मुक्त वातावरणमें न हो सकें, तो जनतन्त्र सिर्फ लेबलवाला, बनावटी और धोखाधड़ी हो जायेगा। तब वह दल तानाशाही दल बन जायेगा। किसी एक व्यक्तिकी तानाशाही उस व्यक्तिकी फैसला होते ही खतम हो जाती है; पर दलकी तानाशाही खतम नहीं होती, वह अधिकाधिक तीव्र एवं तीखी होती जाती है। तानाशाही हमेशा बुरी होती है, लेकिन बहु-संख्यकोंकी तानाशाही असह्य होती है; कारण जब उसके विरोधमें हिंसात्मक तरीके आजमाये जाते हैं तब उसकी ओरसे—सत्तारूढ़ दलकी ओरसे उससे भी अधिक हिंसा या जोर-जुलमका उपयोग होता है। परिणाम-स्वरूप, विरोधियोंका नामो-निशान मिट जाता है। जब सत्तारूढ़ दल अपने पक्षमें जबरदस्ती मतदान करवानेके मार्गपर चलता है, तब उसके खिलाफ अहिंसात्मक विरोधका कोई नतीजा नहीं निकलता; और तब लोगोंके मन और तन दोनों मृतवत बन जाते हैं। फिर भी जनतन्त्रमें तानाशाहीसे टक्कर लेनेके लिये, नागरिक स्वतन्त्रताको सुरक्षित रखनेके लिये, राज्यके कारोबारमें सन्तुलन लानेके लिये, अथवा देशकी प्रगति ठीक राहपर होती रहे इसलिये, विरोधी दलका अस्तित्व आवश्यक है। जैसे, यदि विष्णुके सामने गरुड़ अथवा कच्छप (कछुआ) न हो,

तथा शंकरके आगे नन्दी न हो तो मन्दिर पूर्ण नहीं होता, देवता अपूर्ण रह जाते हैं; वैसे ही जनतान्त्रिक सत्ताके सामने अथवा सत्तारूढ़ दलके विरोधमें सचको अभिव्यक्त कर उसपर निःस्पृहतासे हाथ अँचा करके अमल करनेवाला—हाथ जोड़कर खड़ा रहनेवाला नहीं—दल चाहिये। डमरूकी आवाजपर नन्दीबैलके समान सिर हिलानेवाले दलकी जनतन्त्रमें आवश्यकता नहीं है; मौका आनेपर सुन्दर दिखनेवाले सींगोंका प्रयोग शक्तिके प्रभावशाली शस्त्रोंकी तरह करनेवाले दलकी उसे आवश्यकता है। उसी तरह, विरोधी दलको भी जनताका समर्थन प्राप्त रहना चाहिये। जनतन्त्रमें सिर्फ सरकार-नियुक्त अथवा अधिकारके कारण बने हुए सदस्य विरोधी दलका काम नहीं कर सकते। देशकी प्रगति—स्थायी प्रगति—दोनों दलोंकी ऐक्यताकी भावनापर अवलम्बित रहती है और इस ऐक्यताकी भावनाका निर्माण विचार-विनिमय द्वारा, चर्चा द्वारा, धीरे-धीरे, लेकिन सतत होते रहता है। समृद्धिका भवन मिल-जुलकर, ऐक्यताकी भावनापर खड़ा किया जाता है। परिणाम और प्रक्रिया—दोनों दृष्टिओंसे, जनतन्त्रमें दलोंकी आवश्यकता रहती है। अलग-अलग दृष्टिकोणका अर्थ अलग-अलग जीवन नहीं; उसी तरह मतोंके विभाजनका अर्थ देशका विभाजन नहीं है। मत देनेकी राह विनाशकी राह न बने, इस बातका ध्यान जनतन्त्रमें सबको रखना चाहिये। दल आवश्यक हैं, पर पार्टीबाजी आवश्यक नहीं। जहाँ एक ही दल है, वहाँ जनतन्त्र नहीं रहता, उसका चलना सम्भव नहीं हो पाता; और जहाँ अनेक दल हों और पार्टीबाजी हो, वहाँ भी सच्चा जनतन्त्र नहीं चल सकता।



६.

नागरिक स्वातन्त्र्य

संविधानकी रचना और स्वरूपवाले व्याख्यानमें मौलिक अधिकारोंका थोड़ा अल्लेख किया जा चुका है। जब हम कहते हैं कि राज्य नागरिकोंका है, तो राज्यमें उनका स्थान, उनकी भूमिका, उनके कर्तव्य और अधिकार हमारे लिये प्रस्तुत विषय बन जाते हैं। जहाँ जनतन्त्र नहीं है, वहाँ राज्य-व्यवस्थामें कोई नागरिक है, यह भावना ही नहीं होती। वहाँ यही भावना रहती है कि अितने साँचे हैं जिन्हें जोड़ना है, अितने दो पैरवाले जानवर हैं, जिन्हें अनुशासनमें रखकर हाँकना है। जनतन्त्रमें नागरिक अेक घटक होता है—श्रेष्ठ घटक; राज्य उसका है अिसलिये उसे कार्यक्पम, समझदार, विचारवान और विवेकयुक्त होना चाहिये। और वह ऐसा बने, अिसलिये कुछ अधिकार उसे मिलने चाहिये। यदि उसे कर्तव्य-परायण होना हो तो कर्तव्योंका पालन करनेके लिये जो अधिकार और सुविधाओं आवश्यक हैं वे उसे मिलने चाहिये। अिस प्रकारके अधिकारों अथवा सुविधाओंको सामान्य तौरपर

मौलिक अधिकार अथवा 'बुनियादी हकूक' कहा जाता है। अन्हें ही दूसरे शब्दोंमें नागरिक स्वातन्त्र्य कहते हैं। जिन देशोंमें राज्यका कामकाज परम्परागत संकेत तथा संकीर्ण कानूनोंके आधारपर चलता है, वहाँ ये अधिकार किसी एक कानूनमें ग्रंथित नहीं रहते; परम्पराओं और संकेतोंका अनुसरणकर राज्य और राज्यके न्यायालय उनका पालन किया करते हैं। उन देशोंमें 'संविधान' अथवा 'विधानका नियम' नामकी कोई चीज नहीं होती। ऐसी हालतमें नागरिक यह नहीं बता सकता कि उसके अधिकारोंका निश्चित रूप क्या है? लेकिन यह सच है कि उन अधिकारोंका अपभोग वह करता है। मान्यता-प्राप्त परम्पराएँ तथा संकेत प्रत्यक्ष कानूनके समान प्रबल और प्रभावी होते हैं। ऐसे देशोंमें नागरिकोंको कुछ अधिकार सामान्य कानूनके द्वारा भी प्राप्त हो जाया करते हैं। लेकिन परम्परा तथा संकेतसे प्राप्त अधिकार मौका आनेपर उपयोगी सिद्ध नहीं होते, क्योंकि अदालत अन्हें स्वीकार ही करेगी ऐसा निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता। पर यह स्थिति वर्तमान जगत्में अंग्लैंडको छोड़कर और किसी राष्ट्रमें लगभग नहीं है। अंग्लैंडमें संविधान अथवा विधानक कानून नामक कोई ऐकत्रित कानून नहीं है; पर वर्तमान ससारमें सर्वत्र संविधान अथवा विधानके होनेका नियम दृष्टिगोचर होता है। राज्यका काम उस विधानके कानून (Law of Constitution) में बताए गये तत्वोंके अनुसार चलता है। सभी आधुनिक संविधानोंमें नागरिकोंके अधिकार स्पष्ट रूपसे लिखे हुअे मिलते हैं। तात्पर्य यह कि जिन राज्योंमें विधान-कानून है अथवा जिन राज्योंका लिखित संविधान है, वहाँ नागरिकोंके अधिकार अथवा उनकी स्वतन्त्रताएँ संविधानमें स्पष्ट रूपसे लिखी हुअी रहती हैं। यदि नागरिकोंपर अन्याय होता हो, उनकी स्वतन्त्रताका अतिक्रमण किया जाता हो अथवा उसपर आक्रमण किया जाता हो, तो वे निश्चित रूपसे अिम्दाद माँग सकते हैं और न्यायालयोंको अन्हें कानूनन न्याय देना पड़ता है। जनतन्त्रमें कानूनका राज्य (Rule of Law) होना चाहिये—यही मौलिक सिद्धान्त है। तानाशाही, अथवा जैसे मनमें आये वैसे कारोबार करना, जनतन्त्रके विरुद्ध है। अिसलिये आधुनिक जनतान्त्रिक संविधानोंमें राज्य-कार्यपालिकाकी सीमाएँ स्पष्ट कर दी जाती हैं। उनमें स्पष्ट लिखा रहता है कि नागरिककी संपत्ति, उसके शरीर और उसकी कीर्तिपर अन्यायसे आक्रमण नहीं किया

जा सकेगा। सामान्यतः मौलिक अधिकार नागरिककी सम्पत्ति और अुसके देहसे सम्बन्धित रहते हैं। सम्पत्ति सब आपत्तियोंका अुदगम स्थान है, यह दुनियाका अनुभव है; इसलिये संविधानमें सम्पत्ति सम्बन्धी स्वतन्त्रताकी कुछ व्यवस्था रहना जरूरी है। नागरिकको शरीरकी सुरक्षासे सम्बन्धित मौलिक अधिकार भी प्राप्त हुअे है। अिनके अलावा अन्य जो अधिकार सकेतसे रूढ हो गअे हैं, अुनके बारेमें अब विचार करना है।

हमारे संविधानके आरम्भमें राज्यके अुद्देश्य बताअे गअे हैं और यह घोषणा की गअी है कि भारतीय जनताने अिन अुद्देश्योंको पूरा करनेके लिये संविधानको स्वीकार किया है। न्याय, समता, स्वातंत्र्य, भ्रातृभाव आदिकी गूढ़ कल्पनाओंको संविधानमें स्पष्ट रूप प्रदान किया गया है। मूलभूत नागरिक अधिकारोंका अुल्लेख संविधानके तीसरे भागमें किया गया है। अुस भागमें जिन्हें मूलभूत अधिकारोंके रूपमें दर्शाया गया है, अुन केखिलाफ जानेवाले पुराने कानूनके सम्बन्धमें संविधानमें यह निर्देश है कि जिस हदतक वे अिन अधिकारोंसे विसंगत हैं, अुस हदतक अुन्हें रद्द समझा जाअे। अुसी तरह अुसमें यह भी आदेश है कि अिन अधिकारोंसे विसंगत कोअी कानून कोअी भी घटक राज्य नहीं बना सकेगा और यदि कोअी बनाअे भी तो वह कानून अुस हद तक रद्द समझा जाअेगा। पुराने और नअे कानूनोंमें नियम, अपनियम, नोटीफिकेशन (अधिसूचना), आर्डिनन्स अथवा अध्यादेश ये सब समाविष्ट हैं। संविधानमें मौलिक अधिकारोंकी सूचीमें प्रथम होनेका गौरव समता (equality) के अधिकारको मिला है। जनतंत्रका मुख्य प्राण समता है। कानूनकी दृष्टिमें सब समान हैं और कानूनका संरक्षण सबको अेक-साँ मिलेगा, इसकी गॅरंटी संविधानने दी है। यह व्यक्ति चूँकि अमुक धर्मको माननेवाला है, इसलिये अुसे अधिक संरक्षण मिलेगा अथवा वह संरक्षणसे कतअी वंचित रहेगा, यह बात नहीं होगी। जाति, वंश, धर्म, लिंगभेद अथवा जन्म-स्थानके कारण राज्यके कारोबारमें अथवा न्यायदानमें कोअी भेद नहीं किया जाअेगा। पुरुष अथवा स्त्री अमुक धर्मके हैं, इसलिये अुनके प्रति भिन्न व्यवहार नहीं होगा। अमुक-अमुक प्रान्तका है, इसलिये अुसके मार्गमें कहीं रुकावट नहीं होगी। सार्वजनिक स्थानोंपर याने रास्ते, बगीचे, अपहार-गृह,

मनोरंजनके स्थान, जहाँ सब जा सकते हैं वहाँ, किसी प्रकारका पंक्ति-भेद नहीं किया जाएगा। उसी तरह कुओं, तालाब, घाट तथा सार्वजनिक स्थानों पर, जहाँ अशतः भी सरकारी सहायतासे व्यवस्था होती हो, वहाँ सबका अधिकार समान होगा। लेकिन स्त्रियो और बच्चोंके लिये कुछ खास व्यवस्था या सुविधा प्रदान करनेका अधिकार राज्यको रहेगा। उसी तरह वन्य, पिछड़ी हुई व पहिले जो अस्पृश्य मानी जाती थी, अनु जातियोंके सम्बन्धमें विशेष व्यवस्था करनेका अधिकार भी राज्यको रहेगा। तात्पर्य, जब तक और जहाँ तक राज्यका सम्बन्ध है, वह समता स्थापित करेगा और उसे कायम रखेगा। यदि नागरिकको ऐसा लगन लगे कि राज्यमें न्याय निरपेक्ष नहीं रहा है और सामाजिक जीवनमें पक्षपात किया जाता है, तो वह अपनी जनतात्रिक निष्ठाको कायम नहीं रख सकेगा। राज्यमें न्याय मिलता है, इसका विश्वास और इसका अनुभव जब तक नागरिकको होता रहे, तब तक नैतिक दृष्टिसे राज्यके प्रति निष्ठावान रहना उसका कर्तव्य है। अधिनायक तन्त्रमें, राज्य या अन्य कोभी भी, नागरिककी अच्छाकी पर्वाह ही नहीं करते। वहाँ तो हुक्मका पालन करो या मरो, अथवा मार खाओ—वस यही चलता है। वहाँ न्यायालयमें न्याय नहीं, पुलिसमें दाद नहीं। इसलिये तानाशाहीमें नागरिकके मनमें राज्यके प्रति अन्तःप्रेरित, स्वयस्फूर्त निष्ठा सम्भव नहीं होती। जनतन्त्रमें ऐसी निष्ठा सम्भव है, परन्तु तभी तक जब तक कि नागरिकको कुछ मौलिक श्रद्धाओंका अनुभव होता रहे। न्याय सबको एक-सा और निरपेक्ष मिलेगा यह श्रद्धा मौलिक है। आवश्यकता होनेपर मनुष्य गरीबीको तो अपना लेता है, क्योंकि उसमें कष्ट शरीरको होता है; लेकिन चूँकि अन्यायका आघात मनपर होता है और यदि उस आघातको प्रकट करनेकी व्यवस्था न रहे या न्यायालयसे भी न्याय न मिल पाये, तो मन प्रकुब्ध हो जाता है अथवा मृतवत् हो जाता है। दोनों प्रकारसे यह परिस्थिति राज्यकी स्थिरताके लिये अिष्ट नहीं है। राज्यकी स्थिरता भौगोलिक वस्तु नहीं है; वह नागरिकोंकी प्रवृत्तिसे जुड़ी हुई बात है। इसलिये यदि जनतन्त्रको कायम रखना हो तो राज्यमें समता चाहिये और उसे कायम रखने तथा उसका रक्षण करनेके लिये न्याय प्रदान करनेवाली राजकीय व्यवस्था होनी चाहिये।

समता केवल भाव नहीं है, उसका अनुभव होना चाहिये; इसलिये यह आवश्यक है कि समताका भाव उत्पन्न करनेवाली और उसकी रक्षा करने वाली संस्थाओं और परम्पराओं समाज जीवनमें हों। यही कारण है कि संविधानमें जो दूसरा मौलिक अधिकार है, वह है 'समान अवसरका अधिकार'—राज्यके किसी भी क्षेत्रमें सबको समान अवसर प्राप्त होगा। नियुक्तियोंके लिये अथवा नौकरियोंमें सबको प्रयत्न करनेका मौका मिलेगा और जाति, धर्म, वंश या लिंग भेदके कारण, या अमुक-अमुक प्रदेशमें जन्मा हुआ है इसलिये, उसके साथ किसी भी प्रकारका भेदभाव नहीं बरता जायेगा। नौकरीके लिये हर कोभी दरखास्त दे सकेगा और नियुक्ति सिर्फ गुणोंके आधारपर होगी। हाँ, राज्यको यह अधिकार रहेगा कि वह कुछ नौकरियोंके सम्बन्धमें क्षेत्रवासका नियम बना दे। उसी तरह पिछड़ी हुई जातियोंमेंसे उचित प्रमाणमें सरकारी नौकरीमें लोगोंको भर्ती करनेका अधिकार राज्यको दिया गया है। धार्मिक संस्थाओंकी नौकरियोंमें अथवा उसके अधिकार पदोंके लिये भी इस दृष्टिसे अपवाद किया गया है। पारसी जमातका अध्यक्ष पारसी हो, पर्वती संस्थाके ट्रस्टी हिन्दू, या सिख गुरुद्वारा कमेटीके सदस्य सिख हों—इस व्यवस्थामें समान अवसरके अधिकारके सिद्धान्तके विरुद्ध कुछ भी नहीं है। संविधानमें तत्संबन्धी जो भी अपवाद रखे गये हैं, वे भारतकी विशिष्ट परिस्थितिको लक्ष्यमें रखकर ही। हमारे यहाँ ८५ प्रतिशत जनता निरक्षर है। जंगलोंमें, अरण्योंमें रहनेवालोंको अब पददलित तथा पिछड़े हुए समाजको ऊपर उठानेका जो विशेष उत्तरदायित्व स्वतन्त्र भारतपर है, उसे निभानेकी दृष्टिसे ये अपवाद उचित प्रतीत होते हैं। ये अनन्त काल तक नहीं रहेंगे, पर आजकी स्थितिमें वे उचित हैं। घोड़ोंकी दौड़में सब घोड़ोंका वजन एक-सा नहीं रहता और उसपर बैठनेवाले सवार भी एकसे वजनके नहीं होते। तब सब घोड़ोंकी परिस्थिति एक-सी हो, इस दृष्टिसे कम वजन वाले घोड़ोंपर वजन रखकर याने उन्हें 'हेण्डिकैप' करके सबको समान अवसर मिले ऐसी व्यवस्था की जाती है। कुछ-कुछ ऐसा ही अभी भारतमें हो रहा है। लेकिन समाजमें संतोष और शान्ति रहे, लोगोंको यह विश्वास हो कि समाजमें न्याय है, इस दृष्टिसे यह व्यवस्था तात्कालिक होनेपर भी आवश्यक प्रतीत होती है। देशभरमें हर किसीके लिये शिक्षा संस्थाओंके

दरवाजे खुले हैं—अतना कह देनेसे हरेकको शिक्षामें समान अवसर नहीं मिल जाता। धनवानका बेटा चार बार फेल होकर पाँचवी बार पास होता है अथवा कर दिया जाता है, और उसे फौरन कालेजमें प्रवेश मिल जाता है। गरीब क्लर्क अथवा राजका लड़का पहली ही कोशिशमें पास हो जाता है, लेकिन पिताके पास पैसा नहीं है, असलिये वह आगे शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता। यह परिस्थिति समान अवसरकी द्योतक नहीं है। रेलमें कोअी भी बैठ सकता है और आगराका ताजमहल देख सकता है, लेकिन कअियोंके पास टिकटके लिअे पैसे नहीं रहते, असलिये वे अस तरहकी यात्राका आनन्द नहीं अुठा सकते। यह भी समान अवसर नहीं है। असलिये पिछड़ी हुआ जातियोंके गरीब लेकिन होनहार विद्यार्थियोंको सरकार द्वारा हजारो छात्रवृत्तियाँ दी जानी चाहिये, किसानो व गरीब मजदूरोंको मुफ्तमें अथवा अल्प किराअेमें भारत-दर्शन करवाअे जाने चाहिये। अैसा और अस तरहका कुछ जब सरकार करेगी तभी समान अवसरका अधिकार यथार्थ होगा। समान अवसर देना याने समान सम्पत्ति देना—यही असका सच्चा अर्थ है। कम-से-कम, आजकी विषमताको अधिकसे अधिक घटाकर प्रत्येक नागरिककी आर्थिक स्थिति सुधारना, असका स्तर अुपर अुठाना, यह अर्थ असमें अभिप्रेत है। राज्यका यह ध्येय रहना चाहिये कि सुख समान रूपसे, कम-से-कम न्यायसगत ढंगसे बँटे और असके लिअे सबको 'समान अवसर' मिले, जीवनकी स्पर्धामें आरम्भमें सब अेक रेखापर खड़े रहे, मनुष्य-निर्मित रुकावटे अथवा दिक्कते किसीकी राहमें नहीं आ पाअे। जीवनकी दौड़के अन्तमें योग्यता तथा गुणोंके अनुसार कोअी प्रथम, कोअी द्वितीय आअेगा, 'ये भी दौड़े' (also ran) की श्रेणीमें बहुतेरे गिने जाअेगे; लेकिन जो कुछ होगा, वह व्यक्तियोंकी अपनी योग्यताके परिणामस्वरूप होगा, सरकारकी नीतिके कारण नहीं। जिस राज्यमें यथार्थ रूपसे अवसर-की समानता प्राप्त नहीं होती, वह राज्य कहनेको तो भले ही जनतंत्रात्मक कहलाअे, पर असमें असली जनतंत्र नहीं रहता—यह बात स्पष्ट है।

वर्तमान भारतीय समाजमें समता और समान अवसर के विरोधमें दो सामाजिक भावनाअे हैं—जाति और अस्पृश्यता। सविधानने अस्पृश्यता-को समाप्त कर दिया है, अब जाति तथा धर्मपर कोअी भी अधिकार

अवलंबित नहीं है। भारतीय राज्य धर्म-निरपेक्ष राज्य है, वह 'धर्महीन' नहीं है। हर नागरिकको धर्मकी स्वतन्त्रता प्राप्त है, लेकिन कोअी अमुक धर्मका है इसलिये उसे विशेष अधिकार नहीं मिलते अथवा उसपर कोअी विशेष बोझा नहीं लादा जाता। यही बात जातिके सम्बन्धमे है। कोअी अमुक जातिका है इसलिये उसे विशेष अधिकार प्राप्त नहीं होने, न अन्योकी अपेक्षा उसका उत्तरदायित्व ही बढ़ जाता है। सविधान द्वारा नागरिक सर्वत्र अेक समान माने गये हैं। अस्पृश्यता हिन्दू धर्मपर अेक कलंक थी। उसके सम्बन्धमे जनताके मनोमे परिवर्तन आ जानेके कारण वह कुछ कम हुआ है। सविधानने तो उसे खतम-सा कर दिया है और उसके व्यवहारको अपराध करार दे दिया है। कोअी व्यक्ति सिर्फ अस्पृश्य है इसलिये उसे हेठा समझना अथवा उस प्रकार उसके साथ व्यवहार करना अपराध है। जो पिछड़े हुए हैं अथवा जो पहिले अस्पृश्य थे, अन्हे सविधानने शिक्का अेव नौकरीमे विशेष सुविधाअे प्रदान की है और उनकी अन्नतिके लिये व्यवस्था की है। इसका यह अर्थ हुआ कि हमारे सविधानमे यह व्यवस्था है कि समता और समान अवसर सिर्फ कागजपर न रहे, प्रत्यक्ष रूपसे उनका अनुभव किया जा सके। सविधानमे, राजकीय दृष्टिसे जो वयस्क हो गया हो, उस प्रत्येक व्यक्तिको मताधिकार देकर राजकीय स्तरपर समानताकी स्थापना की गयी है। उसी तरह, सरकारी नौकरीमे गुणोके अनुसार भर्ती किये जानेके सिद्धान्तको अपनाकर समान अवसरका वातावरण अुत्पन्न किया गया है। अस्पृश्यताको खतम कर, उसको मानना अपराध घोषित कर, हर नागरिकको सविधान द्वारा सर्वत्र समान माना गया है। आशा है कि इस प्रकार सामाजिक समता स्थापित होगी तथा उसका वातावरण बनेगा। सामाजिक समताका सम्बन्ध चूँकि जनताकी भावनासे है, इसलिये उसकी स्थापनामें समय लग रहा है; पर यह निश्चित है कि वह धीरे-धीरे स्थापित हो रही है। जन्मके कारण कोअी श्रेष्ठ अथवा कनिष्ठ नहीं है, यही सिद्धान्त सामाजिक समताके मूलमें है। जातिभेदको समूल नष्ट होनेके लिये देर लगेगी; तथापि समाजमें उसका पोषण करनेवाली जो सस्थाअे और रूढियाँ हैं, उनको हटाना चाहिये। इस दृष्टिसे काफी प्रगति हुई है। सामाजिक स्वतन्त्रता

और समताका अब तात्त्विक विरोध नहीं होता। लेकिन अस्पृश्यताकी युगों पुरानी भावना जीवनमें बहुत गहराभी तक जा चुकी है, इसलिये उसके समूल नाशमें समय लगेगा। हम चाहे जितना पानी दें और चाहे जितनी खाद डाले, एक ही सालमें आमकी कलममें फल नहीं लग सकते। भौतिक सृष्टिकी तरह मानवीय-व्यवहार सृष्टिमें, उसके कुछ क्पेत्रोंमें, क्रमिक विकास अपरिहार्य होता है—यह समझकर ही दूर दृष्टिवाले समाज नेताओंको कदम अठाने चाहिये। घरको बनाना कठिन है, तोड़ना सरल; लेकिन स्थायी दृष्टिसे विचार करनेपर यह ज्ञात होगा कि मानव मनको तैयार करना और उसके पूर्वाग्रहोंको दूर करना दोनों ही कठिन काम हैं। इसलिये नये समाजकी रचना करते समय मानव-मनके साथ-साथ बुद्धिका भी आह्वान करना चाहिये। अस्पृश्यता अब तेजीसे नष्ट हो रही है। समाजके अब तकके अस्पृश्य माने जानेवाले नागरिकोंमें भी एक नया आत्म-विश्वास उत्पन्न हो गया है। उनमें कार्य करनेकी वृत्ति जागृत हुई है। समाजके लिये उत्साहका यह एक नया स्रोत है। अछूतोंकी वस्तियोंमें—महारो, मेहतरोंके मुहल्लोंमें—सब जगह, उच्च वर्णीय लोग मत माँगनेके लिये जाते हैं। हजारों सालों तक अिन वस्तियोंमें कभी कोअी ब्राह्मण नहीं गया था, वैश्य नहीं गया था; लेकिन चुनावोंके निमित्त अब ये सब वहाँ जाते हैं, वहाँ रहनेवाले हरिजनोंकी मिन्नते करने हैं, अुन्हे आदरपूर्वक सम्बोधित करने हैं। यह सब चुनावके जादूकी कीमिया है। पाँच वर्षमें एक बार ही क्यों न हो; अपेक्षित, अपमानित, तिरस्कृत नागरिकोंका मूल्य बढ़ता है—यही जनतन्त्रका सबसे बड़ा लाभ है। मतदानका अधिकार जनताको संविधान द्वारा दी गयी एक महत्वपूर्ण देन है। मतदानका मूलभूत अधिकार प्राप्त होते ही समानताकी भावना सिर्फ राजनैतिक क्पेत्रमें ही उत्पन्न होती है, ऐसा कुछ नहीं। वह भावना धीरे-धीरे जीवनके पूरे दालानमें भर जाती है। जन्मसे कोअी अस्पृश्य नहीं होता, अर्थात् जन्मसे सब समान है—यही भावना नागरिक-स्वातन्त्र्यकी पार्श्व-भूमि है।

चूँकि जन्मसे कोअी श्रेष्ठ अथवा कनिष्ठ नहीं है, सब नागरिक एक समान हैं; इसलिये गुणोंको बगल देकर अन्य किसी भी प्रकारकी विषमता कानून द्वारा इस समतामें उत्पन्न नहीं की जा सकती। इसी दृष्टिसे संविधानमें

यह नियम बनाया गया है कि किसीको भी पदवी नहीं दी जायेगी। उसमें सिर्फ सैनिक अथवा विद्या सम्बन्धी प्रवीणताके कारण जो पदवियाँ दी जाती हैं— उनका ही अपवाद रखा गया है। उसी तरह, संविधानमें यह भी बन्धन है कि भारतीय नागरिकोंके अलावा जो दूसरे राष्ट्रके नागरिक सरकारी नौकरीमें रहेंगे, वे भी बिना राष्ट्रपतिकी अनुमतिके अन्य राष्ट्रोंकी ओरसे दी जाने वाली किसी पदवीको नहीं ले सकेंगे। उसी तरह कोई भी भारतीय नागरिक, यदि वह सरकारी नौकर है, तो दूसरे राष्ट्रकी ओरसे बिना राष्ट्रपतिकी स्वीकृतिके, कोई पुरस्कार ग्रहण नहीं कर सकेगा। अतः सबका यह अर्थ है कि राज्य ऐसा कोई भी व्यवहार नहीं करेगा, और न किसीको करने देगा, जिससे समानतामें विषमता पैदा हो अथवा जो उस सिद्धान्तके विरुद्ध हो।

राज्यकी नींव समझदार और विवेकपूर्ण नागरिक अथवा उनके निर्वाचक-संघ होते हैं। और यह तभी सम्भव है जब कि समाजमें स्वतंत्रताका पोषक वातावरण रहे। इसलिये हमारे संविधानमें हर नागरिकको कुछ आवश्यक स्वतन्त्रताओं अथवा अधिकार दिये गये हैं। हमारे प्रत्येक नागरिकको भाषण-स्वातन्त्र्य और लेखन-स्वातन्त्र्य रहेगा। इसका अर्थ यह है कि भाषण देनेपर पाबन्दी नहीं रहेगी। लेकिन इस अधिकारकी कुछ मर्यादाएँ हैं। भाषण स्वातन्त्र्यका अर्थ गालियाँ देना अथवा शान्ति भंग करनेवाले कामोंको अत्तेजना देना नहीं है। सभा चल रही है, श्रोता तल्लीन होकर सुन रहे हैं, ऐसे समय कोई साँप-साँप चिल्लाये या गड़बड़ पैदा करे और पूछनेपर कहे कि ऐसा करनेका उसे 'भाषण-स्वातन्त्र्य' है, तो यह बात अनुचित होगी। इसलिये भाषण व लेखन-स्वातन्त्र्यपर जो मर्यादाएँ डाली गयी हैं, वे देशके हितमें हैं। सार्वजनिक-व्यवस्था तथा शान्ति, विदेशोंसे सम्बन्ध, देशकी सुरक्षा, सार्वजनिक नैतिकता आदिकी दृष्टिसे ही उन्हें रखा गया है। कुश्ती आप खेल सकते हैं; लेकिन उसके लिये बनाये गये घेरे (रिंग) के बाहर आप नहीं जा सकते। ऐसी मर्यादाएँ न हों तो कोई किसीको भड़का देगा ! तब समाज संगठित नहीं रह पायेगा, उसमें 'जंगलके कानून' का राज हो जायेगा। चित्र यदि प्रमाणबद्ध हो तो वह कलापूर्ण दिखायी देता है; वैसे ही मर्यादा-युक्त नागरिक-स्वतन्त्रताओं आह्लादपूर्ण और प्रभावशाली होती

हैं। बोलना अथवा लिखना और छापना, ये दोनों बातें जनतान्त्रिक जीवनके जीवन-तत्त्वोंमेंसे हैं। बिना अिन स्वतन्त्रताओंके जनतन्त्र सम्भव नहीं। जब मनकी बात अभिव्यक्त नहीं हो पाती, तब मन अन्दर-ही-अन्दर कुड़ता है और मर जाता है। तब उस व्यक्तिका व्यक्तित्व नहीं पनप पाता, वह मुझी जाता है। जीवन प्रभावशाली बनानेके लिये अिन स्वतन्त्रताओंकी आवश्यकता है; लेकिन यदि समाजमें रहना है, उसका संरक्षण प्राप्त करना है, तो उसके संरक्षणार्थ जिन मर्यादाओंकी आवश्यकता है उनका भी पालन करना होगा। चिल्लानेसे सिर्फ आवाज निकलती है, लेकिन सुस्वर गानेके लिये संगीतके नियमों तथा मर्यादाओंको मानना जरूरी है। हाँ, यदि मर्यादाएं अयोग्य हों, तो उन्हें हटा देना चाहिये। भाषण-स्वातन्त्र्यको पूर्णता प्राप्त हो, इसलिये संगठन-स्वातन्त्र्य अथवा सभा-स्वातन्त्र्यकी आवश्यकता है। मुद्रण-स्वतन्त्रतासे लेखन-स्वतन्त्रताको पूर्णता प्राप्त होती है। यदि भाषण-स्वातन्त्र्य हो, पर सभा अथवा सच बनानेपर बन्दी हों तो यह वैसी ही बात होगी जैसे सामने परोसे गये भोजनपर खानेकी बन्दी हो। इसलिये संविधानमें बगैर शस्त्रोंके शान्तिपूर्ण सभा करनेका तथा अेकत्र होनेका मौलिक अधिकार दिया है। जहाँ सभा शान्तिसे हो रही हो, वहाँ सरकार हस्तक्षेप नहीं करेगी; लेकिन यदि सभा ठीकसे न चले और मारपीट-दगा होनेकी गुंजाइश हो अथवा दगा शुरू हो गया हो, तो उसे भग कर देनेका अथवा बन्द कर देनेका अधिकार सरकारको रहता है; और अैसे अधिकारका रहना सार्वजनिक शान्तिके लिये आवश्यक है। कुछ लोग, बहुत थोड़े लोग, योजनाबद्ध रूपसे गुंडाजी करके, पत्थरों और चप्पलोंका अपयोग कर सभाओंको तोड़ सकते हैं। उनका यह काम सभा करनेके अधिकारपर प्रहार है। इसलिये सरकारको सभा तोड़नेवालोंका बन्दोबस्त करना चाहिये, नहीं तो गुंडोंकी बन आयेगी। भाषण-स्वातन्त्र्यकी तरह श्रवण-स्वातन्त्र्य भी अेक मौलिक अधिकार है। जनतन्त्रका अर्थ है चुनाव करना; इसलिये नागरिकको चाहिये कि वह प्रत्येक विचार-धाराको सुने और समझे। उन विचारोंको सुननेका उसे मूलभूत अधिकार है। वक्ता तैयार है और कम-से-कम अेक श्रोता उसे सुनना चाहता है, अैसी हालतमें दूसरे सुननेवालोंको अथवा पुलिसको सभा बन्द करा देनेका अधिकार नहीं है। भाषण-स्वातन्त्र्यके अधिकारकी रक्षा सरकार द्वारा की जानी

चाहिए। पर, इसका यह अर्थ नहीं कि सरकार श्रोताओंको भी अिकट्ठा कर दे। यदि श्रोता सुननेके लिये तैयार न हों, तो वक्ताको चाहिये कि वह चला जाये; परन्तु जबतक अेक भी श्रोता सुननेको तैयार है तब तक सभा ठीक-से चले यह जिम्मेदारी सरकारकी है। सभाके लिये अेक वक्ता और अेक श्रोता रहना भी काफी है। जिस जनतन्त्रमें विचार, भाषण और सुननेकी स्वतन्त्रताकी व्यवस्था न हो, वह जनतन्त्र व्यर्थ है।

सभा-स्वातन्त्र्यकी तरह संघ-स्वातन्त्र्य—कुछ योग्य और वैध कार्योंके लिये अेकत्रित होने तथा संगठित होनेकी स्वतन्त्रता—को भी मूलभूत स्वतन्त्रता माना गया है। इस तरहसे अेकत्रित होकर संगठित होनेका अथवा संघ बनानेका अुद्देश्य कानूनन योग्य और वैध होना चाहिये; तब सरकार अुसमें हस्तक्षेप नहीं करेगी। यदि दस डाकू अेकत्रित होकर डाका डालनेकी योजना बना रहे हों, तो पुलिस अुन्हें पकड लेगी और वे संघ बनानेके स्वातन्त्र्यके नामपर नहीं छूट सकेगे। इसलिये अिन स्वतन्त्रतापर अुचित तथा राज्यके हितकी दृष्टिसे मर्यादा डालना आवश्यक हो जाता है। जनताको मर्यादाओंके भीतर अधिकारोंका अुपभोग करना चाहिये। भारत अेक प्रभुत्वपूर्ण संगठित राज्य है। अुसका नागरिकत्व प्रदेश-निष्ठ अथवा राज्य-निष्ठ नहीं है। अुसका नागरिक सम्पूर्ण भारतका नागरिक होता है। अुनकी नागरिकताकी जागीर समस्त भारत-व्यापी रहती है। भारतकी जो सीमाओं हैं, वे ही अुग नागरिकताकी सीमाओं हैं। इस दृष्टिसे विचार करनेपर हर नागरिकको भारतमें कही भी जाने, रहने, व्यापार-धन्धा, रोजगार अथवा नौकरी करनेकी पूरी स्वतन्त्रता है; यह अुसका मौलिक अधिकार है। मद्रासी, बंगाली, महाराष्ट्रीय अथवा गुजराती होनेके कारण अुसकी नौकरीमें बाधा नहीं आयेगी, कही भी व्यापार करनेकी अुसे मनायी नहीं रहेगी। यह भावना, यह श्रद्धा अथवा विश्वास कि पूरा भारत अेक राष्ट्र है और नागरिकका नागरिकत्व सारे भारतका नागरिकत्व है—हमारे सिविलियनकी मुख्य नींव है। हाथ, पैर, पेट, कान, आँख सब शरीरके अंग हैं, शरीर अिन सबका होता है; जब पैरमें चोट लगती है तो अुसका दर्द सारे शरीरमें होता है; 'सुनायी नहीं देता है' का अर्थ है 'शरीरको सुनायी नहीं देता।' भारतीय नागरिकताकी पृष्ठ-भूमिमें ठीक इसी प्रकारकी अेकता तथा

भावनाकी अखंडता है। जब रक्त पूरे शरीरमें खेलते रहता है, तब शरीर तेजोपुज दिखायी देता है; वही बात राष्ट्रमें जब ऐक्यताकी भावना रहती है तब कही जा सकती है। भारत-दर्शन सबको सुलभ होना चाहिये; भारत माताके मन्दिरमें किसी ऐक्यको अमुक स्थान तक ही जानेका अधिकार है अथवा किसी अमुकको अमुक भागमें ही रहना चाहिये—ऐसा कोई बन्धन नहीं है। इसी प्रकार इस स्वतन्त्रताके मूलमें कि परिश्रम करके सच्चे मार्गसे कोई भी, कही भी सम्पत्ति प्राप्त कर सकता है और कही भी घर बनाकर रह सकता है, असलमें ऐक्यताकी ही भावना है। सच्चार-स्वातन्त्र्य तथा देशके किसी भी भागमें परिश्रम करने तथा सम्पत्ति अर्जित करनेकी स्वतन्त्रता—दोनों मौलिक स्वतन्त्रताएँ हैं और वे संविधान द्वारा हमें दी गयी हैं। लेकिन अतः भी कुछ मर्यादाएँ हैं। और यदि सार्वजनिक हितकी दृष्टिसे अचित और आवश्यक हो तो ही उन्हें लागू करनेका राज्यको अधिकार है। राज्य यदि किसी व्यवसाय, व्यापार अथवा उद्योगको राष्ट्रकी मिलकियत बनाता है, तो अतः कपेत्र व्यक्तियोंके निजी कपेत्रसे छिन जाता है—यह सच है। लेकिन चूँकि यह मर्यादा सार्वजनिक हितकी दृष्टिसे लादी जाती है, इसलिये वह अचित होती है।

यहाँ तक हमने भाषण, मुद्रण, सभा करने अथवा संघ बनाने और संचरणकी स्वतन्त्रता आदिके सम्बन्धमें चर्चा की। कही भी धन-सम्पत्तिका अर्जन किया जा सकता है, यह भी बताया। जिस तरह हर किसीको सम्पत्ति एवं जायदाद कमानेका अधिकार अथवा स्वातन्त्र्य है, उसी तरह उसके उपभोग एवं खर्चका तथा उसे दे डालनेका भी अधिकार अथवा स्वातन्त्र्य संविधान द्वारा स्वीकृत किया गया है। लेकिन उसपर भी मर्यादाएँ हैं। अपनी सम्पत्तिका उपभोग कानून की मर्यादाओंमें रहकर ही करना चाहिये। मनमाना किराया लेनेपर जिस प्रकार कानून बन्धन लगाता है, उसी तरह चाहे जिस काममें सम्पत्तिके विनियोगपर भी वह रुकावट डालता है। नागरिक किसी गैर-कानूनी कामके लिये उसका उपयोग नहीं कर सकता और न वह किसी दूसरेको गैर-कानूनी कामके लिये उसे दे ही सकता है। वह अपनी जायदादमें अथवा अपनी सम्पत्तिसे गैर-कानूनी शराब बनानेका अथवा वेश्यालय चलानेका अथवा समाजको नुकसान पहुँचानेवाला अन्य कोई काम नहीं कर सकता। स्वामित्वका अर्थ है कब्जा और उपयोगकी पूरी छूट; लेकिन राज्य सार्वजनिक

हितमें अिन दोनों अधिकारोंपर तथा सम्पत्तिके बँटवारेपर भी अुचित मर्यादाओं लगा सकता है। यही बात व्यवसाय, व्यापार तथा अुद्योगपर भी लागू होती है। सरकारी नीतिकी मर्यादाके भीतर ही व्यापार किया जाना चाहिये और व्यवसाय भी अलग-अलग व्यवसायोंकी पात्रता आदिके कानूनोको ध्यानमें रखकर किये जाने चाहिये। नीमहकीम वैद्यकी नहीं कर सकता। किसी भी व्यवसायके आधार-स्वरूप, और अुसकी पात्रताके लिये, कम-से-कम जितना ज्ञान आवश्यक हो, अुतना होना जरूरी है। कौनसा अुद्योग कहाँ शुरू किया जाये, मजदूरोंके सम्बन्धमें अुस अुद्योगकी नीति क्या रहे, अुसके अुत्पादन-विभाजनकी क्या व्यवस्था हो—अिन सब बातोंपर राज्य राष्ट्रहितकी दृष्टिसे अुचित मर्यादाओं डाला करता है और वैसा करनेका अधिकार अुसे दिया गया है।

मैं व्यक्तित्वसे सम्बन्धित स्वतन्त्रताओंका विचार अलग व्याख्यानमें करूँगा। सम्पत्ति और शरीरके सम्बन्धमें जैसे मूलभूत अधिकार अथवा स्वतन्त्राओं रहती हैं, अुसी प्रकारकी स्वतन्त्रताओं मानसिक क्रियाओंके सम्बन्धमें भी होती हैं। सार्वजनिक व्यवस्था, नीति और स्वास्थ्य सम्बन्धी मर्यादाओंके भीतर भारतके नागरिकोंको सम्पूर्ण धार्मिक स्वातन्त्र्य है। नागरिकको अपनी सदसद्विवेक बुद्धिको जो जँचे, अुस श्रद्धाका पालन करने, अुस धर्मको मानने, तदनुसार आचरण करने और प्रचार करनेकी सुविधा रहती है। भारत धर्म-निरपेक्ष राज्य है, धर्महीन राज्य नहीं। अिसका अर्थ यह है कि राज्य-कारोबारके किसी भी क्षेत्रमें किसीको भी, वह अमुक धर्मका है अिसलिये, विशेष अधिकार नहीं मिलेंगे; अुसी तरह कोअी अमुक धर्मका है अिसलिये अुसपर कोअी विशेष बोझा भी नहीं लादा जायेगा। आकाशकी तरह राज्यकी छाया सब पर है। सूर्यकी तरह वह सबको प्रकाश देता है। चन्द्रके समान वह सबको आल्हाद देता है। कानूनमें जाति अथवा धर्मका कोअी विचार नहीं है और राज्य-कारोबारमें भी वह नहीं रहेगा, न आ सकेगा—अिसका सविधानमें स्पष्ट अुल्लेख किया गया है। लेकिन अिसका यह अर्थ नहीं कि व्यक्तिशः नागरिक किसी भी धर्मको न माने। धर्म नागरिकके व्यक्तिगत जीवनका अंश है। पर यदि कोअी धर्मके बहाने, अुसके नामपर संस्थाओं बनाकर अुनके जरिये राजनैतिक और आर्थिक प्रपंच करना चाहे, तो राज्य अुनपर मर्यादाओं लगायेगा। अुसी प्रकार सामाजिक सुधार और

सामाजिक कल्याणकी दृष्टिसे भी राज्य कुछ मर्यादाओं लगायेगा। अुदाहरणके लिअे, हिन्दुओंके मन्दिरोंमें सब हिन्दुओंको प्रवेश मिल सके, असलिअे सरकार आवश्यक हस्तक्षेप करेगी; राज्य जिन निबन्धोंको हिन्दुओंके लिअे अुचित समझता है, सामान्यतः सिख, जैन, बौद्धोंके लिअे भी वे अुचित समझे जाअेंगे अि०। धार्मिक-स्वतन्त्रतामें धर्म-सम्बन्धी संस्थाओं बनानेका अधिकार भी सन्निहित है। धर्म-सम्बन्धी संस्थाओं शैक्षणिक हों अथवा दान स्वरूपी हों, अनुकी व्यवस्था करनेका अधिकार अनु-अनु संस्थाओंको होता है। जायदाद व सम्पत्ति अिकट्ठी करने, खरीदने आदिके सब अधिकार भी अनुको होते हैं। लेकिन तद्विषयक जो साधारण कानून हो अुसीके अनुसार यह सब होना चाहिअे। धार्मिक संस्थाओंको मदद करनेके लिअे भी किसी व्यक्तिपर जबरदस्ती नहीं की जा सकती। अुसी तरह जिस शिक्पा संस्थाको सरकारी अनुदान मिलता हो और यदि अुस अनुदानपर ही वह चलती हो, तो अुसमें धार्मिक शिक्पाकी जबरदस्ती नहीं की जा सकती। अुसी प्रकार सरकार-मान्य अथवा अंशतः भी सरकारी अनुदानसे चलनेवाली शिक्पा संस्थाओंमें कोअी भी धार्मिक शिक्पाकी जबरदस्ती नहीं कर सकता। प्रार्थनामें या पूजामें हरेकको अुपस्थित रहना चाहिअे, अैसा आग्रह भी नहीं रखा जा सकेगा। जिस समूहकी जो भाषा, लिपि और संस्कृति हो, अुसे बोलने-माननेका अधिकार अुस समूहको है। असि दृष्टिसे अल्पसंख्यकोंको शिक्पा संस्थाओं खोलनेकी अनुमति है; लेकिन धार्मिक दृष्टिसे अुसमें प्रवेश देनेसे किसीको अिन्कार नहीं किया जा सकता। अुसी प्रकार अैसी संस्थाओंको, वे सिर्फ अल्प-संख्यकोंकी हैं असलिअे, राज्य मदद देनेसे अिन्कार नहीं कर सकता।



७.

कानून और स्वतन्त्रताएँ

नागरिक स्वतन्त्रताओंपर विचार करते समय हमने उनको दोमें विभाजित किया था—एक, सम्पत्तिसे सम्बन्धित स्वतन्त्रताएँ तथा दूसरी, अन्य बातोंसे सम्बन्धित स्वतन्त्रताएँ। हमने सम्पत्ति और अन्य बातोंसे सम्बन्धित अधिकारोंकी चर्चा मोटे तौरपर की। अब हमें सम्पत्ति विषयक अधिकारों तथा शरीर विषयक अधिकारोंपर अधिक गहराईसे विचार करना है और अंतमें यह भी देखना है कि इन स्वतन्त्रताओंका कानूनसे क्या सम्बन्ध है और जब उनपर आक्रमण होता है अथवा उनकी अवहेलना की जाती है तब क्या उपाय किये जा सकते हैं? नागरिकोंकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओं और उनकी सम्पत्तिका उसी प्रकार नियमन किया जाता है जैसे कि राज्यके प्रचलित कानूनमें बताया गया हो। कानूनके खिलाफ अथवा तद्विषयक कानून न रहनेपर, किसीकी भी सम्पत्ति सरकार अथवा राज्य द्वारा नहीं छीनी जा सकेगी। उसी तरह किसीकी स्वतन्त्रताको भी नहीं छीना जा सकेगा। सम्पत्तिके सम्बन्धमें हमारे संविधानमें

अनुच्छेद ३१ के अनुसार यह स्पष्ट कर दिया गया है कि कानूनमें बताये गये ढंगसे ही राज्य किमीकी सम्पत्ति ले सकता है। राज्य नागरिकोंकी सम्पत्ति अथवा जायदादको सिर्फ सार्वजनिक कामोंके लिये ही ग्रहण कर सकता है, और वह भी सम्बन्धित कानूनके अनुसार। ऐसे हर कानूनमें अिस तरहसे ली जानेवाली सम्पत्तिका मुआवजा देनेकी व्यवस्था रहनी चाहिये, कम-से-कम आंशिक मुआवजेकी रकम तो निश्चित कर दी जानी चाहिये अथवा किस सिद्धान्तके अनुसार क्षति-पूर्ति की जायेगी अिसका अुममें अुल्लेख होना चाहिये। कानूनमें जो मुआवजा दिया गया है, वह पूरा नहीं है—अिस मुद्देपर कोअी भी न्यायालयकी सहायता नहीं माँग सकेगा। अिस प्रकार अुस हदतक न्याय प्राप्त करनेका, या यूँ कहिये कि न्याय-माँगनेका नागरिकका अधिकार अनुच्छेद ३१ के अनुसार मर्यादित हो गया है। सरकारी अथवा सार्वजनिक कामोंके लिये, अुदाहरणार्थ पाठशाला, दवाखाने, रास्ते अित्यादिके लिये जब सरकारको जमीनकी आवश्यकता पड़े, तब यदि अुसका मुआवजा निश्चित करनेका अधिकार कोर्टोंको दे दिया जाये तो यह सम्भव है कि वह कुछ भी मुआवजा निश्चित कर दे। कोर्ट समाजकी आवश्यकताका विचार नहीं करते; वे अितना ही विचार करते हैं कि जब किमीकी सम्पत्ति लेनी हो तो अुनको पूरा मुआवजा मिलना चाहिये। वास्तविकता तो यह है कि सम्पत्तिका निर्माण समाजमें और समाजकी मददमें होता है। अिसलिये सम्पत्तिके सृजनमें समाजकी भी हिस्मेदारी रहती है, और अिसी दृष्टिसे अिस प्रश्नपर विचार किया जाना चाहिये। समाजके हितको सर्वप्रथम मान्यता दी जानी चाहिये। चूँकि राज्य सम्पत्तिकी रक्षा करता है, अिसलिये अुसे अुसके अुपभोगका और अुपयोगका सर्वप्रथम अधिकार होना चाहिये। सिर्फ व्यक्तिके यह कहनेसे कि अमुक घर मेरा है, वह अुसका नहीं हो जाता। अुस स्वामित्वको समाजकी मान्यता मिलनी चाहिये और राज्यको अुमकी गॅरंटी देनी चाहिये। अर्थात् व्यक्तिगत सम्पत्ति अथवा निजी सम्पत्ति अेक सामाजिक सृजन है; अिसलिये समाजका अुमपर सर्वप्रथम अधिकार रहे—यह अुचित और न्याय्य है। अुत्तराधिकार सम्बन्धी कानूनको राज्य स्वीकृति देता है, अिसलिये मृतककी सम्पत्ति अुत्तराधिकारीको प्राप्त होती है। वस्तुतः मनुष्यके मर जानेपर अुसका सम्बन्ध सम्पत्तिसे किंचित भी नहीं रहता। सब कुछ वह यही छोड़

जाता है। बाड़ेमें ढोर, पेटीमें पैसे, घरमें पत्नी, श्मशानमें बन्धुजन और चितापर देह छोड़ते हुअे वह दुनियाको छोड़ देता है। शास्त्र कहते हैं कि अुसके साथ सिर्फ अुसके सत्कृत्य जाते हैं। अब अुसकी सम्पत्ति यदि अुसके अुत्तराधिकारियोंको मिलनी है, तो यह बात समाजके कानूनके अनुसार ही सम्भव हो सकती है। चूँकि वह समाजमें रहता था, असलिअे अुसने जो जायदाद अिकट्टी की, अुसका भागीदार समाज भी था। यदि समाज न होता तो अुसके लिअे कुछ भी कमाना सम्भव नहीं होता; असलिअे जब वह जीवित है तब, और अुसके मरनेके बाद भी, समाजरूपी भागीदारको अपना हिस्सा प्राप्त करनेका अधिकार है। आय-कर तथा मृत्यु-करके रूपमें अपने अस अधिकार-को समाज वसूल करता है, अुगाहता है। राज्य जब किसीकी सम्पत्तिको सार्वजनिक कामके लिअे लेता है तो वह अुसके बदलेमें नुकसान भरपायी अवश्य देता है; लेकिन वह अस नुकसान भरपायीमें रुपयेके सोलह आने नहीं देगा। असका कारण अपूर स्पष्ट रूपसे बताया जा चुका है। अुसी प्रकार सरकार द्वारा सम्पत्ति ग्रहण करनेके सम्बन्धमें जो कानून राज्य द्वारा बनाया जाता है, वह सविधानके विरुद्ध है—अिस तरहका आक्पेप अुसके विरुद्ध कोयी नहीं अुठा सकता। युगो-युगोमें श्रीमान् और धनी लोग समाजमें विषमता अुत्पन्न करते आअे हैं। वे जो कुछ करते हैं, अुसके कारण समाजमें सम्पत्तिके बँटवारेमें विषमता आती जाती है। असलिअे, यदि सब नागरिकोंको सामाजिक न्याय देना हो तो जिनके पास सम्पत्ति है—अधिक सम्पत्ति है, अुनके पाससे वह ली जानी चाहिअे। लेकिन अैसा करते समय जितनी अुसकी कीमत हो, अुतनी ही यदि बाजार भावसे अुन्हे दे दी जाअे, तो धनिकता हमेशा जैसी-की-तैसी बनी रहेगी। असलिअे जब सार्वजनिक कामके लिअे सम्पत्ति ली जाअे, तब अुसका मुआवजा पूरा-पूरा नहीं दिया जाना चाहिअे—यह बात स्पष्ट है और अुचित भी। अिसीलिअे हमारे सविधानमें अुचित भरपायी-की, क्षतिपूर्तिकी ही व्यवस्था रखी गयी है। साराग, यह सच है कि सम्पत्ति अर्जित करने, अुसे रखने और खर्च भी करनेका अधिकार अथवा स्वातन्त्र्य नागरिकको है; तथापि यह अधिकार और स्वातन्त्र्य सामाजिक हितोंकी मर्यादासे घिरा हुआ रहना चाहिअे। सम्पत्तिके सन्दर्भमें समाजकी आवश्यकताओंका विचार पहले और व्यक्तिका विचार बादमें किया जाअे, यह

विचारधारा अचित मालूम होती है। हमारे यहाँ इसी विचारधाराको बड़ी-बड़ी जागीरों और जमींदारियोंपर लागू करके, पिछले दस सालोंमें, राज्यद्वारा अिनामदार, जागीरदार, जमीनदार, खेतदार, ताल्लुकेदार आदिकी जायदादों और तद्विषयक अुनके अधिकारोंको समाप्त कर दिया गया है। पट्टेदार और मालिकके सम्बन्धमें भी इसी विचारधाराको ग्राह्य मानकर जमीन सम्बन्धी कानून जारी किये जा रहे हैं। पट्टेदार सम्बन्धी कानूनके पीछे जो भूमिका है, अुसे ठीकसे समझ लेना चाहिये। अेक श्रम करे और दूसरा अुसके फल भोगे, यह बात आधुनिक दुनियावालोंको जँचती नहीं है; क्योंकि वह सर्वथा न है। इसलिये पूर्वजों द्वारा अर्जित सम्पत्तिका स्वामित्व चालू रख देने सविधानका हेतु परिपूर्ण नहीं होता। यदि हम चाहें कि सबको न्याय मिले तो सम्पत्ति-विभाजन, चाहे समान न हो, पर न्याय-पेना ही चाहिये, और ऐसा जब किया जायेगा तो सम्पत्ति सम्बन्धी अथवा स्वान्तव्य मर्यादित होंगे ही। इस तरहसे व्यक्तिको जो होगा, अुसकी भरपायी कैसे की जाये—अिसे राज्य कानून बनाकर करता है। राज्य सम्पत्तिविषयक अधिकारोंपर देश-हितकी दृष्टिसे ने लगाता है और इसमें व्यक्तिपर अन्याय हुआ है यँ भी लग है। लेकिन राज्यका कर्तव्य है, समाजको न्याय देना, इसलिये राज्य अधिकारोंपर जो मर्यादाये लगाता है, वे अचित ही हैं। गोल्लह आने यदि नुकसान भरपायी दे दी जाये, तो व्यक्तिकी दृष्टिमें सम्पत्तिका स्वरूप भले ही बदल जाये, पर अुसकी सम्पत्तिमें कमी नहीं होगी—जमीनके बदलेमें अुसे नगदी अथवा बाँड मिल जायेगे। अतः पूरा मुआवजा देना अचित ही होगा।

यहाँतक हमने सम्पत्ति सम्बन्धी नागरिक अधिकारोंपर विचार किया। सम्पत्ति सब दुखोंकी जननी है, इसीलिये व्यक्ति मात्रके हाथोंमें अुसे छीनकर राज्य अेक प्रकारसे दुःखके कपेत्रको कम करता है, ऐसा भी मनमें विचार आता है। समाजमें जब विषमता रहती है तो अुससे मत्सर, मत्सरसे द्वेष और बादमें कलह अुत्पन्न होता है। साधारणतया यदि विषमता अखरने योग्य न हो, तो समाजको दुःखकी तीव्र अनुभूति नहीं होती, अुसके मनपर अधिक तनाव नहीं आता और न वह अधिक वेदनाका ही अनुभव करता है। मनुष्य सम्पत्ति-

विषयक दुःखको अधिक तीव्रतासे महसूस करता है। शरीरके घाव भर जाते हैं; पर सम्पत्ति चली जानेपर जल्दी नहीं आती, उसका आघात दूर नहीं होता, उसकी गाँठ मनमें हमेशा कायम रहती है। शरीर-विषयक स्वतन्त्रताके सम्बन्धमें स्थिति इससे कुछ अलग होती है। अलग-अलग व्यक्तियोंको अलग-अलग ढंगके अधिकार रहे, यह बात समाजकी स्थिरता और शान्तिकी दृष्टिसे अचित नहीं। इसलिये आधुनिक जनतान्त्रिक राज्यमें किसीके लिये भी व्यक्तिगत दृष्टिसे विशेष अधिकारोंकी व्यवस्था नहीं की जाती। अधिकार-पदके अनुसार विशेष अधिकारोंकी कुछ व्यवस्था रहती है, पर वह लोक-हितार्थ रहती है; इसलिये उससे व्यक्तिका नाम मात्रका सम्बन्ध रहता है। एक जमाना था कि जब मनुष्यका शरीर भी सम्पत्ति माना जाता था और उसकी खरीद-फरोख्त होती थी। यह दासताकी प्रथा थी, जिसे सब जानते हैं। पर आज मनुष्यका शरीर उसकी अपनी सम्पत्ति माना जाता है, दूसरा कोई उसपर अपनी सम्पत्तिके रूपमें अधिकार नहीं जताने सकता। इसलिये हमारे संविधानमें मनुष्यकी खरीद-फरोख्त मना है। 'यह मेरा नौकर है', 'मैं तुम्हें बेचता हूँ', इस तरहकी भाषा अब नहीं बोली जाती। उसी तरह बेगार आदि जबरदस्ती काम लेनेकी पद्धतियोंपर भी पाबन्दी लगा दी गयी है। मनुष्य अपने शरीरका पूर्ण स्वामी है। राज्य अपनी सुरक्षा अथवा संवर्धनकी दृष्टिसे यदि चाहे तो सेवाओंके सम्बन्धमें कुछ जबरदस्ती कर सकता है। लेकिन ऐसी जबरदस्तीके कानूनमें जाति, धर्म, वंश आदिकी दृष्टिसे भेदभाव नहीं किया जा सकता। उसी तरह शरीर-स्वातन्त्र्यकी दृष्टिसे कारखानेमें अथवा जहाँ खतरा है ऐसी जगहपर १४ वर्षसे कम उमरके व्यक्तिको नौकर नहीं रखा जा सकता। तात्पर्य यह कि प्रत्येक नागरिकको शरीर-स्वातन्त्र्यका मौलिक अधिकार (Freedom of Person) है। राज्य यदि उसे पकड़कर जेलमें रखना चाहे तो वह भी कानूनके अनुसार ही होना चाहिये। पकड़ते ही उसे क्यों पकड़ा गया है, यह बता दिया जाना चाहिये। राज्यकी ओरसे उसे सलाह-मशवरा करने तथा कोर्टमें बचाव करनेका पूरा मौका दिया जाना चाहिये। उसके लिये उसे वकील करनेका अवसर मिलना चाहिये। यह सब उसके मौलिक अधिकार हैं। किसीको भी पकड़ो और जेलमें बन्द कर दो—यह बात जनतान्त्रिक सिद्धान्तके

विरुद्ध है। यदि योग्य कारण है तो राज्य नागरिकको गिरफ्तार कर सकता है; लेकिन नागरिकको भी, राज्यके वे कारण अचित्त नहीं हैं—यह कहनेका अधिकार है; याने उसे अपनी सफाई देनेका अधिकार है। अतना ही नहीं; जो मनुष्य दीवानी अथवा अन्य प्रकारके कोर्टमें खड़ा किया जा रहा हो, उसे अपने बचावका तथा वकील देनेका अधिकार रहता है। वर्तमान कानूनोंमें जिन कामोंका अपराध बताया गया है, अन्ही कामोंके लिये नागरिकको सजा अथवा दण्ड दिया जा सकता है। जब वह कृत्य हुआ, उस समय कानूनके अनुसार वह काम अपराध घोषित रहता चाहिये। यदि कृत्य हो जानेके बाद कानून बनाकर वैसे कामको अपराध घोषित कर भी दिया जाये तो भी, उस बादमें बने कानूनके कारण जो कृत्य पहले किया जा चुका है उसे 'अपराध' नहीं माना जायेगा। अर्थात् नया बनाया हुआ कानून अपराध सिद्ध करनेकी दृष्टिसे पिछली बातोंपर विचार नहीं कर सकता। अदाहरणके लिये, दूकानके सामने खड़े होकर यह समझाना कि शराब मत पीओ, पहिले अपराध नहीं था। लेकिन जब यह अधिक मात्रामे होने लगा तो कानून बनाकर पिकेटिंगको अपराध घोषित कर दिया गया। अब इस कानूनके बननेके पहिले जो पिकेटिंग किया गया था, उसे इस कानूनके द्वारा अपराध नहीं माना जा सकता। उसी तरह, किसी अपराधके लिये नये कानून द्वारा सजामे वृद्धि कर दी जानेपर, उस अपराधके लिये पहिलेके कानूनमें जो अधिक-से-अधिक सजा होगी उससे अधिक सजा इस नये कानूनके लागू करनेसे पहिले जो कृत्य किये जा चुके हैं, उनके लिये नहीं दी जा सकेगी। अतः सबका अर्थ यही है कि पुरानी परिस्थितिमें जो कृत्य हो चुके हैं, उनके लिये यदि राज्य कानूनमें कोई नया परिवर्तन कर कुछ करना चाहे तो यह सम्भव नहीं है। इसमें एक बड़ा तत्व सन्निहित है। मनुष्य विद्यमान कानूनसे बँधा हुआ रहता है, उसका अनुशासन वह सहज रूपसे मान लेता है। व्यवहारकी किन्हीं आशा-आकांक्षाओंकी नीव प्रचलित समाजकी विविध श्रद्धाओंमें निहित रहती है; वही बात कानून विषयक व्यवस्थाके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। कानून चाहे दीवानी हो या फौजदारी, साधारणतया उसका प्रभाव (effect) पूर्व-कालपर (retrospective) लागू नहीं होना चाहिये। कारण, जीवनपर विद्यमान कानून द्वारा निर्मित परिस्थिति अथवा

आशाका परिणाम पड़ा रहता है और अन्हीमेसे जीवनमे श्रद्धाअे अुत्पन्न होती रहती हैं। फिर कानूनमें बार-बार परिवर्तन करना अच्छा नहीं है। अेक कृत्यके बारेमे अेक ही बार सजा दी जानी चाहिअे। अेक ही कृत्यके लिअे बार-बार केस चलाकर हर बार सजा देना सामान्य नीतिके भी विरुद्ध है। सड़कपर शराब पीकर अूधम करनेको अेक कृत्य मानकर अपराधीपर अेक मामला चलाकर अुसे जो सजा देनी हो, दे देनी चाहिअे। अेक बार शराब पीनेके बारेमे मामला, फिर शराब पीकर राहमे बाधा अुत्पन्न की असलिअे दूसरा मामला, शराब पीकर रास्ता रोककर दगा किया असलिअे तीसरा मामला और तीनोमे अलग-अलग सजाअें—यह बान अनुचित है। अेक कृत्यके बारेमे अेक ही मामला चलना चाहिअे।

हमारी न्याय-पद्धतिके अनुसार सरकार अथवा फरियादीको गवाह तथा प्रमाण देकर अभियुक्तका अपराध सिद्ध करना चाहिअे, और वह भी अस प्रकारसे कि अुममे कोअी शका न रहे। असका सिद्धात है कि यदि थोड़ी भी शंकाके लिअे जगह हो, तो असका लाभ अभियुक्तको मिले। अभियुक्त पर जो सन्देह है वह दूर हो जाअेगा असलिअे, अथवा फरियाद करनेवालेके प्रमाणोमे जो न्यूनता है अुसे पूर्ण करनेके नामपर, अभियुक्तको गवाहीके लिअे मजबूर नहीं किया जा सकता। अुसी तरह, पूछे जानेवाले प्रश्नोका अुत्तर देनेके लिअे भी अुसे विवश नहीं किया जा सकता। साथ ही, अभियुक्त अपनी गवाहीमें कुछ भी कहे, सिर्फ असके आधारपर अुसे सजा नहीं दी जा सकती। कारण, अपराधको पूरी तरह, अुचित शकाके लिअे स्थान न रहे अस प्रकार (beyond reasonable doubt) साबित कर देनेकी जिम्मेदारी फरियाद करनेवाली सरकारकी होती है। अस पूरी विचारधाराके पीछे जो सिद्धान्त है वह यह कि नागरिकको असके शरीर-स्वातन्त्र्यसे सम्बन्धित पूर्ण अधिकार प्राप्त होने चाहिअे। यदि कोअी बदमाश खडा हो जाअे अथवा पुलिस ही मक्कारी करे और झूठा मामला दायर कर अभियुक्तसे कहे कि तुम यदि निर्दोष हो तो प्रमाण दो और अपना छुटकारा करा लो, तो यह बात नागरिक स्वतन्त्रताके अधिकारपर आक्रमण जैसी होगी। हमारी न्याय-पद्धतिका मुख्य सिद्धान्त है कि मनुष्य निरपराधी है; वह अपराधी है अिसे सिद्ध करनेका काम फरियादीका माना जाता है। अस सिद्धान्तके कारण समाजमें अेक

अच्छा वातावरण उत्पन्न होता है। मुकदमेमें प्रमाण कौन दे—यह सिर्फ कार्य-पद्धतिसे ही सम्बन्धित (Procedural) प्रश्न नहीं है। भारतमें रहनेवाले हर मनुष्यको, फिर चाहे वह नागरिक हो या न हो, अिस तरहके अधिकार प्राप्त हैं। नागरिकोंको तो वे मिले रहते ही हैं। यही नहीं, हमारी सम्पूर्ण न्यायदान-व्यवस्थामे वे भली प्रकार स्थापित हो गये हैं। कोर्टके सामने जो-जो अभियुक्त बनकर आयेगे, उन सबको ये अधिकार प्राप्त रहेंगे। अपराध जब तक सिद्ध नहीं होता तबतक अभियुक्तको निपराधी माना जाता है। अेक पुरानी कहावत है कि चोर चोरीके मालके साथ और जार खाटपर पकड़ा जाये तो ही अपराधी माना जाये। अुसमे भी न्यायका यही अर्थ अभिप्रेत है। न्यायालयमे आनेपर जैसे मनुष्यको स्वतन्त्रता सम्बन्धी अधिकार प्राप्त होते हैं, वैसे ही अधिकार न्यायालयके बाहर भी अुसे दिअे गये हैं। किसी भी मनुष्यकी जान अथवा अुसकी स्वतन्त्रताअे सिर्फ कानून द्वारा ही छीनी जा सकती है; अन्यथा नहीं। यह सच है कि नागरिकको जिन्दा रहनेका अधिकार है और जिन्दगी भगवानने दी है। राज्य तो सिर्फ नागरिकता देता है। अिसलिअे राज्यको यदि अुससे जिन्दा रहनेका अधिकार छीनना हो, अुसे मृत्यु-दण्ड देना हो, तो अुसे अपनी बात समाजको पटा देनी पड़ेगी। कानून समाजकी सदसद्-विवेक बुद्धि है। विशेषकर जनतन्त्रमे तो वह जनमत द्वारा स्वीकृत होता है, अुसके पीछे जनताका बल रहता है। अिसलिअे यह नियम है कि किसी नागरिकपर मुकदमा कानूनके अनुसार चलाया जाना चाहिअे, और अुसपर अपराध सिद्ध होना चाहिअे, तब यदि कोर्ट अुसे फाँसीकी भी सजा दे दे, तो अुसपर अमल हो जाता है। अुसी तरह जो अपराध किया है, अुसके लिअे अुसे जेलमें बन्द कर यदि अुससे अुसकी स्वतन्त्रता छीन ही लेनी हो, तो भी तत्सम्बन्धी सारी कार्यवाही कानूनके अनुसार करनी पड़ेगी—तदनन्तर अुसे सजा दी जा सकेगी और तब वह जेलमे रहेगा। किसीको पकड़ना हो तो यह काम भी कानूनके अनुसार करना होगा। जैसा कि कहा जा चुका है, पकड़े जानेवालेको अुसकी गिरफ्तारीके कारण बता दिअे जाने चाहिअे; और अैसा कर चुकनेपर ही अुसे जेलमें रखा जा सकेगा। ये कारण भी अुसे जितनी जल्दी हो सके बता देने चाहिअे। पकड़ा गया होलीके दिन और कारण दिअे जा रहे हैं दूसरी दिवालीको—यह नहीं चलेगा। हम पहले ही बता चुके हैं कि

अपराधीको अपना बचाव करनेका और अपनी तरफसे वकील देनेका अधिकार है। लेकिन गिरफ्तारीके बाद २४ घण्टेके अन्दर उसे कोर्टके सामने अथवा न्यायाधीशके सामने खड़ा कर दिया जाना चाहिये। कोर्टके सामने पेश करनेके लिये ले जानेमें जो समय लगता है, उसको छोड़कर २४ घण्टेसे अधिक उसे बिना कोर्टकी अनुमतिके पुलिस पकड़कर नहीं रख सकती। हाँ, जो व्यक्ति शत्रु-राष्ट्रका नागरिक है अथवा जिसे अवरोधक कानूनके मातहत गिरफ्तार किया गया है, उसपर यह व्यवस्था लागू नहीं होती। २४ घण्टेके अन्दर कोर्टके सामने उपस्थित करना चाहिये—अस कानूनका अदृश्य यह है कि पुलिस मनमानी न कर सके, मारपीट न कर सके और ऐसा न हो कि गिरफ्तारीका किसीको पता ही न चले। दूसरे शब्दोंमें, नागरिकको पूर्ण-रूपेण शरीर-स्वातन्त्र्यकी अनुभूति होना चाहिये। यदि वह कोभी अपराध करे और राज्यको उसके खिलाफ कार्यवाही करनी हो तो, वह सब कानूनन ही होनी चाहिये। जनतान्त्रिक राज्यका अर्थ है—कानूनका राज्य (Rule of Law)। वह किसी व्यक्तिकी मंशापर अथवा तानाशाहीपर आधारित राज्य नहीं होता। मैं कानूनके राज्यके सम्बन्धमें आगे चर्चा करूँगा।

कुछ देर पहले मैंने नजरबन्दी, स्थान-बद्धताका अल्लेख किया था। पिछले तीन-चार वर्षोंसे अस प्रश्नपर खूब चर्चा हुई है। बहुतोंका ख्याल है कि अस प्रकारकी स्थान-बद्धता नागरिक स्वतन्त्रताकी कल्पनाके विरुद्ध है, विसंगत है। राज्यका एक महत्वका, या यूँ कहिये कि मुख्य कार्य, राज्यमें शान्ति एवं सुव्यवस्था कायम रखना है। नागरिकोंका जीवन और धन, उनकी स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति सुरक्षित रहे, उनपर आक्रमण न हो—असकी जिम्मेदारी राज्यपर रहती है। जब तक नागरिक कानूनके अनुसार व्यवहार करता है तब तक राज्यको उसकी सब प्रकारसे फिकर करनी चाहिये। आधुनिक राज्य नेति नेतिके स्वरूपका अभावात्मक नहीं है; वह कारक अथवा भावात्मक (Positive) है। राज्य अब अस स्वरूपका नहीं रहा है कि अपराध हो जानेपर, दुष्कृत्य कर लिये जानेके ही बाद हस्तक्षेप करे। अपघात हो जानेपर अलाज करनेकी नीति अब सही नहीं मानी जाती। चूँकि राज्यका स्वरूप अब अधिक व्यापक और

जिम्मेदारीसे भरा हुआ हो गया है, इसलिये यह सब मानने लगे हैं कि अपराध न हो, अपघात न हो—अस तरहकी व्यवस्था करना तथा अस तरहके बातावरणका निर्माण करना ही ठीक नीति है। अकाल पड़नेपर अकालके निमित्त काम खोलना, अन्नदान करना, किसानोंको तकावी (कर्ज) देना—सिर्फ अतिनेको अब अर्थहीन माना जाने लगा है। अकाल न पड़े इसलिये नहरें बनाना, बांध बाँधना, बिजलीका उत्पादन बढ़ाकर अद्योग-धन्धोंमें वृद्धि करना और सब जगह आर्थिक विकास करके अकाल, तंगी और बेकारी न हो इसके लिये अग्रिम व्यवस्था करना आजकल न सिर्फ चतुर राजनीति ही मानी जाती है, बल्कि उसे राज्यका एक आवश्यक और न टाला जा सकनेवाला काम भी माना जाने लगा है। राज्य यदि यह सब न करे, तो वह अपने कर्तव्यका ठीकसे पालन नहीं करता ऐसा आज कहा जाता है। तात्पर्य, जो होनी नहीं चाहिये और जिसके होनेसे प्रजाका अनिष्ट होता है—ऐसी बातको न होने देनेकी पहिलेसे व्यवस्था कर लेना बुद्धिमानकी काम है। चार डकैत डाका डालने जा रहे हैं, यह मालूम होते ही अन्तर्गत गिरफ्तारी जैसे अिष्ट और अुचित होती है; वैसे ही अुस आदमीकी गिरफ्तारी भी योग्य होगी जो समाजके लिये घातक काम करने जा रहा हो। जबतक अपराध न किया जाये तबतक गिरफ्तार नहीं करना चाहिये—यह सिद्धान्त सामान्यतः ठीक है। लेकिन अपराध हो, अस तरहका व्यवहार करना अथवा अुसके अनुकूल प्रत्यक्ष बातावरणकी सृष्टि करना भी स्वयं अपराध जितना ही हीन और अनिष्ट कृत्य है। कानूनसे जो कर लादा गया है, अथवा और कोअी चीज जो कानून द्वारा की जा चुकी है, अुसे खतम करनेके लिये प्रखोभात्मक आन्दोलन खड़ा करने, अुसके विरुद्ध प्रचण्ड तूफान पैदा करनेकी बात अेक हद तक राज्य चलने दे सकता है; लेकिन यदि अुसका परिणाम समाजकी दृष्टिसे, अुसकी स्थिरता अेवं अुसमें शान्ति कायम रखनेकी दृष्टिसे अनिष्टकारी होता हो तो राज्यको अधिकार है कि वह अुस आन्दोलनको बन्द कर दे। संविधान द्वारा अैसे आन्दोलन-कर्ताओंकी प्रतिबन्धक गिरफ्तारीका अधिकार राज्यको दिया गया है। शान्ति व सुव्यवस्था टिकाये रखनेकी जिम्मेदारी राज्यकी है, यह मान लेनेके बाद अुसके लिये जितने अुचित अधिकार राज्यको आवश्यक हों अुतने अुसे दिये जाने चाहिये। जैसे बढ़ते हुये रोगकी अपेक्षा नहीं की जानी चाहिये, वैसे ही बढ़ती

हुआ अराजकताकी भी अपेक्षा नहीं करनी चाहिये। संविधानमें प्रतिबन्धक गिरफ्तारी सम्बन्धी कानून बनानेका अधिकार संसदको है और घटक राज्योंको भी। जो काम समाज-विरोधी है, राज्यकी शान्तिमें खलल पैदा करनेवाला है, उसे न होने देनेके लिये, करनेवालेको पकड़कर जेलमें बन्दकर देना ही प्रतिबन्धक गिरफ्तारीका अद्देश्य रहता है। इस प्रकारकी गिरफ्तारीसे, संविधानने जो मौलिक स्वतन्त्रताओं नागरिकको दी हैं, कुछ समयके लिये वे उसे नहीं मिल पातीं, अनुसे वह वंचित हो जाता है। राज्यके सामने समाजमें शान्ति एवं सुव्यवस्था और व्यक्तिके अधिकारको लेकर यदि विकल्प उत्पन्न हो जाये तो राज्यको चाहिये कि वह व्यक्तिके अधिकारोंको अलग हटा दे, उसपर बन्धन लगा दे। व्यक्तिको भाषण-स्वतन्त्र है, पर जब राज्य युद्ध-रत है, और जब वह अपनी रक्षाके लिये—राज्य जिन्दा रहे, विद्यमान रहे इसलिये, मनुष्य-बलको और साधन-सामग्रियोंको संगठित कर रहा हो, तब यदि कोअी 'युद्ध हिंसा है, इसलिये फौजमें भरती मत होओ और राज्यको कर्ज मत दो' ऐसा उपदेश देने लगे अथवा प्रचार करने लगे और जनताको भड़काने लगे, तो उसे गिरफ्तार करना राज्यका कर्तव्य हो जाता है। हर व्यक्तिको अपनी सदसद्विवेक-बुद्धिके अनुसार बर्ताव करनेकी स्वतन्त्रता है, पर उसपर भी राष्ट्रहितकी मर्यादाका बंधन है ही। राष्ट्र रहेगा तो ही सब नागरिक स्वतन्त्रताओं रह पायेंगे। शान्ति रहेगी, सुव्यवस्था रहेगी तो ही अनु स्वतंत्रताओंका उपभोग किया जा सकेगा। यह स्पष्ट है कि नागरिक स्वातन्त्रताओंका उपभोग किया जा सके, इसलिये कभी-कभी अनुपर बन्धन लादने पड़ते हैं। सिर सलामत रहेगा तो पगड़ियाँ पचास मिल जायेंगी। यदि वही न रहा, तो सारे शिरोभूषण व्यर्थ हो जायेंगे। इस दृष्टिसे प्रतिबन्धक गिरफ्तारी विशिष्ट परिस्थितियोंमें अचित साबित होती है। राज्यकी जिम्मेदारी सिर्फ विद्यमान पीढ़ी तक ही सीमित नहीं रहती, उसे भावी पीढ़ीके बारेमें भी विचार करना पड़ता है। इसलिये अपवादात्मक व्यवहार अथवा आपद्धर्मकी दृष्टिसे राज्य असी गिरफ्तारियाँ करता है और तत्सम्बन्धी कानून बनाता है। और उसका वैसा करना अचित भी है।

जनतन्त्रात्मक युगमें और जनतन्त्रात्मक राज्य-व्यवस्थामें नागरिकको तत्कालिन सरकारके प्रति निष्ठावान रहना चाहिये, यह कोअी नहीं कहेगा।

क्योंकि जनतन्त्रमें सरकार अुत्सवके निमित्त स्थापित अस्थाअी मूर्ति है, जब कि राज्य अचल मूर्तिके समान है। बहुमतके कारण जो सरकार गद्दीपर बैठती है, वह बहुमतके खतम होते ही हटा दी जाती है; असलिये अुसके प्रति निष्ठा रखी जानी चाहिये, यह आशा जनतान्त्रिक राज्यमें नहीं की जाती। लेकिन राज्य नामसे जो भी कुछ है, अुसके प्रति प्रत्येक नागरिकको निष्ठावान रहना चाहिये। अस्थाअी पोशाक फेंकी जा सकती है, दूसरी पहिन ली जा सकती है; पर शरीरको तो अुस तरहसे फेंका नहीं जा सकता। मनुष्य शरीरके प्रति निष्ठावान रहता है, पोशाकके प्रति नहीं; 'शरीरमाद्य खलु धर्म-साधनम्'। अुसी सिद्धान्तानुसार यदि राज्य रहता है तो सब प्रकारकी स्वतन्त्रताओं, सब प्रकारका विकास और सब प्रकारकी सभ्यता सम्भव हो सकेगी। अिमलिये हर व्यक्तिको राज्यके प्रति अीमानदार अेव निष्ठावान रहना चाहिये। राज्य सम्बन्धी निष्ठा मानवी जीवनमें अेक प्रकारकी भावना रहती है और अिमलिये वह नागरिकताके साथ-साथ छायाके समान चली आती है। अपनी सदसद्-विवेक-बुद्धिके प्रति जो निष्ठा होती है, वह अिमसे अूंची रहती है। अुस निष्ठाके सामने राज्यनिष्ठाको निकृष्ट मानना चाहिये। कभी-कभी व्यक्तिके सामने बड़ी समस्या अुपस्थित हो जाती है—सदसद्-विवेक-बुद्धिकी सुनी जाअे या राज्यके कानूनको माना जाअे? जनतन्त्रमें कानून कोअी अनिश्चित वस्तु नहीं होती, वह अेक सिद्ध, स्पष्ट, सहज गतिसे अनुभव की जा सकनेवाली बात रहती है। जनतन्त्रमें कानूनको विधान-सभामें जनता द्वारा चुने अुअे प्रतिनिधि पास करते हैं। क्या होना चाहिये, कैसे होना चाहिये अिस सम्बन्धमें जनताके जो विचार होते हैं अुनका प्रतिबिम्ब कानूनमें झलकता है। कानून अेक दृष्टिसे समाजकी सदसद्-विवेक-बुद्धि होती है। लेकिन यदि किसी व्यक्तिको वह विवेक या विचार न पटे तो अुसे क्या करना चाहिये? यदि वह कानूनको मानता है, तो अपनी आत्माको धोखा देता है, और यदि नहीं मानता है तो राज्य सम्बन्धी कर्तव्य न करनेके पापका भागी होता है। तब समाजमें रहकर समाजके विरुद्ध जाना अुचित है या अनुचित, यह सवाल खड़ा हो जाता है। अैसी परिस्थितिमें राजनैतिक कर्तव्यकी अपेक्षा अपना नैतिक कर्तव्य क्या है, अिसपर विचार करना चाहिये। तब कानूनको माननेसे क्या परिणाम होंगे और न माननेपर क्या होंगे यह समस्या अुठ खड़ी होगी। जब

अस तरहके वैचारिक संघर्ष उत्पन्न होते हैं तभी समाजकी प्रगति होती है। जो प्रचलित है, उसका वैध स्वरूप ही कानून है। समाजमें जो ठीकसे चल रहा है, उसको धक्का देनेके लिये नैतिक धैर्यकी आवश्यकता होती है। यही धैर्य वास्तवमें राज्यकी मौलिक सम्पत्ति है, उसकी प्रेरणाका स्रोत होता है। तब राज्यके भी सामने यह प्रश्न आता है कि अिन भावनाओंको अथवा श्रद्धाओंको स्वतन्त्रता दे अथवा उनका नियन्त्रण करे? व्यक्तिके सामने उसकी अपनी सदसद्-विवेक-बुद्धिका सवाल रहता है, तो राज्यके सामने समाजकी सदसद्-विवेक-बुद्धिका याने कानूनका सवाल रहता है। यह बड़ा बाँका प्रसंग है। तानाशाहीमें अस तरहकी भुलझनें नहीं आतीं। वहाँ कानून और लोकमतमें अेकताकी भावना नहीं रहती। वहाँ कानून राज्य करनेवाली सरकारकी अिच्छा ही है। जनतन्त्रमें कानून जनताकी अिच्छाका प्रतीक होता है। अैसी हालतमें जनतान्त्रिक राज्य और उसको चलानेवालोंके सामने समस्या अुठ खड़ी होती है। अुनके सामने सवाल पैदा हो जाता है—क्या व्यक्तिको कानून तोड़नेकी अनुमति दी जाअे? क्या अुसे 'कानूनका अुल्लंघन करो,' अस तरह प्रचारकी छूट रहे? मेरे अ्यालसे अस परिस्थितिमें राज्यका कर्तव्य हो जाता है कि वह समाजके हितमें किसीको वैसी अनुमति न दे और कानून तोड़नेवालोंको सजा दे। अितना ही नहीं; यदि अुस व्यक्तिके प्रचारसे कोअी खतरा उत्पन्न हो सकता हो, राज्यान्तर्गत सुव्यवस्थाको अथवा अन्य विदेशीय राज्योंके साथके सम्बन्धोंको धक्का पहुँच सकता हो तो अुस व्यक्तिकी प्रतिबन्धक गिरफ्तारी भी राज्यका कर्तव्य हो जाती है। व्यक्ति अपरिहार्य रूपसे यह अनुभव करता है कि अुसे अपने मतोंको अभिव्यक्त करना चाहिअे; बिना अैसा किअे उसे मानसिक शान्ति नहीं मिलती। असलिअे वह अपनी श्रद्धा, निष्ठाको अवश्य प्रकट करे। लेकिन तब अुसे कानून जो सजा देगा अुसको भी सानन्द स्वीकार करना चाहिअे। जैसे वह अपनी आत्माका कर्ज चुकाता है, वैसे ही अुसे राज्यका कर्ज भी चुकाना चाहिअे। मेरे कहनेका मतलब यह कि अैसी प्रतिबन्धक गिरफ्तारी यदि योग्य परिस्थितिमें और दूर दृष्टिसे की जाअे, तो नैतिक दृष्टिसे भी अुसका समर्थन किया जा सकता है। लेकिन अस तरहकी गिरफ्तारीके अधिकारपर भी कुछ बन्धन होने चाहिअे। संविधानमें अुनका भी अुल्लेख किया गया है।

संविधानानुसार, प्रतिबंधक गिरफ्तारीके लिये बनाये गये कानूनमें, पकड़े हुये व्यक्तिको कैदमें रखनेकी मियाद अधिक-से-अधिक तीन महीनेकी रहेगी। भुस मियादसे अधिक यदि किसीको रखना हो तो भुसके लिये सलाहकार-मंडलकी सिफारिश प्राप्त करनी होगी। यह सलाहकार-मंडल न्यायाधीशोंका अथवा तत्सम योग्यतावाले व्यक्तियोंका बना होगा। यह मंडल सरकार और कैदी दोनोंकी बात सुनेगा, और भुसके बाद तीन महीनेके भीतर यदि वह सिफारिश करे कि कैद ही अवधि बढ़ाओ जाये, तब तो वह अवधि बढ़ सकती है; अन्यथा भुस व्यक्तिको छोड़ देना पड़ेगा। प्रान्तीय राज्योंको अधिकार है कि वे अपने-अपने राज्यकी मर्यादामें इस प्रकारका कानून बना लें, लेकिन केन्द्रीय सरकारका इस सम्बन्धमें जो कानून बनेगा, वह अधिक प्रभावशाली माना जायेगा। प्रान्तीय कानूनोंको भुस केन्द्रीय कानूनकी मर्यादामें रहना पड़ेगा। संविधानके अनुसार गिरफ्तार व्यक्तिको जितना बन सके, अतनी जल्दी भुसकी गिरफ्तारीके कारणोंकी लेखी जानकारी दी जानी चाहिये और यदि वह गिरफ्तारीके खिलाफ अथवा भुन कारणोंके सम्बन्धमें कुछ निवेदन पेश करना चाहता हो, तो वैसा करनेका योग्य अवसर भुसे दिया जाना चाहिये। पार्लियामेण्ट यदि चाहे तो बिना सलाहकार-मंडलको पूछे तीन महीनेसे अधिक समयके लिये भुसे नजरबन्द रखनेका कानून बना सकती है। प्रतिबन्धक गिरफ्तारीका जो कानून बनेगा भुसमें सलाहकार मंडलके क्या अधिकार रहेंगे, भुनके सामने किस प्रकार कार्यवाही चलेगी, गिरफ्तारीकी अवधि अधिक-से-अधिक क्या रहेगी आदि व्यवस्थाएँ रहनी चाहिये। नागरिक स्वतन्त्रतापर जो मर्यादाएँ डाली जाती हैं, भुनका लगभग यह सामान्य स्वरूप है। संविधानने सम्पत्तिसे सम्बन्धित अथवा शरीरसे सम्बन्धित जो मौलिक अधिकार अथवा स्वतन्त्रताएँ नागरिकोंको बख्ती हैं, भुन सबका उपभोग मर्यादामें रहकर किया जाना चाहिये। स्वतन्त्रताएँ कानूनकी चौखटके भीतर रहनी चाहिये, अन्यथा वे स्वैराचार बन जायेंगी। यह सच है कि 'स्वतन्त्रता व्यक्तिका जन्म-सिद्ध अधिकार है'; लेकिन जिसके साथ यह बात भी ध्यानमें रखी जानी चाहिये कि यह अधिकार हरेक को प्राप्त है और यदि उसके उपभोगके बारेमें नियमन अथवा नियंत्रण न हो, तो वास्तविक रूपमें वह किसीको भी प्राप्त नहीं हो सकेगा, कोभी भुन उसका उपभोग नहीं कर सकेगा। यह ठीक है कि व्यक्तिको पूरी स्वतन्त्रता

दी जानी चाहिये, लेकिन केवल समाजके हितकी दृष्टिसे उसकी मर्यादाओं बाँधनी होगी। समाजके हितमें व्यक्तिका अपना हित भी समाया हुआ रहता है। हम जब स्वतन्त्रताओंके बारेमें सोचते हैं, तब हमें कर्तव्योंके बारेमें भी सोचना चाहिये। व्यक्ति जैसे ही समाजमें पैदा होता है, उसके साथ कुछ कर्तव्य भी लग जाते हैं जिनको पूरा करना उसका धर्म है। व्यक्ति जन्म लेते ही अनायास सब कुछ पा लेता है। उसे समाज, व्यवस्था, कानून, सुरक्षा, भाषा आदि सब चीजें विरासतमें प्राप्त होती हैं। अक तरहसे ये सब उसकी पैतृक सम्पत्ति है। अतने फायदे प्राप्त कर लेनेके बाद कुछ पाबन्दियों, कुछ मर्यादाओं, कुछ जिम्मेदारियोंका भी पालन उसे करना चाहिये। यदि वह यह नहीं करता, तो कृतघ्न माना जायेगा। इसलिये उसके आचरणमें अधिकारों एवं कर्तव्योंका समन्वय रहना चाहिये, उनमें अक प्रकारका सन्तुलन रहना चाहिये। वह सम्पत्तिका अर्जन करे, पर योग्य परिश्रमके द्वारा, कानूनका विरोध न करते हुअे करे। जैसे सब प्रकारके यज्ञकर्म 'सर्वेषाम् अनुरोधेन' ही किये जाने चाहिये, उसी तरह सम्पत्तिका अर्जन भी करना चाहिये। यह श्रेष्ठ धर्म है। सम्पत्तिका अर्जन समाजमें किया जाता है, समाजमें ही उसका संग्रह करना पड़ता है और समाजान्तर्गत ही उसका अपभोग होता है। इसलिये ये तीनों क्रियाओं समाजके सुखों तथा उसकी आवश्यकताओंके साथ अचित प्रकारसे जुड़ी हुअी होनी चाहिये। जनतान्त्रिक समाजमें सम्पत्तिके निर्माण, संग्रह और अपभोगमें सिर्फ व्यक्ति-विषयक दृष्टिकोण अकांगी और अपूर्ण माना जाता है। उसपर सामाजिक दृष्टिकोणसे भी विचार करनेकी आवश्यकता होती है। अिन तीनों क्रियाओसे कुछ सामाजिक हित साध्य हो सकें—अिस तरहके बंधन उनपर जनवादी राज्य द्वारा लगाये जाते हैं। यही दृष्टि जनवादी राज्यमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओंके बारेमें भी होनी चाहिये। 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्,' अिस नीतिको समाज-जीवनकी नींव समझना चाहिये। जिस प्रकारके व्यवहारकी आशा मैं दूसरोंसे करता हूँ, उसी प्रकारका आचरण स्वयं मुझे करना चाहिये—यह बात अकदम अपयुक्त एवं सुसंगत मालूम होती है। इसीलिये मेरी स्वतन्त्रताओं और मेरे सामाजिक कर्तव्योंमें समन्वय रहना चाहिये, सन्तुलन रहना चाहिये। किस समय मेरा क्या सामाजिक कर्तव्य होगा, यह बात उस वक्तकी परिस्थितिपर निर्भर

रहेगी। मेरे जीवनका अर्थ सिर्फ मेरी सम्पत्ति और मेरा शरीर ही नहीं है, उसमें मेरे विचार, मेरा नैतिक जीवन, मेरी आध्यात्मिक भावनाओं और आकांक्षाओं—अन सबका समावेश हो जाता है। मुझे यदि विचार करनेकी पूरी स्वतन्त्रता नहीं है, तो मैं अपूर्ण हूँ। यदि मुझे विचारोंको प्रकट करनेकी स्वतन्त्रता नहीं है, तो मेरा मन घुटकर मर जायेगा, मेरा नैतिक जीवन रसहीन हो जायेगा। सृष्टिमें मैं जो देखना चाहूँ उसे देखनेकी, और जहाँ जाना चाहूँ वहाँ जानेकी छूट होनी चाहिये। ये सब अधिकार बिल्कुल उचित हैं; लेकिन अनमेंसे हरेकके साथ अेक अेक सम्बन्धित कर्तव्य भी जुड़ा रहता है, अेक अुत्तरदायित्व भी रहता है। यह स्पष्ट है कि अुसे पूरा करनेपर ही अुस अधिकारके अुपभोगका अधिकार प्राप्त होता है; और यह बात हरेकको समझ लेनी चाहिये। कर्तव्यों और अधिकारोंमें सदा सतुलन रहना चाहिये।

सम्पत्तिके अधिकारकी तरह शरीर-स्वतन्त्रताके अधिकारपर भी मर्यादाएं हैं और अुसका थोड़ा दिग्दर्शन मैं कुछ देर पहले करा चुका हूँ। प्रत्येक नागरिकको कुछ सामाजिक सरक्षण प्राप्त होने चाहिये। कोअी भी अु, किसीको भी पकड़ ले, कही भी बन्द कर दे—यह परिस्थिति समाजमें स्थिरताकी दृष्टिसे हितावह नहीं है। व्यक्तिको जो-जो अधिकार हैं—जिन्दा रहनेसे लेकर सुखसे मरने तकके—अुन सबकी रक्षा की जानी चाहिये। अुन सबका वह सुखसे अुपभोग करे, लेकिन अन अधिकारोंके अुपभोगमें अुनका दुरुपयोग नहीं होना चाहिये। अर्थात् अुनकी मर्यादाओं होनी चाहिये। समाज हितके तालपर अुपभोगकी यह बांमरी बजनी चाहिये; अुपभोगका नंगा नाच नहीं, तालबद्ध नृत्य होना चाहिये। तालबद्ध नृत्य जिस तरह सुन्दर अेवं आकर्षक होता है, अुसी तरह स्वतन्त्रताओंका अुपभोग भी। संविधान द्वारा नागरिक अधिकारों अेवं स्वतन्त्रताओंको गिनाकर निश्चित किया गया है। लेकिन यदि अनपर कोअी व्यक्ति अथवा स्वयं राज्य आक्रमण करे तो क्या हो? अुपरसे बरसात गिरे, पति मारे अथवा राज्य जबरदस्ती करे तो भला क्या किया जाअे? यह प्रश्न सर्वथा उचित है। बरसातके विरुद्ध निश्चित अुपाय अभीतक नहीं मिला है। हाँ, पति मारे तो कानून कहता है कि अुससे तलाक ले लिया जा सकता है। अिस हदतक अब यह प्रश्न हल-सा हो गया है। पतियोंके ध्यानमें आ गया है कि जमाना अब

बदल गया है। अतः प्रश्न खास तौरपर राज्यका है। वैसे ही मनुष्य जब अधिकारकी गद्दीपर बैठता है, तो उस गद्दीके कुछ गुण उससे चिपक जाते हैं। छोटा बच्चा हाथमें लाठी पकड़ते ही अकड़कर चलने लगता है। जब कोअी ड्रेस-विशेष पहना जाता है, तो देहमें उस पदका आवेश और अभिनिवेश आ ही जाता है। भाग्योदय होते ही संतवृत्तिवाले महापुरुष नम्र बनते हैं, बादल जलसे भर अठनेपर वर्षा करते हैं और वृक्ष फलोके भारसे झुक जाते हैं; लेकिन चन्द अपवादोंको छोड़कर मनुष्य भाग्योदय होते ही नम्रताको तिलाजलि दे देते हैं और मदांध बन जाते हैं। अैसे लोगोंपर कुछ बन्धन होने चाहिये। सत्ताका उपयोग नियमानुसार किया जाय, इसलिये कोअी योजना होनी चाहिये, और वह योजना हमारे संविधानमें है। सर्वप्रथम, यदि गिरफ्तारी अयोग्य मालूम होती हो तो कोर्टमें 'हेबिस कार्पस' की याने सशरीर हाजिर करनेकी दरखास्त उस व्यक्तिकी ओरसे अथवा उस व्यक्तिके द्वारा की जा सकती है। हमारे यहाँ कानूनकी हुक्मत है, इसलिये किसीको भी बिना कानूनके नहीं पकड़ा जा सकेगा। उसी तरह पकड़े जानेवालेके खिलाफ मुकदमा दायर न करते हुअे उसे जेलमें नहीं रखा जा सकेगा। २४ घण्टेके भीतर उसे मजिस्ट्रेटके सामने खड़ा करना पड़ेगा—यह सब मैं बता चुका हूँ। इसमें देरी हुआ, तो कोर्ट सहन नहीं करेगा। यह ठीक है कि देशकी कार्य-पालिकाका कुछ विशेष अधिकार होने चाहिये, लेकिन कार्यपालिकाको भी चाहिये कि वह उन अधिकारोका उपयोग कानूनके अनुसार ही करे। उसे यह अधिकार अथवा सत्ता है कि विशिष्ट परिस्थितिमें अैसे व्यक्तिको, जिसने अपराध किया तो नहीं, पर जो सम्भवतः निकट भविष्यमें करनेवाला हो, पहलेसे ही पकड़ ले। लेकिन यह तभी किया जाना चाहिये जब कि होनेवाले कामसे खतरा अितना नजदीक आ गया हो कि गिरफ्तार करना ही उससे बचनेका अेकमात्र अुपाय साबित हो। कानूनने युद्धकी परिस्थितिमें, और जब शान्ति है तब भी, सरकारको यह अधिकार दिया है। छोड़ा अस्तबलसे चला जाअे, इसके पहिले ही उसकी राह रोक देनी चाहिये। जब अैसी परिस्थिति हो कि उसमें ढिलाअी करना अक्षम्य हो जाअे और उस ढिलाअीका परिणाम राष्ट्रको भुगतना पड़े, तो प्रतिबन्धक-गिरफ्तारी करना राज्यका कर्तव्य हो जाता है। तब भाषणबन्दी, सभाबन्दी सब अुचित साबित

होते हैं। सवाल अतना ही रहता है कि वह परिस्थिति आ गयी है क्या ? जिसका निश्चय करना कठिन है। उस वक्तकी सरकारको ही जिसका निर्णय करना पड़ता है। लेकिन यदि कोअी यह महसूस करे कि उसके अधिकारोंपर आक्रमण किया गया है, तो वह कोर्टमें न्यायकी माँग कर सकता है। किस परिस्थितिमें किसका—समाजकी सुरक्षाका या व्यक्तिके अधिकारका—समर्थन करना चाहिये, जिसका निर्णय कोर्ट करेगा। मान लो समाजमें विभिन्न मतोंका वाद-विवाद चल रहा हो, हो-हल्ला हो रहा हो अथवा दो मतोंमें आपसमें तीव्र रस्साखेँच चली हो—लेकिन यह सब शान्तिसे हो रहा हो, तो उस परिस्थितिमें सरकारको विशेष अधिकारोंके अपुयोग करनेका अधिकार नहीं है। लेकिन यदि दोनोंमेंसे कोअी अेक दल, अथवा दोनों दल, अपने प्रत्यक्ष व्यवहारमें हिंसात्मक काम करें, तो सरकारके लिये अपने विशेष अधिकारका प्रयोग करना अुचित अेवं जायज होगा। जब सरकार जिस विशेष अधिकारका अपुयोग कर गिरफ्तारियाँ करती है तो उसका अुद्देश्य समाजके सम्पूर्ण हितोंकी रक्षा होना चाहिये, न कि अेक दल-विशेषके हितोंकी। पूँजीपतियोंको मदद करनेकी दृष्टिसे हड़तालको गैर-कानूनी करार देना जिस अधिकारका दुरुपयोग है। जिसके विपरीत, मालिकों और मजदूरोंको, दो प्रतिस्पर्धी पहलवानोंकी तरह स्वतन्त्र रूपसे बेरोकटोक लड़ने देना भी ठीक नहीं है। अैसा करने देना भी समाजके हितोंकी दृष्टिसे गलत है। और जिसलिये तालाबन्दी अथवा हड़ताल दोनोंको गैरकानूनी करार देना राज्य द्वारा अपने अधिकारोंका दुरुपयोग माना नहीं जायेगा। जब जरूरी हो जाये तब, लेकिन जबतक वह जरूरत बनी रहे सिर्फ तबतक ही, नागरिक स्वतन्त्रताओंपर मर्यादाओं लादनेका राज्यको अधिकार है।

अधिकारोंके पीछे यदि गॉरन्टी-हामी न रहे तो वे अैसे खिलौने बन जाअेंगे जिन्हें जब मनमें आये तोड़ा जा सकता है। अुसी तरह कार्यपालिकापर यदि कोअी बन्धन न हो, तो वह अेक तानाशाहीका रूप धारण कर लेगी। जिसलिये जब कार्यपालिका किसीके किसी भी अधिकारपर आक्रमण करती है, तो उसके विरुद्ध अिमदाद माँगनेकी व्यवस्था रहनी चाहिये। यह व्यवस्था या तो कोर्टकी मार्फत हो अथवा विधान सभाके द्वारा सर्वसाधारण रूपसे मुख्य कार्यपालिकाको यह अधिकार रहता है कि वह अपने

अधीनस्थ अधिकारियोंके आदेशोंमें सुधार कर दे अथवा अन्हें रद्द कर दे। लेकिन यदि अिमदाद कार्यपालिकाके विरुद्ध माँगी जाती हो, तो अिमदाद देनेवाला व्यक्ति अथवा अिमदाद देनेवाली व्यवस्था कार्यपालिकासे स्वतन्त्र होनी चाहिये, अर्थात् वह कार्यपालिका किंवा सरकारके अधीन न रहे। विधान सभा अथवा न्यायालय सरकारके अधीन नहीं रहते; असलिये, अिमदाद देनेका काम न्यायालयका रहे—ऐसी व्यवस्था अुचित होगी। चूँकि विधान सभाकी बैठकें साल भर नहीं चलती रहतीं, और अुसका स्वरूप तथा संगठन भी कुछ अस प्रकारका होता है कि वह मुख्यतया विचार-प्रधान अेवं वाद विवाद करनेवाली संस्था बन जाती है; असलिये अुसके लिये यह सम्भव नहीं होता कि वह हर चीजके सार-असारका विचार कर, सूक्ष्मतासे सोचकर, तथ्योंको ठीकसे खोज ले। जो सबूत सामने आये हों, अुनमेंसे ठीक कौनसे हैं, और झूठे कौनसे, तथा अस्पष्ट कितने हैं—अिस प्रकारकी छानबीनके अिये और निर्णयपर पहुँचनेके लिये अेक प्रकारके विशिष्ट वातावरण और विशिष्ट मनोवृत्तिकी आवश्यकता होती है। असलिये जब व्यक्ति और राज्यमें विवाद अुपस्थित हो जाये तो अुसका फैसला न्यायालय दे—यही व्यवस्था समीचीन होगी। विधान-सभामें तो दलकी बात और व्हिपका हटर चलता है; असलिये वहाँ मनके विरुद्ध मतदान करना अनिवार्य-सा हो जाता है। दलके व्हिपके आदेशका भंग करना याने अपने हाथों अपनी राजनैतिक मृत्युको बुलाना होता है। अिस दृष्टिसे विधान-सभा पूर्ण रूपसे स्वतन्त्र होती ही है, यह नहीं कहा जा सकता। असलिये सविधानमें यह व्यवस्था रखी गयी है कि अिस तरहकी अिमदाद न्यायालय दे। विधान-सभामें प्रश्न पूछे जाते हैं, काम रोको प्रस्ताव रखे जाते हैं, प्रस्तावोंपर चर्चा होती है; लेकिन वहाँ सारा वाद-विवाद दलोंके वातावरणमें चलता है। कोर्टसे 'हेबीअस कार्पस' की अिमदाद माँगते ही गिरफ्तार-शुदा व्यक्तिको कोर्टके सामने अुपस्थित करना पड़ता है। यह सवाल अुनके बारेमें नहीं अुठता जो पकड़ लिये जानेके बाद कोर्टके सामने खड़े किये जा चुके हैं और जिनके लिये समय माँगा जा चुका है। अुनपर मामला दायर हो चुका है अथवा कर दिया जायेगा। यहाँ प्रश्न है अैसे व्यक्तिका, जिसकी अवरोधक गिरफ्तारी हुयी है अथवा जिसे गैरकानूनी ढंगसे पकड़ा गया है। हर गिरफ्तारी कानूनके अनुसार ही की जानी चाहिये और प्रत्येक नागरिकको अपनी

गैरकानूनी गिरफ्तारीका विरोध करनेका अधिकार रहना चाहिये। गिरफ्तार करनेवाली सरकारको यह सिद्ध करना पड़ेगा कि उसके पास गिरफ्तार करनेके लिये उचित कारण थे। मनमाने ढंगसे गिरफ्तारी नहीं की जा सकती। कोअी किसी मन्त्रीका शत्रु है अिसलिये, किसी अधिकारीसे उसकी दुश्मनी है अिसलिये, अथवा राज्यके कारोबारमें वह अड़चनें पैदा करता है अिस बहाने, किसीको गिरफ्तार करना गलत है। यह ठीक है कि पुलिस सरकारका हाथ होती है, पर उस हाथका उपयोग कुछ भी करनेके लिये करना अनुचित है। क्योंकि कोअी गिरफ्तारी या गैर कानूनी काम, वह राजाज्ञासे किया गया है सिर्फ अिसीलिये कानूनी नहीं बन जाता। राजा भी कानूनका गुलाम होता है। कानूनकी सत्ता सार्वभौम, सर्वोपरि होनी चाहिये। जब कोअी व्यक्ति दूसरे किसीके ऐसे शब्दों या आदेशोंको मानता है जो कि कानूनके अनुसार नहीं है, तो वह गलत बात माननेकी जिम्मेदारीसे नहीं बच सकता। पुलिस आज्ञाके गुलाम होते हैं, लेकिन हुकुम देनेवालेको उस तरहके हुकुम देनेका अधिकार कानूनन रहना चाहिये। पुलिसको गिरफ्तार करनेका अधिकार है, और जब वह अपने अिस अधिकारसे किसीको पकड़ती है तो उस गिरफ्तारीमें किसी तरहकी द्वेष-बुद्धि नहीं होनी चाहिये। सबको यह महसूस करना चाहिये कि जनतन्त्रमें पुलिस जनताकी मित्र होती है। उसे गुस्सेल, जल्दी भड़क अुठनेवाली नहीं होना चाहिये; वह धीमी, शान्त और न्याय-बुद्धिवाली हो तथा कानूनकी अिज्जत करनेवाली हो। ड्रेस उसकी पहचानका चिह्न है, वह उसे अिसीलिये दिया गया है कि जनता उसे जल्दीसे पहिचान सके। पुलिसको सावधान रहना चाहिये कि कोअी नागरिक अनुचित रूपसे न पकड़ा जाये। गिरफ्तार किये गये व्यक्तिपर शारीरिक एवं मानसिक अत्याचार न हो, अिसका जिम्मा पकड़नेवाले तथा पकड़कर रखनेवाले अधिकारीपर होता है। प्रत्यक्ष मार-पीट न करते हुये भी, प्रलोभन दिखाकर गिरफ्तार व्यक्तिको निर्बल बनाया जा सकता है। ऐसी बात नहीं है कि जब वह खुला रहता है तभी नागरिकको शरीर सम्बन्धी स्वतन्त्रताका अधिकार रहता है। जब वह कानून द्वारा पकड़ा जाता है, तब भी वह अधिकार उसे रहता है। अितना ही कि तब उसपर कुछ बन्धन लग जाते हैं। जेलमें उसकी अिस स्वतन्त्रतापर यदि आघात हो तो उसके

विरुद्ध कोर्टसे अिमाद माँगनेका अुसे अधिकार है। और कोर्ट जब जाँच करे तो अिस दृष्टिसे अुसे सब बातोंपर गौर करना चाहिअे।

संविधानने यह गॅरंटी दी है कि पकड़े जानेपर भी व्यक्तिके शरीर और मनको दुखाया नहीं जाअेगा। अपराधकी वह स्वीकृति जो जबरदस्ती हासिल की गअी हो या जो झूठी हो, कोर्ट द्वारा कभी मान्य न होगी। जो स्वीकृति पुलिस अधिकारीके पास दी गअी हो अथवा दबाव, लालच आदि अनुचित तरीकोसे हासिल की गअी हो, अुमपर कोर्ट विश्वास नहीं करेगा। सारांश, नागरिककी स्वतन्त्रता मुरविषत रहे, वह अुनका अुचित रूपसे अुपभोग कर सके, अिस दृष्टिसे कोर्ट अुचित सावधानी वरनेगा और न्याय देगा। केन्द्रीय पार्लियामेण्ट अथवा राज्योंकी विधान-सभाओं संविधानके तत्वानुसार कानून बनाअेंगी। पर जैसे कि पहले कहा जा चुका है, कानून जनताकी अिच्छाका प्रतिबिम्ब होता है और न्यायाधीश भी और किसी दूसरे समाजसे नहीं आते। जो समाजका मानस होता है वही, आंशिक रूपसे ही क्यों न हो, अुनका भी मानस होता है। वे समाजमें ही रहते हैं। जनताकी आशा, आकांक्षा और नीति सम्बन्धी मूल्योंसे वे पूर्णरूपेण परिचित रहते हैं। साक्षात कानूनके तो वे जानकार रहते ही हैं, लेकिन जनगणकी अस्थिरताकी भी कल्पना अुन्हे रहती है। अुनके मनमें नागरिक स्वतन्त्रताकी अिज्जत तथा अुससे सम्बन्धित भावनाअे बराबर बनी रहती है। समाजसे तटस्थ रहनेकी बातकी भी अति नहीं होनी चाहिअे। तटस्थता बड़ा भारी गुण है, यह मानना भी ठीक नहीं है। अिसी तरह न्याय-निष्ठुर बुद्धि का अर्थ “निष्ठुरता” नहीं, या अैसी बुद्धि नहीं जो सकुचित हो और बालकी खाल खींचनेवाली हो। बढ़नेवाले प्रगतिशील समाजके कानून भी बदलते हुअे अेवं प्रगतिशील होते हैं। कम-से-कम अुनका अर्थ लगानेकी क्रिया वैसी होनी चाहिअे। कानूनके अुद्देश्यको ध्यानमें रखकर ही न्यायधीशको अुसका अर्थ करना चाहिअे। कम-से-कम अुनसे अैसी आशा रखना अनुचित नहीं। न्यायाधीशको कवि नहीं होना चाहिअे, अुसी तरह अुसे क्लिण्ट और कर्कश वैयाकरणी भी नहीं होना चाहिअे। कानून समाजका मन है; अिसलिअे समाजकी दृष्टिसे यह योग्य होगा कि अुसकी भावनाको समझकर कानूनका अर्थ लगाया जाअे। अिसलिअे जब नागरिक स्वतन्त्रताके प्रश्न न्यायालयमें आअें, तब अुनपर अिस व्यापक

दृष्टिकोणसे विचार होना चाहिये। हिंसाको प्रोत्साहन देनेवाले, राज्यको बदनाम करनेवाले, राज्यको अलुट देनेवाले, राजद्रोह करने अथवा करवाने-वाले नागरिकके विरुद्ध कार्यवाही करनेका अधिकार राज्यको रहता है और उसमें समाजका हित है, यह बात स्पष्ट है। लेकिन क्योंकि राज्य कहता है कि यह सब अमुक नागरिकने किया है, इसीलिसे उसे मान लेना अनुचित होगा। कोर्टका काम है कि वह कानूनकी सीमाओंके अन्दर रहकर यह छानबीन करे कि उस नागरिकने किस प्रकारका व्यवहार किया है, किस तरहसे उसने अपने मत-स्वातन्त्र्यके अधिकारका दुरुपयोग किया है, और तदनन्तर वह अपना अभिप्राय प्रकट करे। योग्य आलोचना की सीमा कहाँ खतम होती है और कहाँसे राजद्रोह शुरू हो जाता है, यह हमेशा स्पष्ट नहीं दिखायी देता। कितने ही व्याख्याता अतने चतुर होते हैं कि कबड्डीके खेलकी तरह विरोधी टुकड़ीके खिलाड़ीको छूकर अपनी जगह सुरक्षित लौट आते हैं। ऐसे मामलोंपर विचार करते-करते कानूनकी मर्यादाएँ लचीली बन जाती हैं। किसी बातपर राज्य करनेवाले अधिकारीका व्यक्तिगत मत जैसे अन्तिम नहीं माना जाता, वैसे ही न्यायाधीशका व्यक्तिगत मत भी निर्णायक नहीं हो सकता। मर्यादाका अल्लंघन किया गया है या नहीं, इसपर फैसला करनेके लिये न्यायाधीशको कानून, शब्द, अर्थ तथा अमुके पीछे जो हेतु है उसपर ध्यान देना जरूरी हो जाता है। सिर्फ अमुककी संगतमें रहता है, अथवा अमुकके साथ देखा गया, इसलिसे किसीकी गिरफ्तारी अनुचित है। इसी परिस्थितिमें उसे कानूनका संरक्षण प्राप्त होना चाहिये। व्यक्तिकी स्वतन्त्रताकी रक्षा करते समय अथवा उससे उसको वंचित करते समय कोर्ट उस व्यक्तिके अद्देश्य, उसकी मानसिक स्थिति, अमुके शब्द, उसके प्रत्यक्ष व्यवहार तथा तत्कालीन परिस्थिति आदिपर विचार करती है और उस संदर्भमें वह कानूनका अर्थ बैठती है। किसीकी आलोचना तीव्र हो सकती है, लेकिन यदि वह दलकी बैठकमें की गयी हो तो उसे आक्षेपाहं मानना गलत होगा। जिस भाषण, लेख अथवा कृत्यसे राज्यको खतरा उत्पन्न हो सकता है, उसीको कानून आक्षेपाहं मानेगा, और उसके अलावा जो कुछ होगा, उसे वह संरक्षण देगा। कानून ढाल भी है और तलवार भी। कानूनकी यह भूमिका नागरिक तथा न्यायाधीश दोनोंके ध्यानमें ठीकसे आ जानी चाहिये। जो

कानून पसन्द न आता हो, अपनी सदसद्-विवेक-बुद्धिको न पटता हो, उसके सम्बन्धमें व्यक्तिका क्या कर्तव्य है—असकी चर्चा आगे एक व्याख्यानमें मैं करूंगा। जो काम कानून द्वारा निषिद्ध है, उन्हें यदि किया जाये तो सजा मिलेगी, यह स्पष्ट बात है। लेकिन कुछ काम ऐसे होते हैं जो कानून द्वारा मान्य नहीं होते, तथा जिन्हें सार्वत्रिक मान्यता भी नहीं रहती। ऐसे कामोंके क्षेत्र विचारोंतक सीमित रहते हैं और उनमें विविध और परस्पर-विरोधी विचारोंका संघर्ष होता रहता है। कानून अतनी सावधानी बरतता है कि जिस वैचारिक अखाड़ेके पहलवान अखाड़ोंमें ही लड़ें। गरम-गरम भाषणों एवं परेशानीमें डाल देनेवाले व्याख्यानोंको जिस क्षेत्रमें पूरी छूट रहती है। लेकिन यहाँपर भी कानून पंचके समान यह कहता है कि अखाड़ोंमें आकर लड़ो, बाहर नहीं।

लेखन-स्वातन्त्र्य अथवा मुद्रण-स्वातन्त्र्यका भी उपभोग कानूनकी सीमाओंमें रहकर किया जाना चाहिये। योग्य और सही आलोचना करना अधिकार है, लेकिन उसके द्वारा द्वेष फैलाना उस अधिकारका दुरुपयोग करना होगा। कोजी भी राज्य, राज्यको अलट देनेवाले, अवैध अथवा संविधानके विरुद्ध तरीकोंको प्रोत्साहन देनेवाले लेखोंको चुपचाप सहन नहीं कर लेगा। उसी प्रकार राज्यका कर्तव्य हो जाता है कि वह अश्लील, अभद्र और असभ्य मुद्रणको समाजके हितमें बन्द करे तथा उसकी रोकथाम करे। यह ठीक है कि कानून द्वारा नागरिकोंके भाषण व मुद्रण स्वातन्त्र्यकी रक्षाकी जानी चाहिये, और ऐसा करना उसका कर्तव्य भी है; पर साथ ही समाजके हितोंकी रक्षा करनेकी जिम्मेदारी भी कानूनकी ही होती है। जब न्यायाधीश कानूनका अर्थ लगाते हैं तथा उनपर अमल करते हैं, तब उन्हें जिस बातको सदा अपनी आँखोंके सामने रखना चाहिये। धर्म-स्वातन्त्र्य और श्रद्धा-स्वातन्त्र्यके सम्बन्धमें भी इसी तरहकी मर्यादाएँ हैं; जिसके सम्बन्धमें भी राज्यको राज्यकी सुरक्षापर मुख्य ध्यान देना चाहिये। धर्मके नामपर किसे जानेवाले उन सब कामोंपर राज्य पाबन्दी लगा देगा जिनसे धर्मकी आड़में समाजके लिये खतरा अुपस्थित हो जाता हो अथवा सामाजिक शान्तिके नष्ट हो जानेका अन्देश पैदा होता हो। जो यह चाहते हैं कि राज्यमें धर्मकी प्रतिष्ठा बनी रहे, उन्हें चाहिये कि वे धर्मको राजनीतिका हथियार न बनने दें।

राज्यको धर्म-विरोधी नहीं होना चाहिये और आधुनिक राज्य सामान्य तोरपर धर्म-विरोधी नहीं होते हैं। राज्य धार्मिक वृत्तिवाला रहे, पर धर्मका न रहे; याने, राज्यका अपना कोअी विशिष्ट धर्म नहीं होना चाहिये। राज्यको नीतिधर्मानुसार चलना चाहिये और अिस मर्यादाके अन्दर अुसके नागरिकोंको धार्मिक स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये। हरेकको यह अधिकार होगा कि वह चाहे जहाँ पूजा करे; सिर्फ अुससे सार्वजनिक शान्तिमें खलल न पहुँचनी चाहिये। तालियाँ बजाते हुअे समारोहपूर्वक जुलूस निकाला जा सकता है; लेकिन अैसा करनेमें अन्य धर्मवालोंके जो अधिकार हैं, अुनमें बाधा नहीं आनी चाहिये। नागरिकका यह अधिकार है कि वह रास्तेपर अकेला किंवा समूहके रूपमें चले, फिरे। प्रार्थनामें बाधा आती है, अिस आधारपर अुस अधिकारका विरोध नहीं किया जा सकता। लेकिन जब सार्वजनिक शान्ति अेवं सुव्यवस्था-को खतरा अुत्पन्न हो गया हो या अुसका निश्चित अंदेशा हो, तब किसी भी क्षण राज्यको अिन बातोंमें हस्तक्षेप करनेका अधिकार है। मतलब यह कि कानून व्यक्ति और समाजकी आवश्यकताओंको ध्यानमें रखकर हमेशा समाजका नियन्त्रण करता रहता है। राज्य जो बात धर्मके सम्बन्धमें करता है, वही वह जाति-विषयक व्यवहारके सम्बन्धमें भी करता है। कोअी भी जाति अथवा जमात अपने किसी व्यक्तिपर यदि अन्याय करे तो कानून अुसका निवारण करेगा। बहिष्कार करना या जाति-पंचायतके द्वारा और किसी प्रकार-का दण्ड देना व्यक्ति-स्वतन्त्रताके विरुद्ध काम है। अिसलिअे अैसी हालतमें कानून व्यक्तिकी सहायतार्थ दौड़कर आयेगा। खैर, जाति, पंचायतें अथवा अुनके फैसले अब अैतिहासिक वस्तुअें बन गअी हैं, अब अुनका अस्तित्व नहीं रहा। व्यक्तिको अपनी स्वतन्त्र बुद्धिसे चलने, विचार करने तथा विचार अभिव्यक्त करनेका पूर्ण अधिकार है। अुन अधिकारोंपर मर्यादाअें सिर्फ समाज हितकी दृष्टिसे ही लगाअी जाती है। अिस तरहका सरक्षण यदि व्यक्ति को नहीं दिया गया, तो अुसका मन बोना, शरीर कांतिहीन और जीवन विकल हो जायेगा। व्यक्तिको अपने व्यक्तित्वके विकासके लिअे मौका मिलना चाहिये। यदि सबको अिस प्रकारका अवसर मिले, तो पूरे राष्ट्रका विकास हो सकता है। जैसे बैठनेके लिअे यदि प्रशस्त तथा भरपूर जगह हो, तो मन प्रसन्न हो जाता है; अुसी तरह मनको यदि विचार करनेके लिअे प्रशस्त क्षेत्र मिले तो वह प्रसन्न

हो जाता है; वह अुत्तम बनता है, तेजस्वी बनता है। अच्छे मन, पुष्ट मन, विचारशील मन, तेजस्वी मन ही राष्ट्रकी प्रभावशाली सम्पत्ति होते हैं और कानूनका काम है अुन्हें सुरक्षित रखना।

जैसा कि बताया गया है कि नागरिक स्वतन्त्रतापर आक्रमण होनेपर कोर्ट कानूनके अनुसार न्याय देकर सहायता पहुँचाते हैं। नागरिकोंके आपसी विवादोंमें तो कोर्ट न्याय-दानका काम करते ही हैं; पर व्यक्ति और राज्यके बीच जब विवाद अुठ खड़ा होता है तब भी अुन्हें न्याय-दानका काम करना पड़ता है। हमारे संविधानके अनुसार, न्यायालय राज्यका अथवा विद्यमान सरकारका आज्ञापालक हथियार नहीं है। न्यायालय स्वतन्त्र है। हमारे संविधानके मार्गदर्शक सिद्धान्तोंमें अिस सिद्धान्तका अुल्लेख है कि न्यायदान-व्यवस्था और कार्यपालिका अेक-दूसरेसे स्वतन्त्र होनी चाहिये। सरकारकी कुछ भी नीति रहे, न्यायालय अुसको अमलमें लानेवाले संगठन नहीं हैं। न्यायालय तो न्याय देंगे और वह भी कानूनके अनुसार। यह सच है कि कानून बहुमतसे स्वीकृत होता है। पर पास हो जानेके बाद वह पूरी विधान-सभाका कानून बन जाता है, देशका कानून (Law of the land) बन जाता है; किसी अेक व्यक्ति अथवा दलका नहीं रहता। सोवियत न्यायदान-व्यवस्थामें स्पष्ट विधान है कि यदि न्याय और दलके हितमें संघर्ष अुत्पन्न हो तो कोर्टोंको दलका हित अर्थात् सत्तारूढ़ दलका हित प्रथम देखना चाहिये। * हमारे यहाँ संविधानके अनुमार और संकेतों अें परम्पराओंके अनुसार न्यायालय पूर्ण रूपसे स्वतन्त्र होते हैं। कोअी अेकाध न्यायाधीश सरकारके संकेतोपर चलता होगा, लेकिन अैसे अुदाहरण अपवादात्मक ही हैं। कानूनकी आड़में राजनीति रह सकती है, अुसकी पृष्ठभूमिमें राजनैतिक सिद्धान्त हो सकते हैं और होते हैं; पर कानूनका अर्थ करते समय न्यायाधीशके मनमें राजनीति नहीं रहनी चाहिये और अुसी तरह अुसके अमलमें भी राजनीति नहीं आनी चाहिये। यदि कानून ठीक न हो तो समाजकी दृष्टिसे

* सोवियत कानूनमें अैसी किसी धाराका अुल्लेख नहीं मिलता जिससे यह अर्थ निकलता हो। —अनु०

अुसको बदलना आवश्यक हो सकता है; लेकिन असलिये कानूनके सीधे और स्वाभाविक अर्थको विकृत करनेका अथवा व्यापक करनेका अधिकार कोर्टोंको नहीं है—यह बात भी अुतनी ही स्पष्ट है। यदि परिस्थितिमें परिवर्तन हो रहा हो, विद्यमान कानून अयोग्य तथा नाकाफी मालूम होता हो, तो अुसे सीधे विधान-सभामें बिल लाकर बदल लेना चाहिये—यही जनतन्त्रका वास्तविक तरीका है। कानूनकी अिष्टता किंवा अनिष्टता बतलाना कोर्टका काम नहीं है। जब कोर्ट सम्पत्ति-सम्बन्धी कानूनोंका अर्थ लगाता है, तब न्यायाधीशके अन्तर्मनमें अनजाने विद्यमान समाजकी भावनाओं चक्कर काटती रहती है और अुसके मनपर असर डाला करती है। असलिये, अुसके निर्णय सौ प्रतिशत निष्पक्ष और वर्गीय दृष्टिकोणसे मुक्त नहीं होते। प्रगतिशील समाजमें कानूनका अर्थ कानूनके अुद्देश्य पर, न कि अुसके परिणामोंपर, नजर रखकर लगाया जाना चाहिये। जनतान्त्रिक समाजमें न्यायदानके वातावरण-को अेक अत्यावश्यक वस्तु माना जाता है। जब व्यक्तिकी स्वतन्त्रता तथा समाजकी आवश्यकतामें विरोध अुत्पन्न हो जाता है, तब सम्पत्तिके सम्बन्धमें कानूनका पलड़ा समाजकी ओर झुकना चाहिये, और अैसा होना अनुचित नहीं। अुसी प्रकार शरीर-स्वातन्त्र्यका यदि सवाल हो तो कानूनके पलड़ेका व्यक्तिकी ओर झुकना अनुचित नहीं। सत्ता अुन्माद पैदा करती है और निरपेक्ष तथा अमर्यादित सत्ता अुन्मादको भी अुन्मादित कर देती है। असलिये सत्तापर मर्यादाओं डालनेवाले संगठनकी दृष्टिसे स्वतन्त्र न्यायदान-व्यवस्थाका निर्माण किया गया है। जो सत्तारूढ़ होते हैं अुन्हें यह लगता है कि अुनका दृष्टिकोण सम्पूर्ण समाजका दृष्टिकोण है, अुनका अपना मत सम्पूर्ण जनताका मत है। अिस अभिमानको मर्यादामें रखनेका काम पार्लियामेण्ट तथा न्यायालयको करना पड़ता है। असलिये संविधानको चाहिये कि वह जहाँ सत्ता अबाध रूपसे घुस सकती है अैसे क्षेत्रोंकी संख्या, जहाँ तक हो सके कम रखे और सत्ताका दुरुपयोग होनेपर कोर्टसे अिमदाद माँगनेका अधिकार जनताको दे। चुनावोंसे सत्तारूढ़ोंको नीचे खींचा जा सकता है, लेकिन दो चुनावोंके बीचके समयमें नागरिकोंकी स्वतन्त्रताओं सुरक्षित रहनी चाहिये और यह काम कोर्टोंका होता है। जनताके हित और व्यक्तिके अधिकारोंमें समन्वय स्थापित होना चाहिये। यदि अन्यायके विरुद्ध हस्तक्षेप करनेवाली कचहरियाँ न

हों तो जनता हिंसाका रास्ता अपना लेगी और तब पूरे देशमें गृह-युद्ध शुरू हो जायेगा। प्रत्येक व्यक्तिको उसकी झोपड़ी अंक किलेके समान सुरक्षित मालूम होनी चाहिये। उसे विश्वास होना चाहिये कि आक्रमणसे उसके जीवनकी रक्षा की जायेगी। उसे इस बातका भरोसा होना चाहिये कि समाजमें ऐसी परिस्थिति सहन नहीं की जायेगी जिसमें कोई उसकी पगड़ी उतार सके। सम्पत्ति अथवा व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य, कानूनको तोड़कर अथवा गैर कानूनी ढंगसे छीने नहीं जायेंगे—यह विश्वास, अर्थात् समाजमें सबको न्याय मिलेगा इस बातका विश्वास, हमेशा बना रहना चाहिये; सबमें इसकी पूर्ण प्रतीति कायम रहनी चाहिये। जनतन्त्रका अर्थ कानूनका राज्य है। कानून सबसे श्रेष्ठ है। कानून ऐसा रहे कि सब उसके सामने समान हों, सबको अंक-सा न्याय मिले।

प्रश्न :—क्या आप बता सकेंगे कि कानूनके राज्यका अर्थ निश्चित रूपसे क्या है ?

उत्तर :—अवश्य। कानूनके राज्यमें नागरिकके जीवनसे राज्यका जब-जब और जहाँ-जहाँ सम्बन्ध आता है, वहाँ-वहाँ राज्य उस सम्बन्धमें जो भी कुछ करता है, प्रचलित कानूनके अनुसार ही करता है। कानूनके स्वरूपके दो प्रकार होते हैं। अंक तो उस कानूनकी तत्त्वप्रणाली और दूसरी उसकी प्रक्रिया याने उसके कार्यान्वित होनेका तरीका। पहिले अर्थमें कानूनका राज्य, याने राज्यका कानून, मानवीय जीवनके श्रेष्ठ मूल्योंपर आधारित होना चाहिये। समग्र अथवा समष्टि रूपमें, समाजके व्यक्ति और समाज कुछ आचरणोंको योग्य और अचित्त समझते हैं; बादमें अन्हीमेंसे कुछ मूल्य पैदा हो जाते हैं। और जब अन्के आधारपर कानून बनाये जाते हैं तो अन्में समाजकी श्रद्धा स्थिर रहती है। जैसे यहाँ इस सभामें हर श्रोताको यह जानकारी है कि सभामें किस तरहसे व्यवहार करना चाहिये। उस सम्बन्धमें सभाकी भी अपनी कल्पना रहती है। इसलिये जब अन् दोनों कल्पनाओंके अनुसार सभा-कानून बनाया जाता है तो कहींपर भी असन्तोष किंवा दुःखकी जगह नहीं रहती। प्रचलित व प्रस्थापित मूल्यमें ध्येय और भावना दोनोंका समावेश रहता है। अन्को धक्का पहुँचानेवाले कुछ नये तत्त्वों अथवा विचारोंको लेकर यदि कानून बनाये जायेंगे, तो समाज अन्हीं मनसे स्वीकृति नहीं देगा।

सम्मति ज्ञानपूर्वक, समझ-बूझकर, दी जानी चाहिये; डरके मारे या डण्डके डरसे नहीं। उस सम्मतिमें अत्साह होना चाहिये, अदासीनता नहीं। कानूनका दूसरा स्वरूप याने वह रीति (Procedure) जिसके द्वारा उसको क्रियान्वित किया जाता है। गिरफ्तारी बिना योग्य कारणोंके नहीं की जा सकती। गिरफ्तारीके जो कारण हों, वे बताये जाने चाहिये। २४ घण्टेके अन्दर व्यक्तिको कोर्टके सामने खड़ा करना चाहिये। अभियुक्तको अपने बचावका मौका दिया जाना चाहिये। सम्पत्ति लेना हो तो कानून द्वारा बताया हुआ मुआवजा दिया जाना चाहिये। नागरिकोंकी जो स्वतन्त्रताएँ हैं, उनका संरक्षण योग्य ढंगसे होना चाहिये। किसीकी मेहरबानीपर वे निर्भर नहीं रहनी चाहिये। सरकारी कर्मचारीके हाथसे यदि कोई अपकृत्य हो जाये अथवा अपराध हो जाये, तो साधारण नागरिककी ही तरह कानूनके सामने उसे जवाबदेह होना पड़ेगा। कोर्ट, अमुक काम करो—नहीं कहेगा, वह तो 'अमुक मत करो' कहता है और इस तरह राजकारोबारमें जो सत्ताका दुरुपयोग होता है, उसको वह रोकता है। नागरिक हो या अधिकारी, प्रत्येक व्यक्तिका जन्मा है कि वह कानूनका पालन करे। कानूनके राज्यका अर्थ है—कानून हमारे ऊपर है, हम कानूनके ऊपर नहीं; जो हम करें सो कायदा नहीं। राज्यको, यदि प्रचलित कानूनको छोड़कर कुछ करना पड़े, तो उसके लिये भी उसे कानून बनाना पड़ेगा, अध्यादेश निकालना पड़ेगा। मतलब यह कि वाक्यको व्याकरणकी दृष्टिसे शुद्ध होना चाहिये, फिर चाहे वह अर्थहीन ही क्यों न हो अथवा गाली देनेवाला ही क्यों न रहे।

कल तो इसको फाँसी होगी, इसलिये आज कैदीको खाना क्यों दिया जाये—इस तरहसे विचार करना गलत है। कानूनके अनुसार उसे फाँसी के पहिलेकी चाय तक दी जानी चाहिये। उसे उसके अधिकारोंका पूर्णरूपसे उपभोग प्राप्त होना चाहिये। और कोर्टका काम यह देखना है कि अधिकारों सम्बन्धी व्यवस्था ठीकसे बनी रहे। न्यायालय नागरिक स्वतन्त्रताओंके पहरेदार है। व्यक्तिके प्रभावमें आकर वे गड़बड़ाएँगे नहीं, और न ही कानूनका विकृत अर्थ लगाकर प्रजाकी स्वतन्त्रतापर मर्यादाएँ लादनेका मौका राज्य सत्ताको देंगे। कानून नागरिक स्वतन्त्रताके हाथोंमें जबरदस्ती पहिनायी हुआ बेड़ियाँ नहीं है; वे तो रास्तेके उन सफेद पथरोंके समान हैं जिनसे

मुसाफिरोंका मार्गदर्शन होता है और जिनके कारण वे रास्ता नहीं भूल पाते । जैसा कि हम पीछे बता चुके हैं, कानून नागरिककी ढाल और तलवार दोनों हैं । कानूनका राज्य याने जिसमें आदर्श और अनुभव दोनोंका समन्वय रहता हो । राज्यकी सत्ता कानून द्वारा प्राप्त होनी चाहिये, कानूनके अनुसार उसका उपयोग होना चाहिये और स्वयं वह कानून मानवतापर आधारित रहना चाहिये । व्यक्तिको सरकारकी अनियन्त्रित सत्तासे बचाना और उसकी प्रतिष्ठाकी सावधानीसे रखवाली करना—ये दोनों आजके कानूनके मुख्य अद्देश्य तथा लक्षण हैं ।



८.

संयुक्त उत्तरदायित्व और उसकी कार्य-पद्धति

पिछले व्याख्यानोंमें बताया जा चुका है कि जनतान्त्रिक राज्य उत्तरायित्वपूर्ण राज्य होता है। अर्थात्, उसकी सरकार विधान सभाके द्वारा अथवा किसी और प्रकारसे जनताके प्रति जवाबदार रहती है। उत्तरदायित्व (जवाबदारी) का अर्थ यह हुआ कि जिसके प्रति जवाबदार है, वह यदि अविश्वास प्रकट करे अथवा जानेको कहे तो चले जाना। संयुक्त-राज्य अमेरिकामें मन्त्रि-मण्डल वहाँकी विधान-सभाके प्रति जिम्मेदार नहीं रहता। जनतन्त्र दो प्रकारका हो सकता है—संसदीय अथवा अध्यक्षीय संसदीय जनतन्त्रमें कार्यपालिका अर्थात् सरकार तभी तक अधिकारारूढ़ रह सकती है जबतक कि उसपर संसदका अथवा विधान-सभाका विश्वास रहता है। अविश्वासका प्रस्ताव स्वीकृत होते ही वह अिस्तीफा दे देती है। कार्यरत मन्त्रि-मण्डल अथवा सरकार अपने प्रमुखकी अर्थात् प्रधान-मन्त्री या मुख्य-मन्त्रीकी सरकार मानी जाती है। स्वयं मुख्य-मन्त्री विधान-सभामें

अपने दलका नेता होता है, और अुसके दलका विधान-सभामें बहुमत रहता है। नेता चुने जानेके बाद राष्ट्रपति अुसे मन्त्रि-मण्डल बनानेका आदेश देता है। तब वह अपने सहयोगी मन्त्री पसन्द करता है और अुनकी नियुक्तिकी सिफारिश करता है और तदनुसार राष्ट्रपति (Head of the state) अुनको नियुक्त करता है। हर मन्त्रीको विधान-सभाका सदस्य होना चाहिअे। नियुक्तिके समय यदि वह सदस्य न हो तो छः महीनेके अन्दर अुसे बन जाना चाहिअे। अिसके पीछे अुद्देश्य यह है कि हर मन्त्रीको जनताका प्रतिनिधि होना चाहिअे, अर्थात् चुनाव द्वारा अुसे संसदमें आना चाहिअे। संसदीय जनतन्त्रका यही अर्थ है कि अुसका प्रत्येक मन्त्री जनता द्वारा निर्वाचित होगा, संसदका सदस्य होगा और संसदके बहुसंख्य प्रतिनिधियोंका अुसपर तथा मन्त्रि-मण्डलपर विश्वास होगा। अिस तरहकी दोहरी योजनासे मन्त्री और मन्त्रि-मण्डलको अुत्तरदायित्वसे बाँध लिया जाता है। अध्यक्षीय जनतन्त्रमें मन्त्रि-मण्डल द्वारा अध्यक्ष मनोनीत (nominate) किया जाता है। सिर्फ अध्यक्ष ही अुसमें निर्वाचित होकर आता है और अुस हदतक वह जनताके प्रति जवाबदार रहता है। अुसके मन्त्रि-मण्डलका कोअी भी मन्त्री विधान-सभाका सदस्य होना चाहिअे, अैसा न तो कोअी नियम है और न कोअी परम्परा ही। अिसके विपरीत, वहाँ अैसी परम्परा बन चुकी है कि मन्त्री विधान-सभाका सदस्य न रहे। अिस दृष्टिसे अध्यक्षीय जनतन्त्रमें कार्य-पालिकाकी विधान-सभाके प्रति पक्की और अडिग जिम्मेदारी नही रहती। मन्त्रि-मण्डलपर अविश्वासका प्रस्ताव आया, मन्त्रि-मण्डलका पतन हुआ—आदि बातोंका वहाँ कोअी अर्थ नही है। संसदीय जनतन्त्रमें जनता जागृत रहती है। जैसे ही सरकार मर्यादाका अुल्लंघन करती है, अुसके हितोंके पहरेदार 'हाल्ट हुकुमदर' * कहकर अुसे ललकारते हैं। फौरन विधान-सभामें चर्चा होती है, प्रश्न पूछे जाते हैं, राजनैतिक वातावरण गरम हो अुठता है, तूफान अुठ खड़ा होता है और कभी-कभी मन्त्रि-मण्डलका पतन भी हो जाता है। जनताके प्रतिनिधि जैसे ही अविश्वासका प्रस्ताव पास करते हैं, सत्ताधीश गद्दी छोड़कर नीचे चले आते हैं। जनतन्त्रमें मन्त्रि-मण्डल सचमुच सूलीपरकी

* "Halt, who comes there ?" का सिपाहियाना रूप।

रोटी है। कष सूली धोखा देगी इसका भरोसा नहीं रहता। जीवन कषण-भंगुर है, सतत यही ख्याल रहता है। जैसे प्रियतमाको सतत खुश रखना पड़ता है, उसकी सतत आराधना करनी पड़ती है; उसी तरह जनतन्त्रमें संसदकी और उसके माध्यमसे जनताकी मर्जी संभालनी पड़ती है। 'वृद्धस्य च तरुणी भार्या करदीपमेव' याने बूढ़ेके लिये युवा पत्नी हाथमे दीयेके समान है। जैसे दीपकके बुझ जानेका हर समय डर बना रहता है, वैसे ही बूढ़ेको युवा पत्नीके हाथसे निकल जानेका डर रहता है। ऐसा ही भय जनतन्त्रमें मन्त्रि-मण्डलके मनमे सदा बना रहता है। इसलिये वह छोटी-छोटी बातोंकी भी अवहेलना नहीं कर सकता। अध्यक्षीय जनतन्त्रमे कार्यपालिकाकी स्थिति उसके बिल्कुल विपरीत होती है। उसमे एकमात्र अध्यक्षको ही कार्यकारी सत्ता माना गया है। विधान-सभा यदि उसकी सिफारिशोंको नामंजूर कर दे, उसकी कार्य-नीतिके खिलाफ अविश्वास प्रकट कर दे तो भी उसे गद्दीसे नहीं हटाया जा सकता। जितनी उसकी मियाद है, उतने समय तक वह सत्तारूढ़ रहेगा ही। उसके व्यक्तिगत चरित्रमें यदि कोई गड़बड़ी हो अथवा दोष हो तभी उसे हटाया जा सकता है; लेकिन उसकी कार्य-नीति पसन्द नहीं है, इस आधारपर नहीं। संसदीय जनतन्त्रमें मन्त्रि-मण्डलकी नीति अस्वीकृत होते ही उसे अस्तीफा दे देना पड़ता है, क्योंकि दूसरोंकी नीतिपर अमल करना उसका काम नहीं है। ऐसी परिस्थितिको वह अपनेमें अविश्वास मानता है और अस्तीफा दे देता है। अस्तीफा भी पूरे मन्त्रि-मण्डलका होता है, क्योंकि कार्य-नीति पूरे मन्त्रि-मण्डलकी होती है, किसी एक मन्त्रीकी नहीं। अध्यक्षीय जनतन्त्रमें उसके विपरीत स्थिति है। चूँकि संसदको अध्यक्षकी कार्य-नीति नापसन्द है, सिर्फ इसी वजहसे अध्यक्ष अस्तीफा नहीं दे देगा। कारण, वह संसद अथवा विधान-सभाके प्रति जिम्मेदार नहीं रहता है, वह आम जनताके प्रति जिम्मेदार रहता है। लेकिन आम जनताको उसकी कार्य-नीति अमान्य है, इसे प्रकट करनेकी अमरीकी संविधानमें व्यवस्था नहीं है।

अभी जो कुछ कहा गया है उसको हम यूँ भी कह सकते हैं : संसदीय उत्तरदायित्व यथार्थ वस्तु होती है, वह सिर्फ कागजी बात नहीं है। उसमें जनता एक निश्चित समयके लिये सत्तारूढ़ होनेका अधिकार प्रदान करती है;

पर वह अुसे रह करनेके अपने अधिकारको भी साथ ही कायम रखती है और मौका आनेपर अुसपर अिस्तेमाल भी करती है। अध्यक्षीय अुत्तरदायित्व अुतना यथार्थ नहीं होता; अध्यक्ष अेक बार चुन लिअे जानेपर निश्चित समय तक बना ही रहता है, अुसे हटाया नहीं जा सकता (Irremovable)। संसदीय जनतन्त्रमें कार्यकारी सत्ताको अथवा सरकारको किसी भी समय हटाया जा सकता है (Removable)। अध्यक्षीय जनतन्त्रमें अध्यक्ष किसीको भी मन्त्री बना सकता है, और वह अध्यक्षके प्रति ही जिम्मेदार रहता है और अुसकी यह जिम्मेदारी अुसके अपने विभाग तक सीमित रहती है। अुसे विधान-सभा नहीं हटा सकती। अुसके प्रति वह जवाबदार नहीं रहता। वह अन्य मन्त्रियोंके कामोके लिअे भी जिम्मेदार नहीं होता। नारायणका प्रायश्चित नारायणको ही करना पड़ता है, दूसरेको नहीं। अिससे विरुद्ध, संसदीय जनतन्त्रमें मन्त्री नारायणकी गलतीका प्रायश्चित सब मन्त्रियोंको करना पड़ता है। अर्थात् संसदीय मन्त्रि-मण्डलमें सबका संयुक्त अुत्तरदायित्व होता है। अध्यक्षीय जनतन्त्रमें अध्यक्ष मन्त्रीको नियुक्त करता है और अैसा करते समय वह अुसकी कार्य-कुशलता तथा अनुभवका अधिक विचार करता है, अुसकी राजनैतिक ताकतके बारेमें वह अुतना ध्यान नहीं देता। अमेरिका महाद्वीपके संयुक्त राज्य (यू. अेस. अे.) के संविधानके अनुसार मन्त्रियोंकी नियुक्तियोंका सुझाव अध्यक्षकी सिफारिशके रूपमें सिनेट अथवा अुच्च सदनमें रखा जाता है और सिनेट अुन नियुक्तियोंको मान्य करती है। लेकिन मन्त्री किसी भी विधान-सभाके सदस्य नहीं होते और न वे किसी विधान-सभाके प्रति अुत्तरदायी होते हैं। चूँकि ये शासनविज्ञ होते हैं अिसलिअे चाहे किसी भी पक्षका अध्यक्ष आअे, वे, कभी बार, मन्त्रि-मण्डलमें बने रहते हैं। संसदीय जनतन्त्रमें मुख्य-मन्त्री जब किसीको अपने मन्त्रि-मण्डलमें शामिल करता है तब वह यह तो देखता ही है कि वह व्यक्ति अुसके अपने दलका है; परन्तु साथ ही अुसे अुस व्यक्तिका दलमें तथा देशमें जो महत्व है अुसपर भी ध्यान देना पड़ता है। अुस व्यक्तिके पीछे कोअी गुट है या नहीं, अुसको न लेने पर दलगत संगठनकी दृष्टिसे क्या परिणाम होंगे आदि बातोंपर भी अुसे विचार करना पड़ता है। मन्त्रियोंकी नियुक्तिमें अनुभव और योग्यतापर विचार ही नहीं किया जाता अैसी बात नहीं है। लेकिन अुसमें

औरोंके साथ मिलकर चलनेकी शक्ति है या नहीं, और वह हठी और जिद्दी तो नहीं है—असका भी विचार करना पड़ता है। कारण, मन्त्रि-मण्डलमें अनेक मन्त्रियोंके रहनेपर भी वह अकेला ही होता है। उसमें समान विचार, समान ध्येय रखनेवाले और समाधानपूर्वक काम करनेवाले लोग होंगे तभी वह कार्यक्षम बनेगा। मन्त्रीके राजकीय शीलपर भी ध्यान देना आवश्यक है। पालमें डाले गये सब आम अच्छे होने चाहिये। यदि उसमें अकेला भी खराब रहेगा तो वह पूरे पालको बिगाड़ देगा। अकेले ध्येयवाले, दलके प्रति निष्ठावान और अधिक हठ न करनेवाले व्यक्तियोंको मन्त्रि-मण्डलमें लिया जाता है। राजनीतिका अर्थ होता है लगातार समझौता, लगातार मिलजुल कर रहना; इसी बातको ध्यानमें रखकर मन्त्रि-मण्डलका गठन किया जाना चाहिये। दो व्यक्ति जब अकेले ही स्तरके होते हैं तो उनमें परस्पर व्यवहारके सम्बन्धमें प्रश्न अठ खड़ा होता है। चूँकि उनमेंसे कोई किसीका नौकर नहीं है, इसलिये समकक्ष सहयोगी आपसमें कैसे व्यवहार करें असका निर्णय करना आसान नहीं होता। 'पिंडे पिंडे मतिः भिन्ना'—अलग-अलग व्यक्तियोंके मत भी अलग-अलग होते हैं। प्रत्येक व्यक्तिकी अपनी अस्मिता (अहं) होती है, हरेकका किसी-न-किसी विषयपर अपना आग्रह भी होता है। किसीका दृष्टिकोण व्यापक रहता है, किसीका व्यावहारिक; कोई शब्दके लिये अर्थको तिलांजलि दे देता है तो कोई अर्थ सिद्ध हो जानेपर शब्दकी परवाह नहीं करता। सब अकेले पक्षके होनेपर भी स्वभावसे भिन्न-भिन्न होते हैं। अकेले हाथ, उसकी पाँच अँगुलियाँ; पर वे भी अकेले समान नहीं होतीं। लेकिन जब निश्चयपूर्वक मुट्ठी बाँधी जाती है तो वे सभी 'अकेले' बन जाती हैं। उसी प्रकार विचार-विनिमयके बाद निर्णयकी मुट्ठी भी अकेले ही रहती है और रहनी चाहिये। यह अमुक व्यक्तिका निर्णय है ऐसा वहाँ भाव नहीं रहता। मन्त्रि-मण्डलका निर्णय सामूहिक होता है। अमुक निर्णय लेते समय अमुकका शब्द प्रभावशाली सिद्ध हुआ, अमुककी नीति स्वीकृत कर ली गयी आदि बातोंको महत्व नहीं रहता। वह निर्णय मन्त्रि-मण्डलका है सिर्फ इसी बातका महत्व रहता है और सब मन्त्री व्यक्तिः और संयुक्त रूपसे उसके लिये जिम्मेदार माने जाते हैं। उससे जो प्रतिष्ठा होगी अथवा जो प्रायश्चित्त भुगतना पड़ेगा वह सबके लिये अकेला होगा; किसी

अस्की कम या ज्यादा नहीं। क्रिकेटके खेलमें जीत या हार होती है टीम की। किसीने अच्छी गोलन्दाजीकी अथवा अच्छी बैटिंगकी, अस्का कोअी अर्थ नहीं। सब लोग टीमके लिये खेले और टीमकी ही जय या पराजय होती है। अिसी तरह मुख्य निर्णय हो जानेके बाद कोअी भी मन्त्री यह नहीं कह सकता कि वह अस्के विरुद्ध था। असे भी अस्का प्रायश्चित्त भुगतना पड़ेगा। यदि असे मन्त्रि-मण्डलका निर्णय स्वीकार न हो, तो असे अिस्तीफा देकर बाहर चले जाना चाहिये। यदि वह अिस्तीफा न दे और मन्त्री बना रहे तो अिसका अर्थ यह हुआ कि अस् निर्णयकी जिम्मेदारी कानूनी दृष्टिसे अुसने स्वीकार कर ली है। मन्त्रि-मण्डलका निर्णय भले ही अेकमतसे न लिया गया हो, वह बहुमतका ही निर्णय हो; पर निर्णय हो जानेके बाद वह सबका—पूरे मन्त्रि-मण्डलका निर्णय बन जाता है और अस्के लिये सबकी जिम्मेदारी रहती है। अिसीको संयुक्त अन्तरदायित्व कहते हैं।

अपर जो विवेचन किया गया है अुसपरसे यह बात सरलतापूर्वक समझमें आ गयी होगी कि वास्तविक संयुक्त अन्तरदायित्व तभी सम्भव है जब कि मन्त्रि-मण्डलके सब लोग अेक दलके हों, अेक कार्यक्रमके माननेवालों हों तथा कुछ अनुशासन अथवा शिस्तका पालन करनेवाले हों। कअी बार चुनावमें किसी अेक दलको निर्णायक बहुमत नहीं मिलता; तब दो अथवा अधिक दल अेकत्रित होते हैं और मन्त्रि-मण्डलका गठन करते हैं। प्रत्येक दल अपने-अपने कार्यक्रमके बलपर चुनकर आया होता है। अधिकारारूढ़ होनेपर अुनपर अमल करनेका वह जनताको वचन दे चुका होता है। जब किसी भी दलका बहुमत नहीं होता, तब किसी भी दलको अपने कार्यक्रमपर अमल करनेका अवसर तथा अधिकार प्राप्त नहीं हो पाता। लेकिन राज्यका काम और कारोबार तो चलना चाहिये; अिसलिये दो अथवा अधिक दल अेक साथ बैठते हैं, लेन-देनकी बात होती है, सौदा निश्चित होता है, संयुक्त मन्त्रि-मण्डल बनाया जाता है, कार्यक्रम निश्चित होता है और अिस तरह राज्यका रुका हुआ कारोबार शुरू किया जाता है। लेकिन सूक्ष्म दृष्टिसे सोचनेपर यह जनताको धोखा देना ही है। अुनसे वायदा कुछ किया गया था और किया कुछ जाता है। जैसे मकअी माली (किसान) की, लेकिन सियारोंमें अुसके लिये झगड़ा होता है; वैसे ही यहाँपर भी खींचतान कर कोअी तो भी सत्ताधीश बन बैठते

है। यह सौदा करते समय दिखाये गये नमूनेके अनुसार माल न देने जैसी बात हुई है। महाराष्ट्रके वर्तमान* राजकरणको देखिये। जो सिर्फ अेक विषयपर अेक मत है; लेकिन अन्य सब—आर्थिक और सामाजिक-विषयोंपर भिन्न-भिन्न मत रखते हैं अैसे अलग-अलग दलके लोग अेकत्र हो गये हैं। अनुपर राज्य चलानेकी यदि जिम्मेदारी आ जाये तो क्या होगा, यह सोचकर बड़ा दुःख होता है। पंजीपति, अुनके सहारे जीनेवाले, धर्मको अफीमकी गोली माननेवाले, जमींदारी रहनी चाहिये अैसा कहनेवाले तथा अुसे बिल्कुल खतम कर देना चाहिये अैसा भी कहनेवाले, अुद्योग धधोपर व्यक्तिगत स्वामित्व रहना चाहिये अैसा बोलनेवाले तथा अुनका राष्ट्रीयकरण कर देना चाहिये अैसा प्रचार करनेवाले, सब अेक जगह आ गये हैं। पर, वे सब अेक नहीं हैं। जो पाणिनि भी न कर सके, वह राजनीतिमें हो रहा है। “विचारवान पाणिनिरेकसूत्रे श्वानं युवानं मघवानम् आह्” विचारवान पाणिनिने अेक ही सूत्रमें कुत्ते, युवक और मघवान (याने अिन्द्र) को ला पटका! राजकरणमें अिनसे भी अधिक विसंगत व्यक्तित्ववाले तथा दृष्टिकोण वाले लोग, स्वार्थ अेवं सत्ताके धागेमें बँधे हुअे अेक साथ दिखायी देते हैं। और अैसी परिस्थितिमें जो मन्त्रि-मण्डल बनेगा अुसके संयुक्त मन्त्रि-मण्डल होनेपर भी अुसमें साम्य नहीं होगा, युक्तता नहीं होगी, समान विचार न होगा और कौन-सा दल कब लड़कर अलग हो जायेगा अिसका भी कोअी भरोसा नहीं रहेगा। अैसे गठबन्धनमें वह छोटा दल जिसमें कि बहुमत बनता है, अधिक प्रभावशाली सिद्ध होता है। वह सदा रूठता रहता है, अुसे सदा पूजा तथा पुरस्कारकी अपेक्षा रहती है। और अुसकी बात मानकर सत्ता कायम रखनेके लिअे प्रयत्नशील बहुमतवाला दल अपने छोटेसे स्वार्थके लिअे जनता-हितकी बलि देता रहता है। किंकर्तव्यविमूढ़ बनकर वह ‘पर प्रत्यय-नेय-बुद्धि :’—दूसरोंके कहनेपर चलनेवाला—बन जाता है। (संयुक्त महाराष्ट्र झालाच पाहिजे-घोषणा।) ‘संयुक्त महाराष्ट्र होना ही चाहिये’ अिस सम्बन्धमें आपके तथा मेरे विचारोंमें कोअी मतभेद नहीं है। लेकिन मेरा आग्रह है कि सारासारका विचार अवश्य किया जाना चाहिये। जनतन्त्र-संसदीय-जनतन्त्रको

यदि कामयाब होना हो तो वही दल सत्तारूढ होना चाहिये जिसे कि निश्चित बहुमत प्राप्त हो तथा जिसमें सब अेक ही दलके लोग रहें। जनतान्त्रिक कारोबारको यदि सफलता प्राप्त करनी हो तो अुसमें अेक अैसे दलकी सरकार होनी चाहिये जो सब दृष्टियोंमें संयुक्त जिम्मेदारीको निभा सके, और वह भी शोभा तथा गौरवके साथ। अनेक दलोंका संयुक्त मन्त्रि-मण्डल भानमतीके कुनबे-सा होगा।

अनेक दलोंका बना हुआ संयुक्त मन्त्रि-मण्डल संयुक्त अन्तर-दायित्वको निभानेवाला मिद्ध नहीं होता। अिसके लिये संयुक्त अन्तरदायित्वकी प्रक्रिया अथवा जिस तरहसे वह कार्यान्वित होता है, वह पद्धति भी जिम्मेदार है। संसदमें जिसका बहुमत है अुस दलका नेता संसदीय जनतन्त्रमें मन्त्रि-मण्डलका प्रमुख बनता है, और अुसके पीछे संसदमें अुसका दल खड़ा रहता है। अुसकी अथवा अुसके मन्त्रि-मण्डलकी क्या नीति रहे, अिसकी चर्चा मोटे रूपसे अुसके दलकी बैठकमें हो जानी है और दलकी स्वीकृति प्राप्त हो जानेके बाद मन्त्रि-मण्डल नीति निश्चित करता है और सदनमें अुस हिसाबसे कदम अुठाता है। दलका जो नेता है वही मन्त्रि-मण्डलमें प्रमुखके लिहाजसे अुसकी बैठकका मभापतित्व करता है, वही चर्चाका नियन्त्रण करता है। चूँकि दलमें मुख्य नीतिको मान्यता मिल जाती है अिसलिये मन्त्रि-मण्डलकी बैठकमें जो मतभेद प्रकट होते हैं वे मौलिक नहीं होते। बैठकके अध्यक्षके नाने मुख्य-मन्त्रीपर यह जिम्मेदारी रहती है कि वह अुन मतभेदोंमें समन्वय कायम करे, कुछ ले-दे कर कामको आगे बढ़ाये। अुसके शब्दके पीछे दलकी ताकत रहती है और अिसलिये वह तरकीब तरकीबसे, कुछ छूट देनेका आभास निर्माण कर प्रायः अपने मनकी बात करवा लेता है। अिसके अलावा, हरेक मन्त्रीके मनमें गुप्त रूपसे यह डर बना रहता है कि मुख्य-मन्त्रीकी मर्जीके विरुद्ध जानेपर अपना स्थान निश्चित नहीं रहेगा। दलके नेताके रूपमें निर्वाचित मुख्य-मन्त्री ही मन्त्रियोंको पसन्द करता है। मन्त्रि-मण्डलमें कौन-कौन मन्त्री रहे, अिसका निर्णय दल नहीं करता; वह तो सिर्फ नेताको चुनता है और मन्त्रि-मण्डलमें किसे लेना और किसे नहीं लेना आदि बातोंका निर्णय अुसके हाथमें सौंप देता है। यह नहीं कि मन्त्रि-मण्डलमें कौन लिया जाये अिसके लिये अुठापटक या कोशिशें नहीं होतीं या दबाव

नहीं डाला जाता; जाति, धर्म, प्रदेश अत्यादि दृष्टिकोणोंसे कअियोंका समर्थन किया जाता है। स्वयं मुख्य-मन्त्रीके भी अलग-अलग व्यक्तियोंके बारेमें अपने पूर्वग्रह रहते हैं। चतुर चाणाक्य मुख्य-मन्त्री अपनी बराबरी कर सकनेवाले अथवा उस हदतक पहुँच सकनेकी क्षमता रखनेवालेको, अपने मन्त्रि-मण्डलमें स्थान नहीं देता। जिसको न लेनेसे हल्ला मच सकता है, पर लेनेसे परेशानी और न कुछ तो डर ही पैदा हो, अैसे भी व्यक्तियोंको उसे मन्त्रि-मण्डलमें शामिल कर कुछ खतरा अुठाना पड़ता है। मन्त्रि-मण्डलमें गुण, सिफारिश, दबाव अथवा और किसी भी ढोड़ेपर बैठकर चले आनेपर भी उसमें बने रहना सिर्फ मुख्य-मन्त्रीकी मेहरबानीपर निर्भर रहता है। यह सिर्फ कल्पनाकी बात नहीं है; अितिहासके पन्ने-पन्नेपर यह अनुभव लिखा हुआ है। असिलिअे मन्त्रि-मण्डलकी बैठकमें मुख्य-मन्त्रीके तन्त्रके अनुकूल उसके तालसे ताल मिलाकर काम होता है। असका यह मतलब नहीं कि पदकी अपेक्षा सिद्धान्तको अधिक महत्व देनेवाले, अपने ही मतपर अटल रहनेवाले, मुख्य-मन्त्रीसे मौलिक मतभेद हो जानेपर सब कुछ छोड़-छाड़कर बाहर निकल जानेवाले मन्त्री रहते ही नहीं। जैसे मन्त्रि-मण्डलमें व्यक्तिगत स्वार्थ तथा पदका ख्याल कर मनको समझा लेनेवाले, सिर झुकाकर चलनेवाले मन्त्री होते हैं, वैसे ही उनमें अैसे अुच्च वृत्तिके लोग भी होते हैं जो अपने मनके आग्रहपर अेक हद तक जोर देनेके बाद मन्त्रि-मण्डलके निर्णयको दल अथवा देश-हितकी दृष्टिसे स्वीकार कर लेते हैं। दलके नेताके प्रति, दलके प्रति और देशके प्रति अपना कुछ कर्तव्य है यह समझकर, फूटको टालनेकी दृष्टिसे वे मन्त्रि-मण्डलमें बने रहते हैं। लेकिन कुछ लोग जिस सत्यका अुन्हें साक्षात्कार हुआ है उसके प्रति अपनी निष्ठाको अधिक महत्व देते हैं और मन्त्रि-मण्डलसे अिस्तीफा दे देते हैं। लेकिन, सामान्यतया जब तक वह मन्त्रि-मण्डलमें है तबतक प्रत्येक मन्त्रीपर मन्त्रि-मण्डलका निर्णय बन्धनकारक रहेगा। व्यक्तिशः तथा मन्त्रि-मण्डलके रूपमें, यह उसकी संयुक्त जिम्मेदारी है। जो मन्त्रि-मण्डल मिला-जुला रहता है, उसके पीछे यह नैतिक और राजनैतिक पार्श्व भूमि नहीं रहती। उस मिले-जुले मन्त्रि-मण्डलका नेता मन्त्रि-मण्डलका अध्यक्ष याने मुख्य-मन्त्री ही रहता है; परन्तु उसके प्रति सब मन्त्री निष्ठावान् नहीं होते, क्योंकि वे अेक दलके नहीं रहते। नेताके रूपमें मुख्य-मन्त्रीका आदर

नहीं होता, और चूँकि वह मन्त्रि-मण्डलका अध्यक्ष है असलिये अुसकी बात मानी ही जानी चाहिये, यह नैतिक जिम्मेदारी भी संयुक्त मन्त्रि-मण्डलके मन्त्रियोंपर नहीं रहती। न असि तरहका अनुपर बन्धन रहता है कि वह मुख्य-मन्त्री है असलिये सदनमें अुसके साथ रहना चाहिये। जो मन्त्रि-मण्डल सचमुचमें संयुक्त अुत्तरदायित्वके तत्वपर बना होता है, अुसमें चर्चा लेन-देनके आधारपर नहीं चलती। वहाँ हरेक दृष्टिकोणकी चर्चा अुसके गुण-दोषपर ही होती है। मिले-जुले मन्त्रि-मण्डलमें स्थिति अुलटी है। वहाँ चर्चामें सौदेबाजी चलती है। हमारे दलकी कम-से-कम अमुक माँग पूरी करो, अन्यथा हम चले—अिस तरहका वातावरण अुसमें रहता है और अैसे वातावरणमें किसी बातकी निश्चिन्ता नहीं रहनी; असलिये प्रगति नहीं हो सकती। न अुसमें राज्य कारोबारमें कुछ कर दिखानेकी महत्वाकांक्षा ही रहती है। मन्त्रि-मण्डलके प्रयत्नोंमें अुत्साह नहीं रहता। सिर्फ आगामी चुनावोंपर नजर रखकर समय पूरा करनेकी ही भावना रहती है। सदनमें मन्त्रि-मण्डल-विरोधी वातावरण अधिक परिमाणमें दिखायी पड़ता है। आपसमें न पटनेपर भी साथ-साथ रहनेवाले पति-पत्नीके समान मन्त्रियोंमें या तो झगड़े-बखेड़े खड़े होते रहते हैं या जो बात किसीके लिये अिष्ट नहीं होती, वह होती चली जाती है। असलिये, मिला-जुला मन्त्रि-मण्डल वास्तविक जनतन्त्रका मन्त्रि-मण्डल नहीं होता, अुसमें सच्ची संयुक्त जिम्मेदारी नहीं होती। सिर्फ समय आनेपर सब मिलकर अिस्तीफा दे देते हैं, अिस हदतक अनुमें अेकता रहती है। अिसके अलावा और किसी बातमें वे अेक नहीं होते। वह मन्त्रि-मण्डल केवल व्यक्तियोंका जोड़ है, गुणाकार नहीं। चार आदमी अिकट्ठे आ गये, पर उनका सच्चा मानसिक संघटन नहीं हो पाता अर्थात् यह उनका सिर्फ जोड़ हुआ। गुणाकारका अर्थ होता है—शक्ति और संघटन।

अबतक सामान्यतया मैंने संयुक्त जवाबदारीका अर्थ समझाया है। मन्त्रि-मण्डल अेक पंचायतनके समान है। पर कभी-कभी अपवाद रूपमें किसी अेकाध कामके लिये, अुस कामको करवानेवाले मन्त्री अथवा जो विभाग, अुसके लिये जिम्मेदार है अुस विभागके मन्त्री तक ही अुस कामके अुत्तर-दायित्वको सीमित कर दिया जाता है। तब वह मन्त्री या तो त्यागपत्र दे देता है या अुसे निकाल दिया जाता है। अुस कृत्यके लिये पूरे मन्त्रि-मण्डलको

जिम्मेदार नहीं माना जाता। अर्थात् जब मन्त्रि-मण्डलकी ऐसी राय होती है तभी ऐसा किया जाता है। जो बात जहाजको डूबनेसे बचानेके लिये की जाती है, ठीक वही यहाँ भी की जाती है। अकाधकी बलि देकर ताकत कायम रखनी पड़ती है। वास्तवमें किसी खातेमें कुछ भी हो जानेपर संयुक्त उत्तरदायित्वकी दृष्टिसे सबकी ही पूरी जिम्मेदारी रहती है। कुछ बातें सिर्फ शासन-प्रधान (Administrative Decision) होती हैं; और जब कोई ऐसी बात अयोग्य या अवांछनीय ढंगसे हो जाती है तब जिसके जिम्मे वह विभाग रहता है, वह मन्त्री उसके लिये जिम्मेदार माना जाता है। वह उसके लिये अपनी जिम्मेदारी सदनके सामने मान लेता है और अस्तीफा दे देता है। जब वह घटना नीति-सम्बन्धी होती है तब उसके लिये वस्तुतः पूरा मन्त्रि-मण्डल जिम्मेदार होता है और उस समय पूरा मन्त्रिमंडल अस्तीफा दे यही ठीक रहता है। लेकिन जब यह दिखायी देता है कि बात विशेषको छोड़कर लोकमत अपने ही पक्षमें है, दलके लोगोमें इस बातपर थोड़ी नाराजी है लेकिन सदनमें भी दलगत अनुशासनके कारण बहुमत निश्चित है और जनतामें भी तीव्र असन्तोष सिर्फ उसी बातपर है; तब सम्बन्धित मन्त्रीसे अस्तीफा ले लिया जाता है और पूरा मन्त्रि-मण्डल तूफानमें सुरक्षित बच निकलता है। १९३६ में अंग्लैंड तथा फ्रांसके विदेश मन्त्री श्री होअर तथा लाबलमें एक समझौता हुआ। वह समझौता समयके पहिले अखबारोंमें छप गया। अंग्लैंडमें उसपर बड़ी कठोर आलोचनाएं हुई। तब प्रधान-मन्त्री श्री बाल्डविन-ने होअरसे अस्तीफा दिलवाकर मन्त्रि-मण्डलको बचा लिया। सच बात यह थी कि होअरने जो कुछ किया था, प्रधान-मन्त्रीसे पूछकर ही किया था। अतना ही नहीं, मुख्य प्रश्न सम्बन्धी कोई भी योजना प्रस्तुत करनेके पहिले मन्त्रि-मण्डलकी औपचारिक बैठकमें प्रधान-मन्त्री उसपर अनौपचारिक ढंगसे चर्चा कर लिया करते हैं। लेकिन मन्त्रि-मण्डलके लिये एक मन्त्री राजनैतिक हाराकिरी कर ले, उसे संयुक्त उत्तरदायित्वकी दुनियामें “धर्म” माना जाता है। मन्त्रीको कोई बात न भी पटती हो, पर उसे चुप रहना पड़ता है। यदि कोई यह महसूस करे कि यह उसकी सदसद्विवेकबुद्धिका प्रश्न है तो वह बाहर चला जा सकता है। जब मन्त्रि-मण्डलपर बन आती है तो किसी अकाध मन्त्रीकी बलि दे दी जाती है और जबतक सदनमें बहुमत है, मन्त्रि-

मण्डलकी गाड़ी ढकेली जाती है। संविधान-शास्त्र तथा नीति अिन दोनोंकी दृष्टिसे जब तक सदनमें बहुमत है तब तक मन्त्रि-मण्डल विशेषकी सत्तापर रहनेका अधिकार है। बहुत बार ऐसे भी मौके आते हैं जबकि सदनमें तो बहुमत है लेकिन देशमें नहीं है—किसी विशिष्ट समयपर नहीं है; तब मन्त्रि-मण्डल यह सोचता है कि आज तो चुनाव न होने तक अधिकार हाथमें है, यदि निर्वाचनमें बहुमत न मिला और फिरसे सत्ता नहीं मिली तो विरोधी दलके रूपमें रहना पड़ेगा। कभी बार प्रश्न विशेषपर जनता सरकारसे नाराज रहती है। ऐसी हालतमें जनता क्या करे और सरकार क्या करे, यह गम्भीर सवाल उठ खड़ा होता है। विरोधी दल 'अस्तीफा दो' की चीख-पुकार मचाता है, लोकमत आजमा लेनेका चेलेंज देता है। लेकिन सरकार सोचती है कि यह अप्रियता क्षणिक है; असलमें वह अस्तीफा नहीं देती। कुछ दिनों बाद जनमत अधिक विवेकयुक्त हो जायेगा, अत्तेजना कम हो जायेगी—अस अुम्मीदमें वह हाथमें आती हुअी सत्ताको छोड़ता नहीं है। फिर भी राष्ट्रके अतिहासमें ऐसे भी प्रसंग आते हैं कि संसदमें निर्णायक बहुमत होनेपर भी मन्त्रि-मण्डल अस्तीफा दे देता है और चुनावोंकी घोषणा कर दी जाती है। १९४०में चेंबरलेनकी सरकारके विरुद्ध जनतामें तीव्र नाराजगी फैल गयी थी। संसदमें अुनके दलवाले अुनका साथ देनेके लिअे बहुत बड़ी संख्यामें थे और अन्त तक बने रहते। लेकिन राष्ट्रहितकी दृष्टिसे अुन्होंने (चेंबरलेनने) अस्तीफा दे दिया और बादमें वहाँ चर्चिलके नेतृत्वमें संमिश्र सरकार गद्दीनशीन हुअी, जो कि महायुद्धके अन्त तक बनी रही। कुछ महीनों पहले स्वेजके प्रश्नपर अंग्लैंडका लोकमत तीव्रतासे सरकारके खिलाफ हो अुठा, लेकिन सरकारने अस्तीफा नहीं दिया। चुनाव भी घोषित नहीं किअे। जब सदनमें बहुमत हो और बाहर अल्पमत, तब कहींकी भी सरकार साधारणतया दलके स्वार्थोंको मद्देनजर रखकर ही व्यवहार करती है। हाँ, यदि राष्ट्रीय संकटकी ही बात हो तो वह अस्तीफा दे देती है। जब अप्रिय हो जानेपर भी सरकार अस्तीफा नहीं देती, तो जनता क्या करे—यह सवाल पैदा होता है। आम चुनाव दूर है और सरकार गद्दी छोड़ती नहीं है; तब जनता बिगड़ अुठती है। विरोधी दलके नेता अुसे प्रवृद्ध करते रहते हैं।

सत्तारूढ़ दलके कुछ खरी-खरी सुना देनेवाले व्यक्ति भी अपने ही दलकी सरकारके विरुद्ध बोलने लगते हैं। पर सरकार गद्दी नहीं छोड़ती। लेकिन ऐसी हालतमें भी जनताद्वारा सीधी कार्यवाही या सामूहिक सत्याग्रह करना अयोग्य, अवैध एवं राष्ट्रके अन्तिम हितोंकी दृष्टिसे भयावह है। सत्तारूढ़ दल ऐसी परिस्थिति पैदा हो जानेपर प्रायः सम्बन्धित मन्त्रीका बलिदान कर देते हैं। कभी बार नीतिमें आमूलाग्र परिवर्तन कर दिया जाता है। जनतन्त्रमें कोअी भी सरकार अकदम जिद पकड़कर लम्बे समय तक काम नहीं कर सकती। सारे गाँवके साथ गधा भी खाना पड़ता है और वह मीठा है, यह भी कहना पड़ता है। राजनीतिमें पुनर्जन्म होता है। अच्छे काम करनेपर दल फिरसे निर्वाचित होकर आ सकता है। वर्ना, अुसकी अस्थायी मृत्यु हो जाती है। अिसलिले सब राजनैतिक व्यक्ति और दल चुनावोंकी ओर नजर रखकर कदम अुठाते हैं। साधारण जीवनमें जैसे हमें मृत्युको नहीं भूलना चाहिये, वैसे ही राजनैतिक जीवनमें चुनावोंको नहीं भूलना चाहिये। अिसीलिले कोअी भी सरकार “मर जाअेगे, पर झुकेंगे नहीं” की राजपूती बोली नहीं बोल सकती। वह यही कहती है कि हमारा पूरा कार्यक्रम समन्वयवादी है, लचीला है।

अब तक सामान्यतः यह बताया गया है कि जनतन्त्रमें मन्त्रि-मण्डल कैसे बनता है और कैसे वह बरतता है। सरकार याने मन्त्रि-मण्डल, यही मानकर अब तककी चर्चा की गयी है। जनतन्त्रमें बहुमतवाले दलका नेता प्रधान-मन्त्री बनता है, वह अन्य मन्त्रियोंको चुनता है और राष्ट्रपति अुनकी नियुक्ति करते हैं—यह सब कहा जा चुका है। चूँकि मन्त्रि-मण्डल सरकारका सारा कार्य चलाता है, मन्त्रि-मण्डल ही सरकार है—यह स्पष्ट हो जाता है। पर सरकारका कार्य कैसे चलाया जाता है, अिसे भी समझ लेना अच्छा होगा। सरकारकी कार्य-पद्धतिकी जानकारी लोगोंको नहीं होती, अिसलिले अकसर अुसकी अज्ञान-मूलक आलोचनाओं की जाती है। अतअेव सरकारी संगठनका स्वरूप और अुसकी कार्य-पद्धतिको समझ लेना जरूरी है। सरकार अर्थात् मन्त्रि-मण्डल निश्चय करता है कि किस प्रकारकी योजनाओं तैयार की जाअें, कैसे कर लगाअे जाअें? संक्षेपमें, राज्य-कारोबारसे सम्बन्धित हर अेक विषयके बारेमें मन्त्रि-मण्डल नीति निश्चित करता है। वह नीति या तो

प्रस्तावके रूपमें अथवा विधेयकके रूपमें विधान सभाके समाने पेश की जाती है। विधान सभा उसे स्वीकृत कर लेती है, तो वह कानून बन जाती है अथवा स्वीकृत योजनाका स्वरूप ले लेती है। बादमें उसपर अमल करनेका काम मन्त्रि-मण्डलका नहीं होता। वह काम राज्य-कारोबार चलानेवाले संगठन अथवा शासन-व्यवस्थाके पास आता है। किसी एक कम्पनीकी सर्वसाधारण सभा होती है। संचालक बोर्ड उसके सामने प्रस्ताव रखता है। वह पास कर दिया जाता है। उसके बाद संचालक बोर्ड उसपर अमल करनेका काम व्यवस्थापकको या मैनेजरको सौंप देता है। यही प्रक्रिया सरकारी कामोंमें भी होती है। मन्त्रि-मण्डलने नीति निश्चित की, विधान सभाने उसे स्वीकृत कर लिया; और तदनन्तर उसे अमलके लिये शासन-व्यवस्थाके पास भेज दिया जाता है। पहले यह कहा जाता था कि कारोबार चलानेकी दृष्टिसे सरकारका अर्थ है—अठारह कारखाने या अठारह विभाग।* आज ये विभाग यद्यपि अनन्त नहीं होते, फिर भी बहुतसे हैं। राज्यके कारोबारका संगठन तथा उसके कामोंका बँटवारा कार्यके स्वरूपानुसार होता है, और साधारणतया एक कामका एक खाता या विभाग बनाया जाता है। जैसे व्यवसाय, शिक्वा, गुरक्वा, अद्योत-धन्ने, आदि-आदिके विभाग। विभाग (Department) का अर्थ मन्त्रालय (Ministry) नहीं। प्रत्येक मन्त्रीका एक मन्त्रालय होता है और उस मन्त्रालयके मातहत अनेक विभाग रहते हैं। मन्त्रालयका काम भी निर्णयोंपर प्रत्यक्ष अमल करना नहीं है। यदि हम अपमान ही देना चाहें तो जैसे रसोआया रसोओ बनाता है और परोसनेवाले परोसते हैं, उसी प्रकार जो मन्त्रि-मण्डल निश्चय करता है, उसपर विभाग अमल करता है। पहले मन्त्रि-मण्डल किसी विषयपर अपनी नीति निश्चित कर लेता है, बादमें उसे सम्बंधित मन्त्रालयके पास भेज दिया जाता है। वहाँ कार्यान्वित करनेकी दृष्टिसे उसपर विचार किया जाता है और तदनन्तर प्रत्यक्ष कार्यवाहीके लिये वह विभागके पास भेजा जाता है। मैं खदान, लोक-निर्माण, विद्युत आदि विभागोंका मन्त्री था। ये विभाग अलग-अलग हैं, लेकिन उनसे

* शिवाजीके बाद मराठा शासन अठारह विभागोंमें, जिन्हें वे कारखाने कहा करते थे, बँटा हुआ था। —अनु.

सम्बन्धित सब प्रश्न अेक ही मन्त्रालयके हाथमे रहते थे। अिम साल कौन-सी अिमारते बनानी है, असपर विचार मन्त्रालयमे किया जाता है। असके पूर्व लोक-निर्माण-विभाग पूर्व-योजनाओंके तथा अभी जिनकी माँग की जा रही है अुन योजनाओंके खर्चोंके अन्दाजे बनाकर मन्त्रालयकी ओर भेज देता है। मन्त्रालयकी अनेक बैठकें होती हैं। अुनमें नअे सालके लिअे निर्धारित योजनाओं तथा अुनके खर्चका अेक क्रमवार निवेदन तैयार किया जाता है। अुस बातको तब सम्बन्धित मन्त्री मन्त्रि-मण्डलकी बैठकमे अुपस्थित करता है। वहाँ अुसपर वाद-विवाद होता है। जो निर्णय हंता है, वह फिर मन्त्रालयको भेजा जाता है। मन्त्रालय अुस निर्णयकी सूचना लोक-निर्माण विभागको देता है; और तब वह विभाग अुसपर अमल करता है। कभी बार निर्णय करानेके लिअे पहले ससदमे जाना पड़ता है। योजना वादमे बनानी पड़ती है, और फिर अुसके लिअे विधेयक तैयार करना पड़ता है। वह विधेयक मन्त्रि-मण्डलके सामने रखा जाता है। सम्बन्धित मन्त्री अुसका समर्थन करता है और वहाँ जैसा निश्चय हो, अुसके अनुसार विधेयकको फिरसे बनानेका काम मन्त्रालयको करना पड़ता है। कानून-मन्त्री तथा अुसके सलाहकारोंकी सहायतामे विधेयकका मसविदा तैयार होता है। पुनः वह मसविदा मन्त्रि-मण्डलके पास जाता है। मन्त्रि-मण्डलकी स्वीकृति मिलनेपर सम्बन्धित मन्त्री अुसे लोकसभा अथवा विधान-परिषदमे अुपस्थित करता है।

अुपर्युक्त वर्णनसे आपके ध्यानमें कुछ बातें सरलतासे आ गयी होंगी। पहली बात, कार्य अथवा योजना सम्बन्धी विचार करना, अुसके लिअे जानकारी अिकट्ठी करना, आँकड़े आदि तैयार करना और अुसपरसे योजना बनाना अथवा कार्यक्रम तैयार करना आदि सब काम करनेवाली अेक अलग व्यवस्था होती है। दूसरी बात; अिम योजनापर अन्तिम निर्णय लेनेवाली अेक दूसरी व्यवस्था होती है। योजनाको जनताकी स्वीकृति प्राप्त करा देनेवाली व्यवस्था तीसरी होती है और स्वीकृत योजनाको कार्यान्वित करनेवाली व्यवस्था चौथी होती है। लोग चाहते हैं कि सब बातें चटसे हो जानी चाहिअे, लालफीताशाही नही चलनी चाहिअे। लेकिन काममे गम्भीर विचार, कार्यक्षमता तथा व्यवस्थाकी दृष्टिसे अेक कार्य-पद्धतिका होना बहुत जरूरी है। पहाड़ और नदी देखी कि हुकुम दे दिया—‘बनाओ यहाँ बाँध’;

असमें तत्परता जरूर दिखायी देती है, लेकिन तारतम्य—सारासार-विवेक नहीं है। बाँधनेका निश्चय करनेके पूर्व, यहाँ वर्षभर में पानी कितना बरसता है, भू-भाग कैसा है, कितनी अँचाओपर बनानेसे कितने प्रदेशमें सीचायी हो सकेगी, यदि पानी अिकट्ठा हो जाये—तालाब बन जाये तो पानीका उपयोग कैसे और कहाँ तक हो सकेगा, बिजली अुत्पन्न करनी हो तो अुसे ग्राहक कितने मिलेगे, सम्पूर्ण योजनामें कितना खर्च होगा, वह पैसा कहाँसे लाया जाये, आदि अनेक प्रश्नोंका अध्ययन करना पड़ेगा। अुपलब्ध साधन-सामग्रीके साथ-साथ अुपलब्ध मनुष्य-शक्तिपर भी विचार करना होगा। और यह सब यदि करना है तो देर लगेगी ही। फिर जनतन्त्रमें योजना बन जानेके बाद अुसे विधान-सभामें या ससदमें अुपस्थित करना पड़ता है, और अुसके बाद ही अुसपर अमल करना शुरू किया जा सकता है। मसदीय जनतन्त्रमें काम चटमें नहीं होता, यह आक्षेप सामान्य रूपसे सच है। लेकिन यह भी सच है कि दीर्घ वाद-विवादके बाद जो कुछ होता है, वह भले ही पूर्ण-रूपेण निर्दोष न हो, पर अुसमें गलतियाँ कम रहती हैं और अधिकाशमें अुसे जनताकी मान्यता प्राप्त रहती है।

विभाग, मन्त्रालय, मन्त्री और मन्त्रि-मण्डल—अिन चार स्तम्भोपर राज्य-कारोबारकी अिमारत खड़ी रहती है। पार्लियामेण्ट अुस अिमारतके अूपर का झण्डा है। अिन चारों स्तम्भोंमें अथवा चारों व्यवस्थाओंमें पूर्ण सहयोग रहना चाहिये और अुनके कामोंमें प्रभावशाली तथा सम्पूर्ण सुसम्वादिता होनी चाहिये। जहाँ अेकमात्र मन्त्रीकी ही सारी जिम्मेदारी होती है, वहाँ बात ही दूसरी होती है। वाअिसरायकी कार्यकारिणीमें स्वयं सदस्य वाअिसरायके प्रति अन्तरदायी था; जब वह और वाअिसराय किसी बातपर अेकमत हो जाते थे, तो अुस बातको कार्यकारिणीमें नहीं रखा जाता था। अुनमें मतभेद होनेपर ही मतभेदके प्रश्नकी चर्चा कार्यकारिणीमें की जाती थी। लेकिन वहाँ भी वाअिसरायका मत निर्णायक माना जाता था। वहाँ संयुक्त जिम्मेदारी नहीं थी। चर्चा हो जानेके बाद बहुमतका निर्णय किसीके लिये बन्धनकारक नहीं हुआ करता था। अिसके विपरीत, हमारे संविधानके अनुसार, मन्त्रि-मण्डलमें जो निर्णय होता है, वह पूरे मन्त्रि-मण्डलका माना जाता है; वह किसी अेक मन्त्रीका अथवा मुख्य-मन्त्रीका निर्णय नहीं माना जाता। वाद-विवादके

खलबत्तेमें अनेकोंके विचार और दृष्टिकोण कूटे-पीसे जाते हैं; जब अनुपर चर्चा होती है तो वे आपसमें घुलते-मिलते हैं और अतना सब होनेके बाद जो रसायन निकलता है, वह होता है 'निर्णय।' उसमें सबके वैचारिक दृष्टिकोणका समावेश होता है, किसी अेककी दृष्टि नहीं रहती। अैसा जो निर्णय होता है वह किसी अेकका नहीं रहता, वह सबका होता है। वह अठारह प्रकारके अनाजकीं नहीं, अठारह प्रकारके दृष्टिकोणोंकी, मनोंकी खिचड़ी जरूर रहती है। चूँकि उसमें पृथक् भाव लुप्त हो जाता है, अिसी लिअे वह सबका बन जाता है। मुख्य-मन्त्री मन्त्रि-मण्डल बनानेवाले दलका नेता होता है, वह मन्त्रि-मण्डलकी बैठकका अध्यक्ष रहता है, फिर भी उसका मत निर्णायक नहीं रहता, बन्धनकारक नहीं रहता, हाँ; वहाँ विचारणीय अवश्य होता है। मुख्य-मन्त्रीका दर्जा समकक्षोंमें प्रथम (Prima con piers) का-सा रहता है। मोटे तौरपर नीति (Policy) की दृष्टिसे उसकी देखरेख सम्पूर्ण कारांवारपर रहती है। व्यक्तिशः वह मन्त्रियोंको सलाह देता है, उनका पथ-प्रदर्शन करता है। उनके विभागोंमें जो कुछ चलते रहता है, उस ओर उसका ध्यान रहता है। अिस प्रकारका ध्यान रखना उसका काम है, वह उसका कर्तव्य ही है। लेकिन किसी भी मन्त्रीके दैनंदिन कामोंमें वह हाथ नहीं डालता। मन्त्रियोंमें कामोंको लेकर यदि विवाद अपस्थित हो जाअे तो वह उसका फैसला करता है अथवा समझौता करा देता है। लेकिन यह जरूरी है कि सबके सब महत्वपूर्ण प्रश्न मन्त्रि-मण्डलके सामने रखे जाअे और अनुपर जो भी निर्णय हाँ, सब मन्त्री अनुके अनुसार चलें; कारण, अैसे निर्णयोंमें प्रत्येक मन्त्रीका हाथ रहता है, अनुके मिलकर विचार करनेका वह परिणाम होता है। मन्त्रि-मण्डलमें रखे जानेके पूर्व, प्रत्येक प्रश्नकी सारी जानकारी अिकट्ठी कर प्रत्येक मन्त्रीके पास भेज दी जाती है। उसपर मन्त्रि-मण्डलकी बैठकमें अधिक जानकारी माँगी जाती है। प्रश्नका जिन-जिन मन्त्रियोंसे सम्बन्ध रहता है, उन उन मन्त्रालयोंसे उस प्रश्नपर टीका-टिप्पणी हासिल कर, पहलेसे ही सबके पास प्रेषित कर दी जाती है। सारांश, मन्त्रि-मण्डलमें जो भी निर्णय किअे जाअे, वे पूरी जानकारीके साथ किअे जाअें—अिस दृष्टिसे प्रत्येक मन्त्रीके पास जरूरी साधन-सामग्री भेज दी जाती है। अैसे हर सप्ताहमें प्रत्येक विभागमें जो महत्वपूर्ण बातें, निर्णय

नियुक्तियाँ आदि होती हैं अुनके सम्बन्धमे साप्ताहिक टिप्पण (Weekly notes) प्रत्येक मन्त्रीके पास पहुँच जाता है और प्रत्येक सप्ताहमें मन्त्रि-मण्डलकी जो बैठक होती है अुसके कार्यक्रमपर पहिला विषय अिन टिप्पणोंपर चर्चा करना होता है । अुस समय कोअी भी मन्त्री किसी भी मन्त्रीके विभागके कार्यके सम्बन्धमें प्रश्न कर सकता है और अुसपर चर्चा की जाती है । अिस कार्य-पद्धतिके कारण राज्य कारोबारमे कहाँ क्या चल रहा है, अिसकी जानकारी हरेकको मिलती रहती है । संयुक्त अुत्तरदायित्वकी दृष्टिसे यह बात जरूरी भी है । संयुक्तका अर्थ होता है जिसमें सब जुड़े हों, सब संलग्न हों । यह क्रिया अिस कार्य-पद्धतिसे सम्पन्न होती है । साधारण रूपसे सप्ताहमे मन्त्रि-मण्डलकी कम-से-कम अेक बैठक तो होती ही है । प्रत्येक मन्त्रीके पास कमसे-कम चौबीस घण्टेसे पहिले अुस बैठकका कार्यक्रम (Agenda) तथा प्रत्येक विषयके नोट अथवा टिप्पण पहुँच जाते हैं । यदि आवश्यक हो, तो विशेष बैठक भी बुलाअी जा सकती है । जब बैठक बुलाना सम्भव नही होता, पर कोअी अैसा प्रश्न है कि जिसपर फौरन निर्णय लेना जरूरी हो, तो सम्बन्धित मन्त्री प्रधान-मन्त्रीके पास जाता है और अुसकी सलाह लेकर निर्णय कर लेता है । अिस निर्णयकी सूचना वह दूसरे मन्त्रियोंको जहाँतक सम्भव हो शीघ्र ही पहुँचा देता है । अिस तरह प्रधान-मन्त्री सबको गूँथनेवाला प्रमुख धागा अथवा मेहराबकी मध्य-शिला (Keystone of arch) है । वह सम्पूर्ण मन्त्रि-मण्डलको सम्भालकर चलता है । साधारणतया अुसे यह अलिखित अधिकार रहता है कि वह आवश्यकता महसूस होनेपर किसी भी मन्त्रीको बुलाअे, अुसके कागजातोंको देखे और हस्तक्षेप करे । लेकिन बुद्धिमान प्रधान-मन्त्री प्रायः अैसा नहीं करता । वह अुस प्रश्नको कार्यक्रम पत्रिकामें समाविष्ट करनेकी सूचना दे देता है और तब मन्त्रि-मण्डलमें अुसकी चर्चा हो जाती है । वह अपनेपर निर्णयकी जिम्मेदारी नहीं लेता । अधिक-से-अधिक निर्णय औपचारिक ढंगसे हों, मन्त्रि-मण्डलद्वारा वे किअे जाअें—यही अुसका दृष्टिकोण रहता है । और अिसीमें वास्तविक संयुक्त अुत्तरदायित्वकी पूर्णरूपेण कार्यान्विति होती है ।

मुख्य-मन्त्री मन्त्रियों और मन्त्रणाओं, कार्य तथा कार्यकर्ताओंको अेक सूत्रमें गूँथनेवाला होता है । दूसरे मन्त्रियोंके साथ अुसका बर्ताव अेक सहयोगीके

ढंगपर ही रहता है। अनुकी निष्ठाके बदले वह अन्हें अपना विश्वास देता है। जहाँ अिस तरहका वातावरण नहीं रहता, वहाँ सयुक्त जिम्मेदारी नाम मात्रकी रहती है। जब मन्त्रि-मण्डलमें वह कुछपर विश्वास करता है और कुछपर नहीं, तो अुस मन्त्रि-मण्डलमे अन्दर-अन्दर घेरे बनने शुरू होते हैं और गुट बन जाते हैं। मन्त्रि-मण्डलमे पककर तैयार हुआ यह गुटबन्दी फिर दलमें फैल जाती है। मन्त्रि-मण्डलमे जो चर्चा होती है वह तब गुप्त नहीं रह सकती। समाचार-पत्रोंके सवाददाता तो फिराकमे लगे ही रहते हैं। तब तिलका ताड़ बन जाता है और अखबारोंमे चाहे जो लिखा जाता है। मन्त्रि-मण्डलकी अेकता टूट जाती है। अनुशासन और शिस्त घट जाती है। हर अेक मन्त्री अपने कृपा-पात्र सम्वाददाताओंको, बाहर कहीं न कहनेकी शर्तपर, मन्त्रि-मण्डलकी बैठकमे जो होता है अुसकी जानकारी दे देता है। और चौबीस घण्टेके अन्दर देशमें अेक भी आदमी अैसा नहीं रहता कि जिसे अुसकी जानकारी न हो। 'गुप्तता' की शपथ कागजातोंमे पड़ी रहती है। अिसके बाद होता यह है कि अलग-अलग मन्त्री अलग-अलग स्वरमे बोलने लगते हैं। वास्तवमे सयुक्त अुत्तरदायित्वमे जो निर्णय ले लिया गया है, अुसके खिलाफ अथवा अुससे भिन्न कुछ बोलनेका किसीको भी नैतिक अथवा विधिगत अधिकार नहीं होता। स्वयं मुख्य-मन्त्रीको भी यह अधिकार नहीं है। यदि अुसे नीतिमें फेर बदल करना हो, तो अनौपचारिक रीतिसे अुसकी चर्चा वह मन्त्रि-मण्डलके अपने सहयोगियोंसे कर लेता है और फिर अुस विषयपर गोल-मोल कुछ बोलकर जनताकी अुसपर क्या प्रतिक्रिया होती है, अिसकी जाँच करता है। अथवा वह किसी मन्त्रीको गुपचुप अिशारा करता है और अुसके मुँहसे अुम बातको प्रकाशित करवा देता है। जो कुछ कहा गया यदि अुसकी प्रतिक्रिया खिलाफ हो तो सम्बन्धित मन्त्रीका कथन अधिकृत नहीं था, वह अुसका व्यक्तिगत मत था, अैसा कहकर मुख्य-मन्त्री पल्ला झाड़कर अलग हो जाता है। जनतान्त्रिक राज्यमे मुख्य-मन्त्री कोअी अैरा-गैरा नहीं होता। राजनीतिमे प्रथम वह दलके सदस्यकी हैसियतसे प्रवेश करता है, अुसकी तरफसे चुनावमें अुम्मीदवार बनकर खड़ा होता है, पार्लियामेण्टका सदस्य बनता है, बादमे मन्त्री बनता है और फिर प्रधान-मन्त्री—अिस तरह राजनीतिके क्षेत्रमें मंजिल-ब-मजिल सर करते हुआ वह आया रहता है।

जनमतकी नाड़ीको वह पहचान सकता है। जनसम्पर्कसे जो प्रेरणा मिलती है, अुससे जो शक्ति प्राप्त होती है, अुसकी अुसे जानकारी रहती है। राजनीतिकी योजनाओं, युक्तियों तथा दावपेचों (strategy & tactics) का वह अुस्ताद होता है। योग्यता, लोकप्रियता तथा अनुभवके कारण अुसमे मुख्य-मन्त्रित्वकी क्षमता तथा काबिलियत चली आती है। अिस दृष्टिसे बाकीके मन्त्री किसी-न-किसी बारेमे अुससे कम रहते हैं, अिसीलिअे अुसका नेतृत्व प्रभावशाली बनता है। वह नियमन भी करता है और निर्णय भी लेता है। अुसीके सहयोगसे यह सब सम्भव होता है। और अिसी-लिअे संयुक्त अुत्तरदायित्व यथार्थ बनता है। मन्त्रि मण्डलमे जो निर्णय होते हैं अुनके अनुसार अुसका वक्तव्य होता है। वह अपेक्षा करता है कि अुसके दूसरे साथी भी अिसी तरह बोले, मन्त्रि-मण्डलकी चर्चाको गुप्त रखे, 'जीअेगे मरेगे-अेक साथ' की भावनासे व्यवहार करें। अुसकी यह अपेक्षा अुचित ही है। जो मन्त्री अिस तरहके अनुशासनका पालन नहीं करता और विरोधी भाषाका प्रयोग करता है, वह संयुक्त अुत्तरदायित्वके सिद्धान्तके अनुकूल नहीं हो सकता। अुसे मन्त्रि मण्डल छोड़ देना पड़ता है। कभी-कभी किसी अेकाध अुच्छृंखल मन्त्रीको कुछ समयके लिअे सहन भी किया जाता है। लेकिन यह बात सर्वमान्य है कि दलका अनुशासन तथा मन्त्रि-मण्डलकी अेकता कायम रखनेकी दृष्टिसे जो अुचित है अुसे ही करनेका अधिकार मन्त्रीको है। अध्यक्षीय जनतन्त्रमे सदा यह नहीं होता कि जो व्यक्ति चुनकर आता है, वह राजनीतिमे निष्णात ही ह। कअी बार अुद्योग, धन्धे अथवा अन्य व्यवसायका प्रमुख व्यक्ति चुनावमें चुन लिया जाता है। प्रेसीडेंट विल्सन तथा प्रेसीडेंट आअीसनहोवरके अुदाहरण स्पष्ट हैं। ससदीय जनतन्त्रमे आजका मुख्य-मन्त्री, अुसका दल कलके चुनावोंमे यदि हार भी जाअे तो भी विरोधी दलके नेताके रूपमे राजनीतिके अखाड़ोंमे डटा रहता है। धूमकेतुके समान चमकना और फिर गायब हो जाना ससदीय जनतन्त्रमे नहीं होता। ससदीय निर्वाचनमे कार्यक्रम और नेतृत्व दोनोंका महत्व रहता है। अध्यक्षीय जनतन्त्रमें कार्यक्रमकी अपेक्षा व्यक्तिपर अधिक ध्यान केन्द्रित होकर अध्यक्ष चुन लिया जाता है। अिसलिअे अिसमें कअी बार यह दृश्य देखनेको मिलता है कि अध्यक्ष किसी

एक दलका है, तो विधान सभामें बहुमत दूसरे दलका । तब अध्यक्ष अधिकार पदपर रहनेपर भी कमजोर हो जाता है । लेकिन संसदीय जनतन्त्रमें मुख्य-मन्त्रीका मन्त्रि-मण्डलपर, और उसके जरिअे दलपर, तथा बहुमतवाले दलके नेताके रूपमें संसदपर आधिपत्य रहता है । मान लो, बहुत अधिक विरोध हुआ तो संसद बर्खास्त हो जायेगी तथा फिरसे चुनाव होंगे । राजनीतिमें हरेककी यह कोशिश और अच्छा रहती है कि बीचमें चुनाव न हों । दोनों दल नियमानुसार हानेवाले आम चुनावपर ही नजर रखकर पैतरे बदलते रहते हैं । इसलिये विरोधी दल भी अितनी और ऐसी आलोचना नहीं करते कि जिससे बीचमें, असमय चुनाव लड़ना पड़े । यदि मन्त्री तथा दल अनुशासन-बद्ध एवं सहयोग देनेवाले हो और पीठके पीछे बहुमतका समर्थन रहे तो मुख्य-मन्त्रीकी सत्ता अमर्यादित हो जाती है । ऐसी परिस्थितिमें मन्त्रि-मण्डल भी असीमित अधिकारोंवाला हो जाता है । संयुक्त उत्तरदायित्वके सदर्भमें ऐसा होना अनिवार्य है ।

जब मन्त्रि-मण्डलकी बैठक होती है, तो मुख्य-मन्त्री अध्यक्ष बनता है । उसकी अनुपस्थितिमें ज्येष्ठ मन्त्री अध्यक्ष बनता है । उसमें साधारण रूपसे सम्बन्धित मन्त्री अपने-अपने विषयोंके बारेमें जो कहना होता है कहते हैं, जो कुछ जानकारी चाहिये वह दी जाती है । कभी-कभी सचिव या और कोअी अधिकारी जानकारी देनेके लिये बुलाये जाते हैं । ये पासके कमरेमें उपस्थित रहते हैं । आवश्यक जानकारी मिल जानेपर चर्चा शुरू होती है । मुख्य-मन्त्री हरेक मन्त्रीसे पूछते हैं कि प्रस्तुत विषयपर उनको क्या कहना है । एक बार बोलनेके बाद मन्त्री चाहे तो दुबारा भी बोल सकता है । किसीकी जवानपर रोक नहीं लगायी जाती । चर्चा मुक्त रूपसे और खुलकर होती है । बैठकका वातावरण अनौपचारिक रहता है । लेकिन चर्चा गरमागरम होती है । कभी-कभी आरोप-प्रत्यारोप तक किये जाते हैं । कभी-कभी वाक-आउट भी होते हैं । लेकिन ऐसे मौके कम ही आते हैं । राज्यकी जवाबदारी सबपर है, इस बातका अहसास रहनेके कारण जो आलोचना की जाती है, वह विधायक होती है और उत्तरदायित्वपूर्ण रहती है । चर्चा खतम हो जानेके बाद साधारण चर्चामें जो सामान्य मत अभ्यरता है, उसे मुख्य-मन्त्री दुहराता है । यदि फिर भी कोअी मन्त्री यह कहे कि उसे अमुक बात मान्य नहीं है, तब मुख्य-

मन्त्री मत गिनता है और तदनुसार निर्णय विज्ञापित करता है। सामान्यतया किसने क्या कहा और किस ओर मत दिया, अिसका अुल्लेख नहीं किया जाता। 'चर्चामे निम्नलिखित विचार प्रकट किअे गअे और निर्णय जहाँ आवश्यकता हुआी वहाँ बहुमतसे लिअे गअे'—सिर्फ अितना ही लिखा जाता है। वर्ना, जो सर्व-सामान्य मत होता है, अुसीका अुल्लेख होता है। बैठकमें मन्त्रियोंके अलावा मन्त्रि-मण्डलका सचिव अुपस्थित रहता है। वह चर्चाके नोट लेता है और अुसका वृत्तान्त बनाकर सब मन्त्रियोंके पास भेजता है। अुसमे यदि कोअी मन्त्री कुछ फर्क बताता है, तो मुख्य-मन्त्री अुसपर निर्णय देता है और वह चीज वहाँ समाप्त हो जाती है। तब जो निर्णय होते हैं, अुन्हें सब मन्त्रियों तथा मन्त्रालयोंकी ओर भेज दिया जाता है। कार्यक्रम और अुसके विषयोंके कागजात आदि सब गुप्त रहते हैं, अुनपर स्वामित्व सरकारका रहता है। जो गुप्त या कॉन्फिडेशीयल कागजात, नोट्स, पुस्तकादि मन्त्रीके पास आते हैं, अुन्हें मन्त्रि-मण्डलसे हटते ही अुसे लौटा देना पड़ता है। और जबतक वे अुसके पास रहते हैं, तबतक अुन्हें ठीकसे रखनेकी तथा गुप्त रखनेकी जवाब-दारी अुसकी रहती है। अुसी तरह बैठकमें क्या हुआ, कौन बोला आदि बातें कहीं न कहनेकी नैतिक जिम्मेदारी भी अुसपर रहती है। जबतक जाहिर न किअे जाअें, तबतक मन्त्रि-मण्डलके निर्णयोंको अुसे गुप्त रखना चाहिअे। अुसे शब्द अथवा कृतिद्वारा अैसी कोअी बात नही करनी चाहिअे जिससे अुनका भेद प्रकट हो जाअे। मन्त्रीका राजनैतिक परिवार काफी बड़ा होता है और अुनमे भी समाचार-पत्रोंसे सम्बन्धित व्यक्ति अुसे स्वाभाविक रूपसे अधिक प्रिय होते हैं। अुनसे अुसे सम्भलकर रहना पड़ता है। कभी-कभी किसी मन्त्रीके हाथसे अैसी गलती हो जाती है, तब अुस गलतीकी चर्चा होती है और खोजबीन की जाती है। यह सच है कि अन्तमे कुछ होता नहीं है, लेकिन गलतफहमी पैदा हो जाती है। मन्त्रीको अपने दलके सदस्योंके साथ बातचीतका सम्पर्क रखना पड़ता है। हर राजनीतिक व्यक्तिकी यह अिच्छा रहती है कि मन्त्रि-मण्डलमें जो निर्णय हुआे है, अुनकी जानकारी सबसे पहले अुसे मिले। अुसमें अुसे बड़प्पन मालूम होता है। 'स्वयंवर' नाटकमें सबसे पहिले "मैने अुसे देखा" की भावनाके पीछे जो रहस्य है, वही बात यहाँपर भी है। सदनमें अथवा आम सभामें सरकारी घोषणाके

खिलाफ कुछ कहना मन्त्रीके लिये अनुचित है। अन्य मन्त्रियोंके विभागोंकी आलोचना करना भी उसके लिये अनुचित है। संयुक्त उत्तरदायित्वका अर्थ है—हरेक मन्त्री अपने विभागके लिये पूर्णरूपसे और सारे राज-कारोबारके लिये सामान्य रूपसे जिम्मेदार रहता है। जैसे सब षड़यन्त्र करनेवाले अपने किसी भी सदस्यके कृत्यके लिये जिम्मेदार रहते हैं, ठीक वही बात मन्त्रिमण्डलकी है। सहूलियतकी दृष्टिसे राज्यका कामकाज विभागोमे बाँटा जाता है; लेकिन वह पूरा कारोबार अंक है तथा उसके पीछे जो भावना है, वह भी अंकताकी ही है। यही अंक या अंकता संयुक्त उत्तरदायित्वमे निर्देशित होती है। घड़ीमे अनेक चक्र होते हैं, वे अंक दूसरेके विपरीत घूमते हुआ दिखायी देते हैं, पर बाहरी काँटे सुसम्बद्ध ढगसे चलते हैं। ठीक वैसे ही राज्यके कारोबार तथा मन्त्रिमण्डलको होना चाहिये। शिक्षाका ध्येय होता है—अंक विषयका पूर्ण अथवा अधिक-से-अधिक ज्ञान कराना तथा अन्य विषयोंका परिचय कराना। संयुक्त उत्तरदायित्वके मातहत मन्त्रियोंकी भी वैसी ही स्थिति है और होनी चाहिये। मन्त्री अपने विभागके लिये पूरी तरहसे जिम्मेदार रहता है, उसे उसके सम्बन्धमे सब जानकारी और ज्ञान होना चाहिये। साथ ही, अन्य विभागोंके सम्बन्धमें सरकारी नीति क्या है इसका भी उसे सामान्य ज्ञान होना चाहिये। जहाँतक सम्भव हो, दूसरोंके विभागोंके सम्बन्धमे उसे कुछ कहना नहीं चाहिये। लेकिन जब वह जनताके सामने पहुँचता है तो लोग प्रश्न पूछकर उसकी परीक्षा ले डालते हैं। उससे न जाने क्या-क्या पूछा जाता है। वधू परीक्षामे लड़कीसे क्या पूछा जाना चाहिये, इसपर कोई बन्धन नहीं रहता। वही हालत मन्त्रियोंकी होती है। संयुक्त उत्तरदायित्वमें तो ऐसा होना अपरिहार्य है।

जबतक मन्त्री मन्त्रिमण्डलमें है, तबतक तो उसे संयुक्त उत्तरदायित्वकी मर्यादाओंका पालन करना ही पड़ता है; लेकिन उससे अस्तीफा देकर हट जाने या और किसी कारणसे निवृत्त हो जानेके बाद भी उसके लिये उन मर्यादाओंका ध्यान रखना जरूरी है। मन्त्रिमण्डलमें मन्त्रीकी हैसियतसे जो कुछ उसे जानकारी मिली थी, वह सब उसे गुप्त रखनी चाहिये। ऐसा करनेकी उसने सौगंध ली थी। लेकिन कभी यदि सार्वजनिक हितकी दृष्टिसे अन्हे प्रकट करना वह आवश्यक ही समझे तो वह उसे प्रकट कर सकता है। अंग्लैंडमें

कअी राजनैतिक व्यक्तियोंने अपनी आत्मकथाअे तथा सस्मरण लिखे है; अुसमे अुन्होंने मन्त्रि-मण्डलकी चर्चाओं तथा प्रसंगोका अुल्लेख किया है। लेकिन सामान्यतया ये सब अुल्लेख, बात खतम हो जानेके बाद, वातावरण शान्त होकर सब बातें भूतकालमें लीन हो जानेपर ही किअे गअे है। मन्त्रीके नातेसे व्यक्तिके पास जो कागजात आते हैं अुनमेसे कुछ तो 'सामान्य' होते हैं, कुछ 'गुप्त' अेव 'महत्व' के होते हैं; और कुछ 'अति गुप्त' होते हैं। कुछ 'कॉन्फिडेशीयल' होते हैं और कुछ 'गुप्त अेव कॉन्फिडेशीयल' दोनों प्रकारके होते हैं। अुनमेसे भी जो गुप्त और अति गुप्त (Top secret) होते हैं, मन्त्रीको चाहिअे कि अुन्हें वह अपनी तिजोरीमे रखे। अुनके सम्बन्धमें चर्चा सिर्फ सम्बन्धित अधिकारी ही कर सकते हैं। जो कागज अेकदम कॉन्फिडेशीयल हो और जिनके बारेमे दूसरे किसीको कुछ भी जानकारी नही मिलनी चाहिअे, अुनको भी मन्त्री अपने ही पास रखे। प्रतीत होता है कि ब्रिटिश पद्धतिके अनुसार मन्त्री अैसे कागजातोकी नकल कर लिया करते हैं। सच पूछा जाअे तो यह बात ठीक नही है, लेकिन अस प्रकारकी रीति वहाँ है। मन्त्री जब अिस्तीफा देता है तो अुसे अपने बारेमे ससदके सामने बयान देनेका अधिकार है। लेकिन अुस बयानमे, जिन चीजोंको न कहनेकी मन्त्रीके नाते वह शपथ ले चुका है, अुनको वह प्रकट नही कर सकता। वह अिस्तीफा दे रहा है, असलिअे भी नही।

प्रश्न :—यह सब आपने जो कहा है वह केन्द्रीय मन्त्रि-मण्डलके सम्बन्धमें है। प्रदेशीय राज्योंके मन्त्रि-मण्डलके बारेमे क्या परिस्थिति है ?

अुत्तर :—वृक्षकी शाखाअे अनेक रहनेपर भी किसी भी शाखासे तोड़े हुअे फल अेक जैसे होते हैं। वही न्याय यहाँपर भी लागू होगा। हमारे संविधानमे हमारे देशके लिअे संयुक्त राज्यकी व्यवस्था है। लेकिन अुस संयुक्त राज्यका प्रत्येक घटक राज्य और केन्द्र अथवा संघ राज्य ससदीय जनतन्त्रके सिद्धान्तोंपर आयोजित है। असलिअे जो कुछ केन्द्रीय मन्त्रि-मण्डलके बारेमे बताया गया है, वह घटक-राज्योंके मन्त्रि-मण्डलोंपर भी लागू है।

अेक ही प्रकारके राजकीय जीवन-मूल्य भारतके तमाम राज्य कारोबारपर अपना प्रभाव डाल रहे हैं; और यह होना भी चाहिअे।



९.

नियोजन व्यवस्था

मनुष्य समाजमें प्रत्येक संगठनका कुछ-न-कुछ अद्देश्य रहता है। जैसे 'नामूल्यम् लिख्यते किञ्चित्', वैसे ही 'नोद्देशरहितम् संघटनम् नाम'। यदि यह बात साधारण संगठनोंके बारेमें ठीक है, तो राज्य जो कि राष्ट्रका सर्वव्यापक एवं महानसंगठन है उसके बारेमें भी वह अनेक अर्थोंमें सही है। यह सर्वमान्य है कि राज्य व्यक्तिकी सुरक्षा, सम्बर्धन और विकासके लिये है। आधुनिक राज्य अभावात्मक नहीं है। वह केवल जीवन और धनका रखवाला नहीं। उसका काम नागरिकोंके हितोंकी—जन्मसे लेकर मृत्यु तककी देखभाल करना है। आक्रमणोंसे अनुकी रक्षा करनेके अलावा, अनुके विकासके लिये प्रयत्न करना भी उसका कर्तव्य है। सिर्फ बीमार पड़नेपर दवा देना, वैद्यकका यह अर्थ अकेल संकुचित होगा। मनुष्य बीमार न पड़े इसलिये ऋतुचर्या कैसी होनी चाहिये, किस ऋतुमें क्या करना चाहिये, क्या ओढ़ना-पहिनना चाहिये, आदि बातोंका जो विचार करता है, वही सच्चा आयुर्वेद है। उसी प्रकार, राज्यका भी

यह कर्तव्य है कि वह नागरिकोंको आपत्तियोंसे तो बचाये ही; पर उसके साथ-साथ उन्हें धन-सम्पत्ति मिलती रहे, जिसकी भी वह व्यवस्था करे। आधुनिक राज्य-धर्मके अनुसार आधुनिक राज्यके दो कर्तव्य होते हैं :—दुःखोंको दूर करना तथा सुखोंकी अभिवृद्धि करना। रघुवंशमें, राजा कैसे होते थे उसका वर्णन करते हुए कालिदासने लिखा है :—‘स पिता पितरः नासाम् केवलम् जन्म-हेतवः’। अर्थात् माँ-बाप तो सिर्फ पैदा करने थे, लेकिन राजा प्रजाका सच्चा पिता होता था, क्योंकि वह उनका लालन, पालन-पोषण, सम्भरण—सब करता था। राजाके सम्बन्धमें यह कल्पना सिर्फ आकाश-कुसुम न रह कर अब अनुभवकी भूमिपर उतर आयी है। अब राज्य किसी व्यक्ति अथवा कुल या जातिका नहीं है, वह सब प्रजाका है, प्रजा उसकी स्वामिनी है। संविधानमें यह स्पष्ट दर्शाया गया है कि वह किसके लिये और किस आदर्शको अमलमें लानेके लिये कार्यान्वित होगा। राज्यकी नींव, या यूँ कहिये कि उसका अध्यात्म, प्रजाका सन्तोष और समृद्धि है। चूँकि राज्य प्रजाका है, इसलिये यह स्पष्ट है कि वह प्रजा द्वारा और प्रजाके लिये चलाया जाये।

‘जनताका राज्य, जनता द्वारा और जनताके लिये ही हो’, यह घोषणा सिर्फ काव्य अथवा कल्पनाकी जुड़ान मात्र नहीं है—जिसका अनुभव जनताको होना चाहिये। पराधीनतामें गरीबी, अवहेलना, मनोमालिन्य, क्लिप्तव्यमूढ़ताकी कल्पना की जा सकती थी; लेकिन अब तो देश स्वतन्त्र है। उसको स्वर्ग या नरक बनाना नागरिकोंके अपने हाथमें है। जब तक स्वतन्त्रता नहीं मिलती, वह हमारा साध्य रहती है; लेकिन उसके मिल जानके बाद वही हमारा साधन बन जाती है। उस साधनके द्वारा राष्ट्र अपने ध्येयोंको प्राप्त करता है, अपने सपनोंको अनुभवगम्य बनाता है। नया समाज कैसा होना चाहिये, इसकी मोटी रूपरेखा संविधानमें दी गयी है। सबको सब प्रकारकी स्वतन्त्रता, सबको समान अवसर, सबको सामाजिक आर्थिक तथा राजकीय समता एवं न्याय और जीवनके अप्रतिहत विकासकी सुविधा; तथा रोजगारमें और रोग, घात, अपघात, बेकारी आदिके निवारणमें सरकारी सहायताकी व्यवस्था—ये सब बातें हमारे संविधानमें निर्दिष्ट हैं। दुःख और दारिद्र्य, अज्ञान और अनारोग्य, वंचना और अपेक्षाकी वर्तमान स्थितिमेंसे निकलकर हमें समानतापर आधारित समाज—समृद्ध और सुखी

समाजकी ओर जाना है। आजकी आर्थिक व्यवस्थामें हरेकको यह पूर्ण स्वतन्त्रता है कि वह जिस चीजको चाहे तैयार कर सकता है, जिसे चाहे उसे और मनचाहे उस भावसे बंच सकता है। लेकिन यह व्यवस्था आग चल नहीं सकेगी। प्रचलित आर्थिक विचार और राजकीय संगठन नये युगके निर्माणका कार्य नहीं कर सकते। इसलिये हमें नया आर्थिक तत्त्वज्ञान, उसपर अमल करनेवाली संस्था और तदनु रूप परम्पराएं उत्पन्न करनी होंगी। हम यह अनुभव कर चुके हैं कि आज जो है, उससे समाजकी वर्तमान आवश्यकताओं पूरी नहीं हो सकती। स्वतन्त्र हिन्दुस्थान युगों-युगोंकी दरिद्रताको नष्ट करना चाहता है; युगों-युगोंसे जो पद-दलित हैं उन्हें ऊपर उठाना चाहता है। हमें, जो पम्त हो गये हैं उनमें उत्साह, निराश लोगोंमें आश तथा भग्न-मनोरथ वाले मनुष्योंमें महत्वाकांक्षा पैदा कर नये युगको साकार करना है। और संविधानमें अिन सब अुद्देश्योंका स्पष्ट अुत्लेख किया गया है। चूँकि वे हमारे राज्यके अुद्देश्य हैं, इसीलिये वे संविधानमें ग्रथित हैं। स्वतन्त्रता केवल कल्पना नहीं है, उसमें भावनाके साथ-साथ वास्तविकता भी है। जनताको कागजोंमें लिखी हुआ स्वतन्त्रता नहीं चाहिये; उसकी प्रतीति उसे अपने अनुभवमें होनी चाहिये। अब दारिद्र्य और स्वातन्त्र्य साथ-साथ नहीं रह पायेगा। संविधानके अनुसार नागरिक इस राज्यके स्वामी है। प्रत्येक व्यक्ति गाँवका देशमुख (मालिक) है, भले ही उसका हिस्सा अंक पाँचीका हो; पर है वह देशमुख ही। वह कोई और गैरा नत्थू-खैरा नहीं है। आजका भारतीय नागरिक 'मतदाता' है, स्वामी है, चाहे उसका स्वामित्व १८ करोड़ (कुल मतदाता-संख्या) का अंक हिस्सा ही क्यों न हो; लेकिन वह है तो स्वामी ही। कस्तूरीका अंक भी कण कस्तूरी ही है, उसमें कस्तूरीकी सुगन्ध रहेगी। देशका यह स्वामी अब गरीब, अज्ञान और दुखी नहीं रहेगा। चुनावोंके कारण आज उसका मूल्य बढ़ गया है। उसके दरवाजपर नेहरूसे लेकर नारायण तक चक्कर लगाते हैं, उसे खुश करनेकी कोशिश करते हैं। विवाहमें वर-राजाको महत्व प्राप्त हो जाता है। वर राजा कैसा भी क्यों न हो, पुरोहितको 'लक्ष्मीनारायण-स्वरूपिण वराय' कह कर उसकी स्तुति करनी पड़ती है। आजका मतदाता 'महाराज' मतदाता (His Majesty the Voter) है। अब उसे

अस बातका साक्षात्कार हो गया है कि वह अपने मतों द्वारा मनुष्योंको मन्त्री बना सकता है। अतः, राज्यका यह मालिक अब गरीब नहीं रहेगा, समाजमें जो विषमता है—आर्थिक विषमता, उसे वह सहन नहीं करेगा। वह यह जान गया है कि अस विषमताको भगवान या नसीबने नहीं सरजा है, वह मानवी कानूनों एवं संस्थाओं द्वारा बनायी गयी है। अतः कानूनों एवं संस्थाओंको बदलकर ही वह चैन लेगा। वह यह जानता है कि अन्तराधिकार कानूनके बलपर बिना मेहनतके, बिना योग्यताके ही सम्पत्ति प्राप्त की जा सकती है। अतः अपने मनमें सोचना शुरू कर दिया है कि राजनैतिक दृष्टिसे जब सब समान है, सब मतदाता है, तब आर्थिक विषमता ही क्यों रहे? असलिए उसे अब यह बात अपरिहार्य-सी लगती है कि राजनैतिक जनतन्त्र आर्थिक और सामाजिक जनतन्त्रमें बदल दिया जाये। अतिहासमें असके अुदाहरण है। राज्य यदि लोगोंका है, तो फिर उसे लोगोंके लिये होना चाहिये। राज्यका सविधान असका सबसे अधिक प्रभावशाली तत्व होता है। जनतन्त्रमें अुसीके (संविधान) द्वारा परिवर्तन किये जाते हैं। स्वतन्त्रताका अुपयोग देशको समृद्ध बनानेमें, अर्थात् असके प्रत्येक व्यक्तिको सुखी और समृद्ध बनानेमें है। कुछ लोग अैश्वर्यशाली हों और कुछ अत्यन्त दरिद्र, अंक और अनापशानाप धन-दौलत रहे और दूसरी ओर अनन्त दरिद्र—यह जनतन्त्रके स्वतन्त्र नागरिकोंको शूलकी तरह खटकता है। अतिहास असका साक्षी है कि राजनैतिक सत्ताका अुपभोग सामाजिक व आर्थिक सत्ताकी स्थापनाके लिये किया जा सकता है।

भारतमें जनतन्त्र स्वीकृत कर लिया गया है। सविधानके अन्तर्गत असकी मार्गदर्शक धाराओंमें भारतका नया समाज कैसा बनेगा, असका स्थूल चित्र स्पष्ट रूपसे खींच दिया गया है। तदनुसार, अैसा समाज स्थापित किया जायेगा जिसे हम 'जनतान्त्रिक समाज' कह सकते हैं। सविधानमें जो वचन दिये गये हैं अुन्हें पूर्ण करना है, अस दृष्टिसे यदि हम सोचें तो युगों-युगोंसे चली आयी हुयी वर्तमान आर्थिक व्यवस्थाको हमें बदलना होगा। परम्परागत अर्थ-व्यवस्था और व्यवसाय-सम्बन्धी नीतिमूल्य नये वातावरणमें व्यर्थ सिद्ध हुअे हैं। आजके युगमें कविता अतुकान्त बन गयी, कारण बिना

ऐसा किअे कविकी अभिव्यक्तिमे पूर्णता नहीं आती। जो नया अनुभव है उसका प्रकटीकरण पुरानी उपमाओके द्वारा सम्भव नहीं, असलिअे नजी कविताका जन्म हुआ। ठीक उसी तरह परम्परागत अनियमित और अनियन्त्रित उत्पादन और विभाजनके कारण आजके समाजमे असन्तोष फैला हुआ है। अुनके कारण जो प्रचलित अन्याय हैं, वे दूर नहीं किअे जा सकते। अब लोग यह माननेको तैयार नहीं हैं कि जैसा भगवान रखेगा, रहेंगे। युद्धके दिनोमे तो बेकारी गायब हो जाती है, लेकिन शान्तिके समयमें उसका प्रमाण बहुत बढ़ जाता है—अिस अनुभवसे अर्थ-शास्त्रियोंको नया प्रकाश मिला। बेकारी व्यक्तिका दोष नहीं है, वह समाजमें व्याप्त आर्थिक रोगका परिणाम है। अतः नया अर्थ-शास्त्र अुत्पन्न हुआ। यह आशा होने लगी कि आर्थिक व्यवहारको यदि नियमित, नियोजित किया जाअे, तो अर्थ-व्यवस्थाका अन्तर्गत विरोध तथा समाजका वर्ग-विग्रह कम हो जाअेगा। अैसा सिद्धान्त राजनैतिक जीवनमे प्रविष्ट हुआ। दुनियामें नियोजित अर्थ-व्यवस्था होनी चाहिअे यह विचार प्रबल हुआ। अिसका पहला प्रारम्भ रूसमें हुआ। आज सर्वत्र नियोजन, अथवा नियोजित-व्यवस्थाका सिद्धान्त अपना पूरा प्रभाव डाल रहा है। पूंजीवादी व्यवस्थामे नियोजन रहता ही नहीं, अैसी बात नहीं है। लेकिन वह नियोजन व्यक्तिगत रहता है। प्रत्येक कारखाना कच्चा माल, पक्का माल, बिक्री-व्यवस्था आदिके सम्बन्धमें योजना बनाता ही है। लेकिन अुसका नियोजन अपने ही में सीमित रहता है। सम्पूर्ण समाजकी आवश्यकताओंकी पूर्तिकी दृष्टिसे अुन आवश्यकताओंका मोज-माप निकालना और कच्चे मालकी खरीदसे लेकर पक्के मालकी बिक्री तक सब काम समाज-हितकी दृष्टिसे करना—यह नियोजन पहिले बताअे गअे व्यक्तिगत नियोजनसे भिन्न है। अिस नियोजनका हेतु रहता है : समाजके प्रत्येक व्यक्तिकी आवश्यकताअे समान अधिकारके आधारपर निश्चित करना, अुनकी पूर्तिके लिअे आवश्यक संगठन बनाना तथा अुस संगठनके जरिअे अुत्पादन, विभाजन तथा अुपभोगका नियमन और नियन्त्रण करना। नअे समाजका स्वरूप समाजवादी ढंगका रहेगा और अुसको प्राप्त करनेकी कार्य-पद्धति जनतान्त्रिक रहेगी, यह निश्चित हो जानेपर सामाजिक मन जब सोचने लगता है तब अुसके सामने अेक बात स्पष्ट हो जाती है कि सामाजिक और आर्थिक जीवन जब तक नियमित और

नियन्त्रित नहीं होता, तब तक सामाजिक न्याय सम्भव नहीं और तब तक सबको समान अवसर भी नहीं मिल सकता; और इसलिअे असु अुदात्त हेतुकी सिद्धिके लिअे सामाजिक जीवनका नियम और नियन्त्रण आवश्यक है। इसीका अर्थ है नियोजन, अथवा योजनायुक्त अर्थ-व्यवस्था। इसी राहसे समाज-सत्तावाद स्थापित होगा। अतः तीन बातें स्पष्ट हो गयीं :—हमारे राज्यका स्वरूप जनतान्त्रिक रहेगा, असुका ध्येय समाजवादी समाजकी संस्थापना है और ध्येय तक पहुँचनेका मार्ग है—नियोजन अथवा योजनाबद्ध अर्थ-व्यवस्था। इस दृष्टिसे सोचनेपर दिखायी देगा कि देशकी स्वतन्त्रताके बाद हम इस मार्गपर कदम बढ़ा रहे हैं। कियहुना, देश स्वतन्त्र हो जानेके पूर्व ही सन १९३८ में हरिपुरा काँग्रेस के अधिवेशनके बाद काँग्रेसने अंक योजना-समिति नियुक्त की थी। असु समिति द्वारा अपनी रिपोर्ट भी प्रकाशित की गयी थी। तभी देशके अुद्योगपतियोंने भी अंक दस हजार करोड़की योजना तैयार की थी। अनेक अर्थ-शास्त्रियोंने इस प्रश्नपर विचार-पूर्वक लेख लिखे थे। अतना ही नहीं; जब युद्ध चल रहा था तभी केन्द्रीय सरकारने अलग-अलग समितियोंको नियुक्त कर युद्धोत्तर अर्थ-व्यवस्थाके बारेमें सोचना शुरू कर दिया था। नियोजनके बलपर रूसने बहुत बड़ी आर्थिक अुन्नति की है इसका लोगोंके सामने प्रत्यक्ष अुदाहरण था। इसलिअे स्वतन्त्रता प्राप्त होते ही केन्द्रीय सरकारने इस ओर अपने कदम बढ़ाने शुरू कर दिए। उसी लक्ष्यको ध्यानमें रखकर संगठन बनाये गये। केन्द्रीय मन्त्रि-मण्डलमें अलग-अलग समितियाँ बनाकर इसपर विचार किया जाने लगा। देशमें यथेष्ट अनाज नहीं था, और विभाजनके पूर्व यह स्थिति थी कि ब्रह्मदेशसे २० लाख टन चावल लानेपर असुकी पूर्ति होती थी। बँटवारेमें भारतका कृषि-प्रधान, विशाल और सम्पन्न प्रदेश पाकिस्तानके हिस्सेमें चला गया। भारतके हिस्सेमें कारखाने अधिक आये। अतः अनाजकी समस्या विकट हो गयी। विशेषज्ञोंको अंकत्रित किया गया। यह ज्ञात हुआ कि भारतमें बरसातका पानी तथा जमीनके नीचे और अूपर जो पानी है वह सब यदि १०० माना जाअे, तो केवल ६ प्रतिशत पानी हमारे अुपयोगमें आता है और अुतनी ही फसल हमें प्राप्त होती है। यदि खेतीके लिअे अधिक जलकी सुविधा अेवं अुपयोग बढ़ाया जाअे, तो सर्वत्र अनाज ही अनाज हो जाअेगा। इसलिअे

बड़ी नदियोंको रोककर बाँध बनाकर खेतीको पानी, अद्योग-धंधोंको बिजली और बेकारोंको रोजी देनेकी योजना बनायी गयी। हर क्षेत्रमें वर्तमान परिस्थिति, कुछ निश्चित नीति, अंकत्रित की हुयी जानकारी तथा भावी ध्येयको मद्देनजर रखकर विकास योजनाओं बनायी जाने लगीं। लेकिन यह सब अलग-अलग विभागों द्वारा किया जा रहा था। उनका सबका संकलन नहीं हो पाता था और न उनमें पूरा सहयोग था। अतः विदेशोसे विशेषज्ञ बुलाये गये और अन्होंने अपनी रिपोर्टें दीं। और आखिर १९४९ के अन्तमें केन्द्रीय योजना-संगठनके रूपमें योजना-आयोग (Planning Commission) की स्थापना की गयी। उस कमीशनने अपनी पहली रिपोर्ट १९५१ के जूनमें दी। मन्त्रि-मण्डलमें उसपर चर्चा की गयी। उसी साल जुलायीमें जो अ. भा. काँग्रेस कमेटीकी बैठक बंगलोरमें हुयी, उसमें भी उसपर विचार हुआ। संसदने उसपर सामान्य रूपसे अपनी स्वीकृति दे दी। १९५१ में इस देशने एक युग-प्रवर्तक निर्णय किया। अब इसको आगे अनियन्त्रित सर्वतन्त्र स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था (Laissez faire) नहीं रहेगी, उसका स्थान नियोजित व्यवस्था लेगी। इस नियोजनका अद्देश्य सामाजिक न्याय आदि ध्येयोंको मूर्त रूप देना है, यह बात भी स्पष्ट कर दी गयी। इस महान निर्णयसे आर्थिक विचारोंको एक नया मोड़ मिला। जनताकी आकांक्षा पल्लवित हो अुठी। कृष्ण गोकुलमें पैदा हो गया है, इस खबरने पूंजीवादके कमकी नगरीमें आतंक फैला दिया।

पहली पंच वार्षिक योजना, योजनाओंकी योजना अर्थात् 'नांदी' है। जो काम शुरू हो चुके थे उनको क्रमवद्ध करना, उनके लिये अर्थकी व्यवस्था करना और नियोजनके लक्षण तथा ध्येय स्पष्ट करना—वस अितना ही काम पहिली योजनामें मोटे तौरपर किया गया। लेकिन उसमें बड़े महत्वकी बात यह, थी कि आर्थिक क्षेत्रमें जहाँ सम्भव हो और अिष्ट हो, सरकार अथवा राज्य स्वयं अुत्पादनका कार्य करेगा। इसलिये स्वाभाविक रूपसे सरकारी क्षेत्र अेवं व्यक्तिगत क्षेत्र ये दो विभाग बन गये। जो तुरन्त, सरल अुत्पादन था वह तो व्यक्तिगत क्षेत्रमें था ही, सामान्यतः सरकारने उसमें विशेष हस्तक्षेप नहीं किया। जो अुत्पादक-अुद्योग (Producers' goods) थे, अन्हें सरकारने अपने लिये चुना। उसने बहुत बड़ी पूंजीकी

आवश्यकतावाले उत्पादन क्षेत्रमें भी प्रवेश किया। समाज जिन पदार्थोंका उत्पादन कर तुरन्त उपभोग कर लेता है, उन पदार्थोंके उत्पादनके लिये आवश्यक यन्त्र सामग्री पैदा करनेवाले उत्पादक-स्वरूपी उद्योगोंको सरकारने अपने क्षेत्रमें ले लिया है। खेतीके लिये आवश्यक रासायनिक खादोंका उत्पादन सरकारी क्षेत्रमें आता है; वैसे ही नदियोंपर बाँध आदिका नियोजन भी। देशकी मुख्य और केन्द्रीय बैंक—रिजर्व बैंकपर सरकारने कानून बनाकर राष्ट्रीय स्वामित्व स्थापित कर दिया। उद्योग-धंधों तथा उन्हें पूँजी देनेवाली बैंकोंका नियमन अधिक परिणामकारक बना दिया गया है। जब मनमें आया तब कारखाना खोल देनेकी बात अब खतम हो गयी है। जो है उन्हें अपनी अच्छानुसार बढ़ानेकी बात भी बन्द हो गयी है। बाजारमें जो कम्पनी चाहे अपने शेअर निकाले और बँच दे—यह भी समाप्त हो गया है। नियोजनका अर्थ है : कोअी भी सामग्री व्यर्थ नहीं जायेगी, कोअी भी कौशल निष्फल नहीं रहेगा; समाजके श्रम और अस्की सम्पत्तिका अधिक-से-अधिक उपयोग समाजके लिये होगा, सम्पूर्ण उत्पादनमें अधिक-से-अधिक कार्यक्षमता लायी जायेगी। इस दृष्टिसे काम शुरू किया गया। जहाँ नियोजन नहीं है, सब व्यवहार मुक्त—खुला है तथा अबाध स्पर्धाका राज्य है, वहाँ सामग्री और श्रम व्यर्थ जाते हैं और आर्थिक जीवनमें अतने अतार-चढ़ाव आते हैं कि आर्थिक व्यवस्था ढीली हो जाती है। कभी-कभी तो वह लड़खड़ाकर गिर पड़ती है और तब अस्का असर राजनीतिपर भी होता है। अतः सबको ध्यानमें रखकर पूरे आर्थिक क्षेत्रमें व्यापार, उद्योग, खेती आदिपर नियमन और नियंत्रणका युग शुरू हो गया है। कारण, राष्ट्रीय ध्येय-सिद्धिका दूसरा कोअी मार्ग नहीं था। हमारे पास जो सम्पत्ति है वह सब गरीबोंकी है, हम तो सिर्फ अस्के विश्वस्त (ट्रस्टी) हैं, इस सिद्धान्तको मानकर धनवान लोग चले हों—असका अतिहासमें अंक भी प्रमाण नहीं। मत्स्य-न्याय जीवनका सिद्धान्त है—युगों-युगोंका यही अनुभव है। समाजको धारण करनेवाले, सगठित रखनेवाले मूल्योंका ही नाम धर्म है। जब मूल्य समाजके धारण करनेमें असमर्थ सिद्ध होते हैं, तब नये मूल्योंका उदय होता है; लेकिन यदि अुनके अनुसार आचरण करनेकी बातको 'अच्छिक' बना दिया जाये तो पुराना ही ढर्रा चलता रहेगा और सिद्धान्त ग्रन्थोंमें लिखे

पड़े रहेंगे। मनमें अंक और ओंठोंपर दूसरी बात दिखायी देगी। इसलिये नयी अर्थ-व्यवस्थाका निर्माण भी सरकारको ही करना चाहिये। अर्थात् राज्यकी शक्तिको प्रभावपूर्ण बना कर जहाँ जितना जम सके वहाँ अतना राजीखुशीसे, और जहाँ आवश्यक हो वहाँ शक्तिका याने कानूनका प्रयोग कर, जो अिष्ट है और योजनाके अनुसार है उसका क्रियान्वयन सरकारको करवा लेना चाहिये। जनताके हितोंकी रक्पा इसी तरहसे की जा सकेगी। पहली पच वार्षिक योजनामें तो जो व्यवस्था चालू थी, उसीको किसी अंशमें योजना-बद्ध बना दिया गया था। उसमें यह दृष्टिकोण अवश्य अपना लिया गया था कि उत्पादनका ध्येय सिर्फ व्यक्तिगत मुनाफा ही नहीं है, अपितु समाजकी आवश्यकताका विचार करना भी है। जब नियोजनको जरूरी मान लिया गया तो उसके तत्वोंका और विचार-प्रणाली आदिका चिन्तन शुरू हो गया। यह स्पष्ट हो गया कि नियोजनका अर्थ है, देशमें जो सामग्री और कौशल है उसको अंक लक्ष्य-विशेषकी प्राप्तिके लिये संगठित करना। नियोजनमें सिर्फ आजकी आवश्यकता और आजकी पीढ़ीपर ही लक्ष्य केन्द्रित करनेसे काम नहीं चलेगा। आज और आनेवाले कल दोनोंका अपरिहार्य रूपसे विचारकर सच्चा नियोजन किया जा सकता है, यह ज्ञान हमने प्राप्त कर लिया। तदनन्तर किन आवश्यकताओंकी पूर्ति पहले की जाये और किनकी बादमें, इसपर विचार किया जाने लगा। सिर्फ पदार्थोंका नियोजन गलत है; पदार्थ और पुरुष याने साधन-सामग्रीके साथ-साथ काम करनेवाले तथा कारीगरोंका भी नियोजन किया जाना चाहिये; तभी सच्चा और समग्र नियोजन होगा—इसका भी हमें ज्ञान हुआ। यह बात तो तुरन्त समझमें आ सकती है कि सिर्फ अंक बार नियोजन कर देनेसे काम नहीं चलेगा। नियोजन तो सतत चलनेवाली क्रिया है। गीतामें अंक विशिष्ट स्वभाववाले मनुष्यका वर्णन करते हुअे कहा गया है—“वह यह सोचता है कि कल मैंने यह किया, आज यह करूँगा और कल ऐसा करूँगा।” नियोजनकी वृत्ति, अच्छे अर्थमें, इसी ढंग की होती है। नियोजन कोअी अंक सिद्ध वस्तु नहीं है, वह तो अंक अखण्ड साधना है। नियोजित अर्थ-व्यवस्थाका अर्थ है: उत्पादन, विभाजन और उप-भोगकी अवस्थाओंमें, देशके सम्पूर्ण हितकी दृष्टिसे, पूर्व नियोजित ढंगसे, सब बातें हों—ऐसी परिस्थिति पैदा करना। इसलिये नियोजनमें सभी बातोंपर

पूर्व-विचार कर लेना आवश्यक है। इस प्रकार भली भाँति पूर्व-विचार कर लेनेके बाद ही निर्णय करने चाहिये और फिर अनुपर दृढतासे अमल किया जाना चाहिये। नियोजनमें अिन सब बातोंपर ध्यान रखना जरूरी है।

प्लानिंग कमीशनने जानकारी अिकट्ठी की, असुपर चर्चाअे की, अर्थ-शास्त्रज्ञों और अितर विशेषज्ञोंसे विचार-विनिमय किया। बादमें असुपरसे अेक योजना तैयार की तथा असे जनताके सामने चर्चाके लिये प्रस्तुत कर दिया। कौन-सी बाते सिद्धान्त की हैं और कौन-सी अनुमान की, क्या अदाजें हैं, और क्या लक्ष्य हैं तथा वह किस प्रकार सिद्ध किया जाअेगा आदि सब असुमें विस्तारपूर्वक दिया गया था। कौन-सा अुत्पादन पहिले और कौन-सा बादमें किया जाअे, यह बताया गया था। कारीगर कितने लगेंगे, वे कैसे प्राप्त होंगे, कैसे तैयार किये जा सकेंगे, असुपर सोचा गया था। पूरी योजनामें जो खर्च लगेगा, असुका संकल्प था। वह पैसा कैसे लाया जाअे असुके अुपाय बताअे गअे थे। आज व्यापारद्वारा अुत्पादनके वितरणकी व्यवस्था होती है, अतः असुका स्वरूप कैसा रहे अिसे भी स्पष्ट किया गया। देशकी जो आवश्यकताअें हैं वे देशके अुत्पादनसे किस हद तक पूरी की जा सकेंगी, असुका अुल्लेख कर जो कमी है असुकी पूर्ति कैसे की जाअेगी और जो अधिा है असुकी व्यवस्था कैसे होगी असुपर विचार किया गया। याने देशमें और परदेशमें हमारा व्यापार कैसे और किस दृष्टिसे बढ़ाया जाअे और असुकी साध-सभाल कैसे की जाअे असुपर भी असुमें विचार प्रस्तुत किये गअे। अपनी सारी आवश्यकताअे अपने यहाँके अुत्पादनसे पूरी नहीं हो सकती—अिसलिये अुद्योग-धंधोंको बढ़ाना चाहिये, और अैसा करनेमें जो यन्त्र और पूँजी लगेंगी वह विदेशोंसे कैसे लायी जाअे—अिसका असुमें निर्देश किया गया। विदेशोंसे जो माल खरीदना है असुके बदलेमें क्या दिया जाअे? क्या कर्ज निकाल कर माल खरीदा जाअे? और यदि हाँ तो असुके लिये भारतके षौड-पावनेमेंसे कितना अलग निकाला जाअे? आदि बातोंका हिसाब असुमें किया गया था। लोकसंख्या बढ़ रही है, पर जमीन तो नहीं बढ़ती, अैसी हालतमें प्राथमिक आवश्यकताओंकी—अनाज, कपड़े, घर आदिकी पूर्ति कैसे की जाअे असुपर अुपाय अेवं योजना सुझाअी गयी। देश स्वतन्त्र हो गया है; असे साक्षर बनाने तथा हमारे नागरिकोंको सुविचारवान बनानेकी दृष्टिसे योजनामें

शिक्षाका समावेश किया गया है। योजनामें बताया गया है कि यह सब जनताके लिये करना है। आज बेकारी कितनी है ? पाँच वर्षोंमें काम करनेवालोंकी संख्या और कितनी बढ़ेगी ? आदि बातोंका अंदाजा, जन्म लेनेवालोंकी जोड़मेंसे मरनेवालोंको घटाकर सालके अन्तमें कितने अधिक मुखोंको अन्न देना होगा इसका निर्देश, योजनामें है। पेटके लिये सारी दुनिया मरती-पचती है, सब कुछ पेटके लिये किया जाता है; इसलिये हरेकके पेटको कुछ मिलना चाहिये, यह सोचकर कुछ विचार योजनामें रखे गये हैं। आज समाजमें ऐसी दिलक्ष्ण परिस्थिति है कि काम करनेके लिये लोग तैयार हैं, पर काम नहीं है; वकीलका दफ्तर सजा है, पर मुक्किल नहीं है; दवाखाना खुला है पर बीमार नहीं हैं; दूकान लगायी है पर खरीदार नहीं हैं। ऐसी परिस्थितिका असली कारण है—समाजकी वर्तमान प्रचलित मुक्त और खुली अर्थ-व्यवस्था। इसलिये अब जो अर्थ-व्यवस्था कायम की जायेगी वह निश्चित लक्ष्योंको पूरा करनेवाली तथा पूर्व-नियोजित कामोंको करनेवाली होनी चाहिये। तदनुसार हमने प्रयत्न शुरू किये हैं। उस दिशामें पहली पंच-वार्षिक योजना १९५१-५२ में शुरू हुई। उसमें खेतीके उत्पादनपर अधिक जोर दिया गया था। इसका मूलतव यह नहीं कि अद्योगकी ओर दुर्लक्ष्य किया गया था। पाँच सालोंमें खेतीका उत्पादन बढ़ा, लेकिन अतना नहीं जितना कि सोचा था। बिजलीका उत्पादन डबल हो गया। जब मैं मन्त्री था तो यह विभाग मेरे पास था। तब मैंने घोषणा की थी कि दस सालमें हर घरमें रेडियो और हर गाँवमें बिजली होगी। अपनेको बुद्धिमान समझनेवाले कभी लोगोंने तब इसका मजाक उड़ाया था। लेकिन इस ओर जो प्रगति हुई है उसे मान लेनेकी औमानदारी अथवा सभ्यता अबतक वे नहीं दिखा सके हैं। आज लाखों अकड़ भूमि सिचाओके नीचे आ गयी है। नये अद्योग-धन्धे निकले हैं। पुराने बढ़े हैं। यद्यपि यह कोई नहीं कह सकता कि पहली योजनाके समयमें जो कुछ हुआ वह सब निर्दोष था, अथवा अपेक्षानुसार था; लेकिन साथ ही यह भी ठीक है कि उसके कारण अनेकों अद्योग-धन्धोंका उत्पादन बढ़ा, कपड़ा, सीमेंट, लोहे और फौलाद आदिके क्षेत्रमें विशेष प्रगति हुई, आवागमनके क्षेत्रमें भी अच्छी सफलता मिली। बढ़ते हुये उत्पादनके साथ व्यापार बढ़ता है और बढ़ते व्यापारके साथ आवागमन

—अस अनुभवके अनुसार योजनाका काम चला । देशने सिर्फ खेती और उद्योगोंके क्पेत्रोंमें ही नहीं, सामाजिक अन्नतत्की दृष्टिसे भी बहुत अन्नतत् की । प्राथमिक, माध्यमिक तथा अच्च शिक्षामे अभिवृद्धि हुअी । अनाज, कपड़े तथा निवासके सम्बन्धमें भी कुछ क्रान्ति हुअी । विभिन्न उद्योग-धंधोंके लिअे आवश्यक कारीगरोंको तैयार करनेकी दृष्टिसे भी कुछ योजनाअें शुरू की गअी । योजनाके लिअे रकम जुटानेकी दृष्टिसे भी कुछ योजनाअें स्वीकृत की गअी । उद्योग और व्यापारके क्पेत्र नियन्त्रित हो जानेसे अन्न क्पेत्रोंमें जो लोग थे अन्हें लाभ हुआ है । बाहरसे आकर स्पर्धा करनेवाले मालपर नियन्त्रण लग गया, असलिअें देशी मालकी कीमते बढ़ गअी । कुछ उत्पादनोमें यद्यपि खुले आम स्पष्ट रूपसे अेकाधिकारके दर्शन नहीं हुअे, फिर भी वास्तविक अेकाधिकारका अनुभव आने लगा है । भाव-नियन्त्रण ठीकसे नहीं हो सका है । पाँच वर्षके बाद यह दिखाअी दिया कि धनवान अधिक धनवान हो गया और गरीब तो वैसा ही गरीब रहा है या अधिक गरीब हो गया है । वेतनमे वृद्धि हुअी, लेकिन वस्तुओंकी कीमते भी बढ़ गअी और लंकामें सोनेकी अींटोंवाली हालत हो गअी । असलिअें यह अनुभव हुआ कि देशकी दृष्टिसे उत्पादनमे वृद्धि हुअी, कुछ नअें उद्योग-धंधे स्थापित हुअे, कुछ बढ़े; लेकिन व्यक्तिकी दरिद्रताका ही अनुभव होता रहा । हिन्दु-स्तान देश तो समृद्ध और धनी है, पर असकी जनता जरूरतमन्द और गरीब; यह स्थिति ज्यों-की-त्यों बनी रही । उद्योग-धन्धे और व्यापारके बढ़नेसे बेकारी दूर नहीं हुअी, वह और भी बढ़ गअी । असलिअें यह कहा जाने लगा कि नियोजन अच्छी चीज नहीं । दीर्घ दृष्टिवाले लोग अस बातको जानते थे कि जो परिस्थिति है असमे कुछ तो अैसा होना अपरिहार्य है, पर वे यह भी जानते थे कि कुछ बातोंको जरूर टाला जा सकता था । नियोजनका आधार है—भावोंकी स्थिरता, और वही बात नहीं हुअी, अतः आर्थिक अनुमान गलत हो गअे । छल-कपट नहीं हुआ अैसी बात नहीं थी । काला बाजार व्यापारी जीवनका स्थाअी स्वभाव बन बैठा है । योजनामे जनताका सहयोग नहीं मिला; मध्यम वर्ग कहींपर भी नियमन या नियंत्रण माननेको तैयार नहीं हुआ, और जो जनताके प्रतिनिधि थे अन्होंने योजनाका प्रचार नहीं किया । लेकिन फिर भी जो गलतियाँ हो गअी हैं, अन्न सब पर

विचार करनेके बाद यह कहना पड़ता है कि प्रगतिकी ओर देशने कुछ कदम जरूर आगे बढ़ाये हैं।

पहली पंच-वार्षिक योजना खतम होनेसे पहिले, दूसरीपर विचार शुरू हो गया था। जब अंक बार यह तय हो गया कि अर्थ-व्यवस्था नियोजन-युक्त रहेगी, तो नियोजन आगे चलेगा ही। योजनाका सिद्धान्त तब राष्ट्रके आर्थिक जीवनकी नींव बन जाता है। योजना बनायी जाये, उसपर अमल किया जाये, अमुमें जहाँ-जहाँ गलतियाँ हों उन्हें परखा जाये, जितना सम्भव हो उतना उन्हें सुधारा जाये, योजना जब खतम होने लगे तो उसकी विस्तारसे समालोचना की जाये और जो अनुभव हुआ हो उसके आधारपर अगली योजना तैयार की जाये—यह क्रम चलने लगाता है। १९५६ के मार्चमें पहली पंच-वार्षिक योजना खतम हो रही थी। देशके कोने-कोनेमें, घाटों और जंगलोमें, शहरोंमें, गाँव-गाँवमें जनताको क्या चाहिये, उनकी कौन-सी आवश्यकता अकेदम जरूरी है—यह दिल्लीमें बैठे-बैठे नहीं समझमें आ सकता और यदि आ भी जाये तो उसका व्यवस्थित आकलन सम्भव नहीं। इसलिये यह जरूरी था कि दूसरी पंच-वार्षिक योजना विधिवत और वैज्ञानिक ढंगसे विचार करके बनायी जाये। हर गाँवके लोग यह सोचें कि उन्हें क्या चाहिये? उसके बाद तालुकेके पैमानेपर योजना बने; तदनंतर जिला, फिर राज्य और अन्तमें समग्र भारतकी योजना बनायी जाये। इस तरह सबका विचार करके योजना बनायी जानी चाहिये। इस बातकी ओर अंगुली निर्देशका कुछ श्रेय मेरा है। यह सुझाव मैंने सर्व-प्रथम लोकसभामें और बादमें कांग्रेसकी बैठकमें रखा था। लेकिन वैसे इसमें कोई नयी बात नहीं थी। १९५६ में पूना, नगर और शोलापुरकी जिला कांग्रेस कमेटियोंने इस सम्बन्धमें चर्चाये की थीं। सरकारने भी इसे माना। योजना-आयोगने भी तदनुसार सूचनाये निकाली। कभी चर्चाये हुआ। कुछ मोटे तत्वोंको निरूपित कर मसविदा बनाया जाने लगा। पहली योजनामें खेतीपर जोर था, तो दूसरी योजनामें अद्योग-धंधोंपर, विशेषकर बड़े मूलभूत अद्योगोंपर अधिक जोर दिया जाये यह विचार प्रधान बन बैठा। लोहा और फौलाद मूलभूत अद्योग हैं, इसलिये उनकी प्रमुखता स्वीकार कर ली गयी। पूरी योजनाको अन्तिम रूप देनेके पहले अर्थ-शास्त्रज्ञोंने उसपर सामान्य

रूपसे विचार किया। अनुकी अनेक बैठकें तथा लम्बी चर्चाएँ हुईं। संक्षेपमें हम यह कह सकते हैं कि जनताकी अच्छा, अनुके खयालात, अनुके दृष्टिकोण—अन सब बातोंपर योजना तैयार करते समय ध्यान दिया गया और जब मसविदा (draft) तैयार हो गया तो उसे प्रकाशित कर दिया गया। उस समय समाचार-पत्रों, सभाओं, समितियों, विधान-सभाओं तथा लोकसभा और राज्य-सभामें जो चर्चाएँ हुईं, उन्हें ध्यानमें रखकर अन्तिम रूपसे उसे स्वीकार कर लिया गया। उसके ध्येय और स्पष्ट कर दिअे गअे। आजकी और आगामी कलकी आवश्यकताओंको ध्यानमें रखकर योजनाकी रचना और उसका ढाँचा (Structure) निश्चित किया गया। उसमें यह दृष्टि रखी गअी है कि देश अधिक-से-अधिक चीजोंमें स्वयं-पूर्ण हो जाअे। योजनामें रकम कैसे जुटाअी जाअे, करसे कितना रुपया मिलेगा, कर्ज कितना लिया जाअेगा आदि बातें स्पष्ट कर दी गअी हैं। मअी १९५६ में नेशनल डेवलपमेण्ट कौंसिलने उसे मान्यता प्रदान की। दूसरी योजनाकी मुख्य बातें हैं :—(१) कृषि-अुत्पादनमें खूब वृद्धि; (२) जनता अपनी आयमेंसे अधिक-से-अधिक बचत करे; (३) विदेशी पावनेमें जो कमी हो रही है, उसकी पूर्तिके लिअे विदेशी सहायता अथवा कर्ज जुटाना; (४) अुत्पादन और अपभोक्ता दोनोंकी दृष्टिसे सोच-विचारकर वस्तुओंके भाव स्थिर करना; (५) राज्यके कारोबारको अधिक सक्षम बनाकर पहली पंच वार्षिक योजनाके अुत्पादन अेवं आयका अपयोग, और दूसरी पंच वार्षिक योजनाके अुत्पादनका अपभोग। पूरी योजना और उसके सब निष्कर्ष दो बातोंपर आधारित हैं : अंक, दुनियामें शान्ति बनी रहेगी, विदेशोंसे आनेवाली साधन-सामग्री, यन्त्रादि टाइम-टेवलके अनुसार मिलते रहेंगे तथा दूसरे, देशमें भाव स्थिर रहेंगे। ये दोनों बातें महत्वपूर्ण हैं। अस योजनामें पहली योजनाके अनुभव और बढ़नेवाली आकांक्षाके आवेगका समन्वय करनेकी कोशिश की गअी है। दूसरी योजना अंक अप्रैल १९५६ से शुरू हुअी। भाव बढ़ने लगे हैं। मअी १९५५ में वस्तुओंका मूल्य निर्देशक अंक ८९ था, मार्च '५६ में वह ९८ हुआ। पिछले दिसम्बरमें वह १०८ था। अस महीने (जनवरी '५७) में वह और बढ़ा है। १९५५ में भाव कुछ कम हुअे थे। लेकिन आज वे बढ़ रहे हैं और असका असर योजनापर होगा अैसा

डर लगने लगा है। जिसके अलावा अभी नवम्बर '५६ में जो कुछ स्वेजमें हुआ, उसको देखते हुए यह सम्भव है कि यन्त्र-सामग्री हमें टाइम-टेबलके अनुसार नहीं मिलेगी। योजना-पूर्तिमें इसलिये समय लगने तथा खर्च बढ़नेकी आशंका पैदा हो गयी है। पहली योजना जिस गतिसे पहिले तीन सालोंमें चली, उसकी वह गति पिछले दो सालोंमें नहीं रही थी। ५३-५४ में जो कृषि-उत्पादन था, वह अगले वर्षोंमें कम हो गया। राष्ट्रीय उत्पादन जिस प्रमाणमें बढ़ रहा था, उस प्रमाणसे बादमें वह नहीं बढ़ा। १९५३-५४ से १९५५-५६ के सालोंमें वह ४ प्रतिशतसे भी कम बढ़ा। ११६ से १२० तक ही पहुँचा। उसी प्रकार अन्तिम दो सालोंमें योजनाके खर्चकी गति बढ़ गयी, पहले दो वर्षोंसे वह दुगुनी हो गयी। चलन याने जनताके हाथमें जो पैसा था वह १९५१-५३ के दरमियान कम होता जा रहा था, लेकिन १९५५-५६ के वर्षमें उसमें २६४ करोड़की वृद्धि हुई। इसका अर्थ यह हुआ कि स्फीतिकारि परिणाम याने कागजी चलनका फैलाव (Inflation) बढ़ रहा था। सीधे-सादे शब्दोंमें, 'माल कम और पैसा अधिक' की स्थिति थी। और ऐसा जब होता है तो पदार्थोंकी कीमतें बढ़ने लगती हैं और परिणाममें चलनकी, मुद्राकी असली कीमत कम होने लगती है। पदार्थको खरीदनेकी दृष्टिसे रूपअंका मूल्य सन् १९५६ के मध्यसे घटने लगा था। संसारमें भी मुद्रा-स्फितिकी कुछ हवा चल ही रही है, और अब ऐसा लगने लगा है कि दूसरी योजनामें बहुत परिवर्तन करना पड़ेगा।

चुनावोंकी पार्श्वभूमिमें इस योजनाका बहुत महत्व है। यह योजना कांग्रेस दलके पास प्रमुख आकर्षण है। कांग्रेसका यह दावा है कि जनतान्त्रिक समाज, सत्तावादी समाज इस योजनाके द्वारा कार्यान्वित हो सकेगा। १९५४ में अजमेरकी अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटीकी बैठकमें मेरा आग्रह था कि कांग्रेस समाज-सत्तावादका स्वीकार अंक प्रस्ताव द्वारा कर ले। आगे चलकर, १९५४ दिसम्बरमें लोकसभाने 'समाजसत्तावादी राज्यकी स्थापना देशका ध्येय है' इस तरहका प्रस्ताव अविरोध पारित किया। १९५५ की जनवरीमें आवड़ी अधिवेशनमें कांग्रेसने भी उसी प्रकारके अंक प्रस्तावको अपनी स्वीकृति दी। मार्च १९५६ में लोकसभाने द्वितीय पंचवार्षिक योजनाको मंजूरी देकर लोकशाही समाजसत्तावादी समाजके निर्माणका मार्गदर्शन किया।

यह सब अतिहास असलिये बता रहा हूँ कि आप यह समझ जायें कि यह निर्णय पूरे देशका है और सबको असपर अमल करना चाहिये। यह योजना कितनी भव्य है, इसकी मैं थोड़ी कल्पना देता हूँ।

नियोजनका अद्देश्य है कोअी भी दुखी न रहे, सब सुखी हों; और यह तभी सम्भव होगा जब कि देशका औद्योगीकरण हो। तभी रोजगार बढ़ेगा और उसके साथ-साथ जीवन-स्तर भी; आर्थिक विपमता भी कम होगी। पहिली योजनामे यह प्रतिज्ञा थी कि पच्चीस सालमे देशका अुत्पादन पच्चीस प्रतिशत बढ़ाना है। १९५१-५६ के कालमे अुत्पादन बहुत बढ़ा, पर जन-संख्या भी २॥ करोड़ बढ़ गयी और असलिये जीवन-मानपर कोअी विशेष असर नहीं दिखायी पड़ा। जनसंख्या हर साल ५० लाख बढ़ेगी, यह ध्यानमें रखकर दूसरी योजना तैयार की गयी है। उसमें अुद्योग-धंधोंपर अधिक जोर है। खेतीमे लगभग ८० प्रतिशत लोग है; अर्थात् जितने उसमें आवश्यक है उनसे लगभग १५ प्रतिशत अधिक। और इससे अधिक की वहाँ गुंजाओश नही। विशेषज्ञ मानते है कि जो हैं, उनमेंसे १५ प्रतिशतको हटा देनेपर खेती सुधर सकती है। असलिये रोजगार बढ़ानेका अंकमेव मार्ग है—अुद्योग धंधोंकी वृद्धि। अस यांत्रिक युगमें अंक मजदूरको स्थायी काम देनेका अर्थ है—कम-से-कम दस हजारकी पूंजी। आज ६० लाख लोग बेकार या अर्ध-बेकार है। उनकी संख्या हर क्षण बढ़ती रहती है। हर साल लगभग २० लाख व्यक्ति काम करनेकी अुमरके हो जाते है। असलिये अगले पाँच सालोंमें कुल बेकारोंकी संख्या अंक करोड़ साठ लाख हो जायेगी। अिनको काम देना सरल नही है। बड़े-बड़े उद्योग यदि अधिक यांत्रिक बना दिये जाते है तो यह निश्चित है कि बेकारी बढ़ेगी। लेकिन बड़े अुद्योगधंधोंसे अुत्पादन बढ़ता है, असलिये उनकी वृद्धिको बिना रोकें छोटे उद्योग-धंधोंकी वृद्धि भी आवश्यक हो जाती है। यह ठीक है कि बिना यन्त्रके अुत्पादन द्वारा अधिक लोगोंको काम दिया जा सकता है, लेकिन तब आधुनिक जगतमें हमारा देश पिछड़ा हुआ रह जायेगा। हमें अंबर चरखा भी चाहिये और साथ-साथ अणु-संशोधन केन्द्र भी। हमें दुनियाके साथ चलना है और बेकारी खतम करनी है। असलिये पहिली योजनाकी तुलनामे दूसरी योजना सब दृष्टिसे बड़ी है। और असपर भी १९६१ में

सब बेकारोंको काम नहीं मिल पायेगा। हाँ, अंक करोड़ लोगोंको काम मिल जायेगा ऐसी आशा है। इसीलिये इस योजनाका स्वरूप अत्यन्त विशाल है। पहिली योजना २२०० करोड़की थी। यह ४८०० करोड़की है। और तीसरी जब बनेगी, तब दूसरीसे दूनी होगी। कारण, दूसरी योजनामें जो योजनाएँ शुरू की गयी हैं, उन्हें पूरा करना होगा और नयी योजनाएँ आँकनी पड़ेंगी, तथा उन सबके लिये अपरिहार्य रूपसे रकमे जुटानी होंगी। तालाबमें अंक पत्थर फेकनेसे सिर्फ अंक ही लहर उत्पन्न नहीं होती, लहरके बाद लहर पैदा होती जाती है। उसी प्रकार स्थिर व जमी हुई अर्थ-व्यवस्थामें जब नयी पूँजी अँड़ली जाती है, तो उसका परिणाम अधिकाधिक बढ़नेवाली लहरोंकी तरह फैलता जाता है। दूसरी योजनामें ४८०० करोड़ खर्च होंगे—असका अर्थ है, पूरे समाजमें कार्यका विस्तार बढ़ेगा। अंक काममें से दूसरा निकलेगा, अंकको काम मिला तो उसकी आवश्यकताएँ बढ़ेंगी, और उससे दूसरेको काम मिलेगा। जब वह बकार था, तो अंक शर्टसे ही काम चला लेता था, स्वयं ही उसे धो लेता था, सिनेमा भी नहीं देखता था। लेकिन नौकरी लगते ही वह दो शर्ट बनवा लेता है, उन्हें धोबीको धोनेके लिये देता है। अभी तक वह सिनेमा घरपर टँगें चित्रोंको ही देखकर लौट आता था, लेकिन अब वह अंदर जाकर 'लग्न पहावें करून'* खेल देख आता है। मतलब यह कि अिन सबको अंक ग्राहक मिल गया और उस प्रमाणमें दूसरे रोजगार बढ़े। साधारणतया इस तरहसे रोजगारमें वृद्धिका प्रमाण ३० प्रतिशत तक जाता है। यह सब सोचकर दूसरी योजना तैयार की गयी है। खेती और विकासपर ५६८ करोड़, बिजली और नहरोंपर ८६० करोड़, ग्रामोद्योग और छोटे धंधोंपर २०० करोड़, बड़े-बड़े उद्योग-धंधों तथा खदानोंपर ८८० करोड़, आवागमनपर १३४५ करोड़, सामाजिक सुख-सुविधाओंपर ८६३ करोड़, विविध ८४ करोड़—अस तरह सब मिलकर कुल ४८०० करोड़ खर्चके आंकड़े हैं। योजनाकी हरेक मद खर्चके हिसाबसे इस प्रकार निश्चित की गयी है कि सब काम सरलतासे और संगठित रूपसे होता चला जाये। जैसे, जितना भोजन हो उतने ही

खानेवालोंका, अतने ही आसनोंका और अतनी ही पत्तलोंका अन्तजाम किया जाता है। इसी तरह दूसरी योजनामें उत्पादन, विभाजन और उपभोगकी व्यवस्था की गयी है। उसमें अद्योग, आवागमन और ग्राहकोंकी आवश्यकताके बीच संतुलन रखनेकी कोशिश की गयी है। १८ प्रतिशत सामाजिक कल्याण अथवा सुख-सुविधाके लिये रखे गये हैं। अद्योग-ग्रंथोंपर भी अतने ही प्रतिशत रखे गये हैं। आवागमनपर २८ प्रतिशत है। जैसे-जैसे योजना कार्यान्वित होते जायेंगी, वैसे-वैसे अिन रकमोंमें कमीबंशी होना असम्भव बात नहीं है। वैसे देखा जाय तो ४८ सौ करोड़की अितनी बड़ी योजना हमारे अितने बड़े देशके लिये और अितनी बड़ी जनसख्याके लिये कुछ भी नहीं है; लेकिन अिस योजनाको पूरा करनेके लिये ४८ सौ करोड़की जो रकम जुटानी है, वह जिम्मेदारी भी छोटी नहीं है। ये ४८ सौ करोड़ ५ सालमें खर्च किये जायेंगे। पहिले साल ६३५ करोड़ खर्च किये जायेंगे। उसमें प्रादेशिक राज्य २९३ करोड़ तथा केन्द्र-सरकार ३४२ करोड़ खर्च करेंगे। दूसरे सालमें केन्द्र द्वारा ५ सौ करोड़ और प्रान्तों द्वारा ३६१ करोड़ याने ८६१ करोड़ रूपये खर्च होंगे। अर्थात् १९५६-५७ और ५७-५८ के दो सालोंमें १४९६ करोड़ खर्च किये जायेंगे। १९५६-५७ तो अब जल्दी ही खत्म हो जायेगा। यात्रा शुरू हो गयी है। सुख और समृद्धिके बंदी-केदार तक पहुँचना है। यह स्पष्ट है कि आगे आशाके साथ-साथ यात्रियोंका बोझ भी बढ़ता जायेगा। १९५६-५७ में जो ६३५ करोड़ खर्च होंगे वह और ५७-५८ के ८६१ करोड़ रूपये कैसे जुटाये जायें, अिसका निर्णय हो चुका है। उसीको मैं अब बताऊँगा।

केन्द्र सरकार तथा प्रदेश राज्योंके बजटोंको देखनेपर ज्ञात होगा कि १९५६-५७ में ३९७ करोड़ संकल्पित आमदनीसे प्राप्त हो सकेंगे। अिसका यह मतलब हुआ कि यह रकम करों तथा कर्जों द्वारा, अल्प बचत योजना तथा अन्य पूँजीगत मदोंसे अेवं विदेशोंसे आनेवाली ३८ करोड़की सहायतासे जुटायी जायेगी। और बचे हुए २३८ करोड़ रूपये घाटेकी अर्थ-व्यवस्था (Deficit finance) से। १९५७-५८ में ८६१ करोड़की रकम अिस प्रकार जुटायी जायेगी—बजट-व्यवस्थासे २९७ करोड़, विदेशी सहायतासे १०० करोड़, तथा घाटेकी अर्थ-व्यवस्थासे ४६४ करोड़। अिसका

यह अर्थ हुआ कि पहले सालका बजट २३८ करोड़ घाटेका होगा और दूसरे सालका ४६४ करोड़ घाटेका। यह रकम कौर्जी सामान्य रकम नहीं है। पांचवें सालमें वह कितनी बड़ी होगी, कहा नहीं जा सकता। लेकिन यह तो स्पष्ट है कि वह और भी अधिक बड़ी होगी। देशकी मुद्रा-व्यवस्था तथा अर्थ-व्यवस्थाको ध्यानमें रखकर घाटेकी योजनाको कहाँ तक ले जाना चाहिये, यह देखना बड़ी जिम्मेदारीका काम है। जितना भी वास्तविक खर्च हो वह करके रूपमें अिकट्ठा कर लिया जाये, यह बात अुचित दिखायी देती है। लेकिन सब रकम करो द्वारा यदि अिकट्ठी की जाये तो वर्तमान पीढ़ीके प्रति अन्याय होगा। करोड़ोंकी बड़ी-बड़ी योजनाएँ मिर्फ करोँ द्वारा नहीं पूरी की जा सकती। असलिये यह तय किया गया कि कर्ज लिया जाये और उसे २० अथवा अधिक सालोंमें चूकता कर दिया जाये। असिसे वर्तमान पीढ़ीपर का बोझ बहुत कम हो जायेगा, और वह भारी पीढ़ीपर जा पड़ेगा। पेट कसा जायेगा, पर अुतना ही कि जितना सहा जा सके। अतः कर और कर्ज रकम जुटानेके दो महत्वपूर्ण साधन हुअें। लेकिन कर्ज प्राप्त करनेकी भी तो मर्यादा है। मनुष्य अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिके बाद यदि कुछ बचेगा तभी तो कर्ज देगा न? हमारे यहाँ तो ४० प्रतिशत लोगोंको दोनों समय ठीकसे खाना भी नहीं मिलता। ५-१० प्रतिशत लोगोंको छोड़ दे, तो बाकी लोगोंके लिये आजका दिन किसी तरह बीत गया, कलका क्या होगा— यह चिन्ता बनी ही रहती है। चिन्तामणि* के मिलनेपर भी चिन्ता दूर नहीं होती। ३४ करोड़की जनसंख्यामेंसे आय-कर देनेवाले लगभग ९ लाख हैं। असिपरसे देशकी सांपत्तिक स्थिति और वितरण कैसा है, असिका अन्दाजा किया जा सकेगा। असि परिस्थितिमें घाटेकी अर्थ-व्यवस्था ही अेक प्रतिष्ठित मार्ग है। युद्धकालमें कभी राष्ट्रों अुसे अपनाया था। घाटेकी अर्थ-व्यवस्था याने राष्ट्रमें मुद्रा-स्फीति। समाजकी आवश्यकताओं तथा आर्थिक व्यवहारको ध्यानमें रखकर राज्य मुद्राका प्रमाण निश्चित करता है; और मुद्रा सवल रहे, अुसपर लोगोंका विश्वास जमा रहे, असिलिये जितन नोट वह प्रचलित करता है अुतनी ही कीमतका, अथवा अुसके हिसाबसे काफी

* श्री चिन्तामणराव देशमुख जी केन्द्रमें अर्थ-मन्त्री थे।

बड़े प्रतिशतमें, सोना अथवा चांदी केन्द्रीय बैंक (याने रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया) के पास जमा करवा देता है। उस बैंकके जिम्मे मुद्राकी सारी व्यवस्था रहती है। कर तथा कर्जसे और विदेशोंसे कर्जके रूपमें आनेवाली रकमको वह बैंक जमा करती है और जो कमी पड़ती है उसकी पूर्ति मुद्रास्फीति द्वारा करके सरकारको पैसे देती है। मान लो सरकारको लाख रुपये चाहिये, तो यह बैंक उन्हें नोटोंके रूपमें देगी। जहाँ आर्थिक व्यवहार बढ़ा हुआ है, विकासशील है, वहाँ सिर्फ सरकारको ही अधिक पैसे लगते हैं, ऐसी बात नहीं रहती; निजी उत्पादकोंको भी अधिक पूँजीकी आवश्यकता होती है। वे पूँजी-भागों (Shares) को जारी कर थोड़ी रकम अकट्ठा कर लेते हैं; लेकिन उससे जितनी पूँजी चाहिये, उतनी उन्हें नहीं मिल पाती। इसलिये वे उत्पादक-बैंकोंसे कर्ज लेते हैं। बैंक करोड़ोंका कर्ज देता है। इससे समाजमें पैसा और साख दोनों बड़े पैमानेपर बढ़ते हैं। उत्पादकोंकी उत्पादन बढ़ानेकी महत्वाकांक्षाके कारण बढ़ती हुई साख (Expanding Credit) अस्तित्वमें आती है। घाटेकी अर्थ-व्यवस्था, उत्पादन बढ़ानेकी उत्पादकोंकी महत्वाकांक्षा तथा बढ़ती हुई साखका मिला-जुला असर अर्थ-व्यवस्थामें मुद्रा-स्फीति (inflation) पैदा करनेवाला होता है। बड़े बड़े काम शुरू हो जाते हैं, लेकिन उनसे होनेवाला उत्पादन बाजारमें फौरन उपभोगके लिये नहीं आ पाता। नतीजा यह होता है कि मुद्रास्फीतिके कारण समाजकी क्रय-शक्ति तो बढ़ती है, पर उस वृद्धिके अनुपातमें उत्पादन फौरन नहीं बढ़ता। हाथमें पैसा है, पर माल कम है; तब पैसा मालके पीछे जाता है और मालके भाव बेहिसाब बढ़ जाते हैं। अंक बार भाव बढ़ा कि प्रत्येक वस्तुकी कीमत बढ़ जाती है। कीमतें बढ़ती हैं, इसलिये अधिक मजदूरीकी माँग आठती है। उसकी पूर्ति करते ही कीमतें और भी बढ़ जाती हैं। और जैसे कुत्ता पूँछको मुँहसे पकड़नेके प्रयत्नमें गोल-गोल घूमने लगता है, उसी प्रकार पैसा और वस्तु अंक-दूसरेके पीछे दौड़ने लगते हैं (Too much money chasing too few things), कामयाबी किसीको नहीं मिलती; और अतिहास कहता है कि यदि अर्थ-व्यवस्थाको समय रहते सम्भाला न जाये तो नतीजमें वह

लड़खड़ाकर गिर पड़ती है। इसलिये पैसा जुटाना योजनाका अत्यन्त महत्वपूर्ण काम है।

कर और कर्ज तथा घाटेकी अर्थ-व्यवस्थाके सब काम योजना-पूर्वक करने पड़ते हैं। उसके लिये अर्थ-व्यवस्थाका बड़े पैमानेपर नियन्त्रण आवश्यक है। अर्थ-व्यवस्थाकी तीनों अवस्थाओं—अुत्पादन, विभाजन और उपभोगपर नियन्त्रण रखना जरूरी हो जाता है। हमारे पास अनाज कम है, कपड़ा कम है और निवास-स्थान कम है। समाजकी आवश्यकताओंकी तुलनामें जो वस्तु या सुविधा कम रहती है, उसके वितरणको नियन्त्रित करना ही इस परिस्थितिका सामाजिक न्याय की दृष्टिसे योग्य उपाय है। यद्यपि राशनिंग कहते ही पुराना सब अनुभव आँखोंके आगे खड़ा हो जाता है, परन्तु रास्तेमें चलते चलते ठोकर लगती है इसलिये कोई रास्ता चलना नहीं छोड़ता, वह अधिक सावधानीसे चलनेकी कोशिश करता है। उसी प्रकार पिछले अनुभवको मद्देनजर रखकर व्यवस्था करना अधिक अच्छा होगा। यदि ऐसा नहीं किया गया, तो धनवानोंको सब कुछ मिलेगा और गरीबोंको कुछ नहीं। चाहे वह दवा हो या अनाज हो या और कुछ हो, बेहद कीमते देकर तो गरीब अन्हें खरीद नहीं सकते। जिस जनतंत्र और समाजवादमें ऐसी हालत हो, उस समाजवादका कोई अर्थ नहीं। यदि नियोजन-व्यवस्थाको अर्थ-पूर्ण बनाना हो, तो उसमें नियन्त्रण तथा न्याय-युक्त वितरण जरूरी है। यदि नियन्त्रण आता है, तो अधिकारी भ्रष्ट बन जायेंगे और यदि न आये तो समाज लोभी व्यापारियोंके चंगुलमें फँस जायेगा—इस तरहकी द्विधा स्थिति खड़ी कर जनताको किकर्तव्यमूढ़ बना देना अुचित नहीं है। ऐसा करनेमें न तो दृढ़ नेतृत्व ही है और न व्यापक दृष्टि ही। घाटेकी अर्थ-व्यवस्थाको यदि सफल बनाना है, तो राज्यका कारोबार सक्षम व निर्दोष होना चाहिये। जनता नियन्त्रणको तभी राजीखुशीसे स्वीकार करती है, जब सरकार उसका सहयोग प्राप्त करना चाहती है; और यह सहयोग तभी मिलता है जब कि उसे इस बातका विश्वास हो जाता है कि सब प्रकारके वितरणमें सामाजिक न्यायका ध्यान रखा गया है, सबको अेक-सा और योग्य परिमाणमें मिलेगा। यदि यह सब होता है, तो ही वह व्यवस्था कामयाब होती है। अेक तरफ जनतासे काफी बड़े पैमानेपर अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष कर वसूल करना

और दूसरी तरफ व्यापारियोंको अनियंत्रित छोड़ देना—असका अर्थ है अन्हें जनताको लूटनेका मुक्त परवाना देना । यह कहना कि नियोजन जनताके लिये है, असलिये उसे स्वार्थ-त्याग करना चाहिये, असुविधाओं सहन करनी चाहिये, वह आज अंकादशी करे ताकि कल विजयादशमी मनायी जा सके, अुचित है। पर व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये कि सभी ऐसा करें। अनेकों मेहनत करें, मरे-खपे, और कुछ थोड़ेसे आरामसे रहें, मजसे खाओं पीअें—असे नियोजन नहीं कहते। अैसे नियोजनके बारेमे यदि कोई यह कहे कि नियोजनके नामसे यह तो पूँजीवादका ही अंक नया अवतार है, तो उसे गलत कैसे कहा जा सकेगा ? असलिये, नियोजनका अर्थ है : नियन्त्रण और नियमन। क्णभरके लिये अिन दोनोंको हम नियोजन (planning) के पैर मान लेते हैं; यदि ये सक्पम न हों तो नियोजन ठीकसे चल नहीं पाअेगा। नियोजनका ध्येय है, पहिले कल्याणकारी राज्यकी स्थापना करना और बादमे उसे समाजवादी बनाना। श्रेष्ठ अर्थ-शास्त्रियोंका सर्वसाधारण यह मत है कि कल्याणकारी राज्यको अच्छी तरहसे चलानेके लिये राष्ट्रकी कुल आमदानीका औसत १५ प्रतिशत जन-कल्याणपर खर्च करना चाहिये; और यदि यथार्थ रूपसे समाजवादी राज्यकी स्थापना करनी हो तो राज्यकी आयका ३५ प्रतिशत खर्च करना पड़ेगा। प्रथम पंचवार्षिक योजनाके कालमें कुल राष्ट्रीय अुत्पादनका ७ प्रतिशत भी खर्च नहीं किया गया। दूसरी पंचवार्षिक योजनामे अिस प्रमाणको बढ़ानेका निश्चय किया गया है। दूसरी योजनाके पहिले और दूसरे वर्षमे कितनी रकम खर्च की जाअेंगी, असकी कल्पना अभी दी जा चुकी है। वह रकम कर तथा घाटेकी अर्थ-व्यवस्थासे जुटायी जानेवाली है। अुसमेसे कर्ज कितना मिलेगा, असका अंदाजा लगाया गया है। लेकिन विदेशी सहायताके अंदाजे तो सिर्फ अंदाजे ही होते हैं। हमने विदेशोंसे बहुत मांगा था और हमें बहुत मिला भी; लेकिन आगे भी अुतना ही मिलेगा, असके बारेमें हमारे मनमें सन्देह है। हिन्दुस्तानकी साख बहुत है; लेकिन सब विदेशी सहायता राजनैतिक धोरणके अनुसार मिलती है। आज-कलकी राजनैतिक परिस्थिति अिस दृष्टिसे आशाजनक नहीं है। हमें जागतिक बैंक और जागतिक फंडसे मदद मिलेगी और मिली भी है; लेकिन अुनकी भी कुछ आर्थिक और नैतिक मर्यादाओं हैं तथा

अस बैकंपर भी अमेरिकन राजनीतिका कुछ न कुछ असर पड़ता ही है। असली मदद विदेशोंके पूंजीपतियों अथवा पूंजी लगानेवाली संस्थाओं और सरकारोंसे मिलती है। पूंजीवाले व्यक्ति और संस्थाओं अपनी सरकारके रुखको देखकर कदम बढ़ाते हैं। इसलिये इस संदर्भमें भारतकी विदेश नीति और उसके वैदेशिक सम्बन्धोंपर विचार करना आवश्यक हो जाता है। पैसेके लिये क्या हम अपनी नीति बदल दे? इस प्रश्नका उत्तर देनेमें हमें हमारी अन्तर्गत नीति—राजकीय और आर्थिक दोनोंपर विचार करना पड़ेगा। पूंजीपति राष्ट्र साधारणतया समाजवादकी ओर झुकनेवाले राष्ट्रोंकी मदद करना नहीं चाहते। अतः सब ओरसे सोचनेपर नियोजनकी सफलताके लिये योजनाकी रकमको देशमेंसे ही, करों और कर्जोंके द्वारा ही, जुटाना श्रेयस्कर है।

नियोजनमें विदेशोंसे माल लाना पड़ता है, इसलिये उसमें देशी व्यापारकी तरह विदेशी व्यापारपर भी नियन्त्रण आवश्यक हो जाता है। हम चाहिये कि जो आवश्यक है अन्हीं वस्तुओंको मंगवाये, आयात-व्यापार जहाँ तक बने पक्के मालका घटाकर कच्चे मालका करें तथा निर्यात-व्यापारमें यथासमय कच्चा माल न भेजकर पक्का या तैयार माल भेजें। यह हमारी नीति होनी चाहिये। विदेशी व्यापारको इस तरहसे संगठित करनेका अद्देश्य है—उत्पादन और उसके बंटवारे तथा नियोजनके अद्देश्यको सार्थक बनाना। चाहे जो माल तैयार करना, उत्पादनका अद्देश्य नहीं हो सकता। पूंजीवादी उत्पादनका हेतु तो सिर्फ मुनाफा कमाना रहता है। उसमें उसी दृष्टिसे उत्पादन कार्य और उसकी व्यवस्था की जाती है। सम्पूर्ण समाजकी आवश्यकताओंकी पूर्ति उसका प्रधान अद्देश्य नहीं होता। समाजको सवारियाँ तथा माल ले जानेके लिये बसोंकी आवश्यकता है, लेकिन यदि उनसे लाभ कम मिलता हो तो उत्पादक उन्हें नहीं बनायेगा। यदि सुन्दर और कीमती कारें बनानेसे अधिक लाभ होता होगा तो वह उन्हें बनायेगा और उसके पास जो भी सामग्री होगी उस सबका उपयोग उस दृष्टिसे करेगा। चूँकि बहुतसा माल तैयार करनेपर कीमतें घट जाती हैं और तैयार मालके अच्छे भाव नहीं आते हैं, इसलिये वह कम उत्पादन करता है जिससे कि माँग अधिक होनेके कारण भाव बढ़ें; वह तो केवल मुनाफेका पुजारी है। नियोजन-व्यवस्थामें जो नियोजन

किया जाता है, वह अधिकसे अधिक लोगोंकी आवश्यकताओंको, अधिकसे अधिक प्रमाणमें पूरा करनेकी दृष्टिसे ही किया जाता है। सामग्री, श्रम और पूँजीका अुसी दृष्टिसे अुपयोग किया जाता है। अिसका यह अर्थ है कि देशका अुत्पादन पूरी तरहसे सरकारी नियंत्रणमें आ जाअे और जहाँ जरूरत हो तथा सम्भव हो, वहाँ राज्य स्वयं अुत्पादन करे याने सरकार ही मालिक बने। जनतांत्रिक समाजवादका यह अर्थ नहीं है कि सब अुद्योग-धंधोंपर राष्ट्रका स्वामित्व हो जाअे। अुसमें जिन मुख्य-मुख्य अुद्योग-धंधोंपर राष्ट्रकी सुरक्षा, आवागमन तथा प्राथमिक आवश्यकताओंकी पूर्ति निर्भर रहती है, अुनका राष्ट्रीयकरण किया जाता है। मुख्य-मुख्य अुद्योग-धंधों तथा व्यापारके राष्ट्रीयकरण द्वारा, और बचे हुए व्यापार-धंधोंपर सामान्य लेकिन प्रभावशाली नियंत्रण हो जानेसे अुत्पादनका यह ध्येय कि समाजके व्यक्तिको अधिकसे अधिक मात्रामे न्याय मिले, पूरा हो जाता है। नियोजनकी अर्थ-व्यवस्थाको भी आवश्यक सहायता मिल जाती है। करों और कर्जोंके साथ साथ राष्ट्रीय स्वामित्ववाले अुद्योग-धंधोंसे आय भी होने लगती है। रेल्वेसे सरकारको लगभग २० करोड़ रुपया हर साल मिलता है। अुसी प्रकार विद्युत-पूर्ति तथा खादके कारखानेसे भी मुनाफा मिलता है। सरकारी अुत्पादनोंसे जो आय खर्च निकालनेके बाद बचती है, अुसका प्रमाण बढ़ता जा रहा है। अुसमेंसे नअे अुद्योगोंके लिये पूँजी भी प्राप्त होती है। महत्वपूर्ण अुद्योगोंपर राष्ट्रका स्वामित्व रहनेके कारण अुनसे जो मुनाफा होगा, अुससे नअे अुद्योगोंके लिये पूँजी अेकत्रित करनेकी भी व्यवस्था की जा सकेगी। सारांश, कर और कर्ज तथा विदेशी सहायताके साथ साथ, आमदनीके जरिअेके रूपमें, अुद्योग-धंधोंके राष्ट्रीयकरणका भी बड़ा महत्व है। अिसके अलावा नैतिक दृष्टिसे भी राष्ट्रीयकरण करना अुचित है। कुछ धनवान लोगोंके हाथमें लाख-लाख मजदूरोंका जीवन सौंप देना भी अिष्ट नहीं है। जब सरकार मालिक होती है, तो मजदूरोंकी रोजीमें स्थिरता आ जाती है और गुणोंकी कद्र होने लगती है। अुसमें कुछ साले-बहनोअियोंका घाटा जरूरत होता है, पर सामान्य जनताको न्याय मिलनेका विश्वास पैदा हो जाता है। आज भारतमें अुद्योग-धंधोंके राष्ट्रीयकरणका विरोध किया जा रहा है, क्योंकि कुछ सरकारी क्षेत्रोंमें कार्यक्षमताका अभाव दिखायी देता है। पर, निजी कार्यक्षेत्र कार्यक्षमताके आदर्श अुदाहरण हैं,

ऐसा भी नहीं है। जनतामें हमें यह विश्वास पैदा करना चाहिये कि पैसेका अर्थ है सत्ता। अंक रुपया समाजके श्रमपर अंक चेकके सदृश है, वह दर्शनीय हुंडी है। वह मुद्राके रूपमें सम्पूर्ण व्यवहारमें चलता है, हर व्यवहारपर उसकी हुकूमत रहती है। इसलिये किसी व्यक्तिके हाथमें उसकी आवश्यकतासे अधिक पैसा देनेका मतलब है, उसे उसके दुरुपयोगका अवसर देना। इसलिये यह जरूरी है कि महत्वपूर्ण क्षेत्रोंमें उत्पादनके धंधोंपर सरकारका स्वामित्व रहे और बचा हुआ पूरा उत्पादन-क्षेत्र सरकारी नियंत्रणके नीचे रहे। लोग पूछते हैं, तब विकासके लिये पूंजी कहाँसे आयेगी? मेरा जवाब है, मुट्ठी भर लोगोको लाखों रुपये कमाने देना, और उनसे कर्ज लेकर राज्यका काम चलाना उचित नहीं। सच पूछा जाय तो समाजवादी राज्य-व्यवस्थामें पूंजी जुटानेका काम समाजका होता है। प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष करों द्वारा वह जुटायी जाती है। समाजवादी राज्य-व्यवस्थामें राष्ट्रीय आयका ३५ प्रतिशत विकासमान राज्यको चलानेके लिये जरूरी होता है। चूँकि प्रत्यक्ष करोंसे तो बहुत अधिक नहीं मिल पाता, इसलिये अप्रत्यक्ष करोंसे आमदनी बढ़ाना उचित होता है।

करों द्वारा आमदनी बढ़ाकर योजनाको सफल बनानेपर जोर देना ठीक है। जब सरकार कुछ करोंमें वृद्धिका फैसला करती है अथवा नये कर लगाती है, तो उसपर आक्षेप किये जाते हैं। ऐसे आक्षेप तो सदा होते रहेगे। प्रत्येक व्यक्ति गोरखनाथी भविष्यवाणी करने लगता है कि ऐसा करनेसे उद्योग-धंधे बैठ जायेंगे, व्यापारमें मदी आ जायेगी, बेकारी बढ़ेगी, आदि आदि। वास्तवमें योजना सब लोगोंके भलेके लिये होती है, अतः उसकी रकम भी सबको मिलकर जुटानी चाहिये। हर व्यक्तिको अपनी ताकतके अनुसार बोझा उठाना चाहिये। श्रममें प्राप्त सम्पत्तिपर कम और विना श्रमकी सम्पत्तिपर ज्यादा कर लगाये जाने चाहिये। लेकिन कर लगानेकी व्यवस्था पैसा अिकट्ठा करनेके लिये बनायी गयी व्यवस्था मात्र नहीं है। उसकी योजना समाजकी विषमताको दूर करनेके साधनके रूपमें की जानी चाहिये। अंक मर्यादा तक आमदनी की छूट होनी चाहिये तथा उसके आगे जितनी आय हो वह सरकारके पास आनी चाहिये। आमदनीको महत्तम मर्यादाके अन्दर रखनेका काम असरकारक रूपसे प्रत्यक्ष

करों द्वारा करवाया जाना चाहिये। किसी भी व्यक्तिको लोकसभामें या और कहीं, सालाना कर छोड़कर ३८०००)से अधिक नहीं मिलने चाहिये। यह कहना मनुष्यका अपमान करना है कि उसे काम करनेके लिये या अपना कौशल दिखानेके लिये अथवा बुद्धिको प्रेरणा देनेके लिये सिर्फ धनके लालचकी आवश्यकता है; तभी वह काम करेगा, अन्यथा नहीं। जब विदेशी आक्रमण होता है तब मनुष्य अपने प्राण तक दे देता है; धर्मके लिये श्रद्धासे वह परिश्रम करता है और अपने कौशलका प्रदर्शन करता है। कवि और कलाकारके रूपमें तन्मय होकर वह श्रेष्ठ कलाकी सृष्टि करता है। अिन सबका पैसे अथवा आमदनीसे कतई सम्बन्ध नहीं रहता। अिसके अलावा ऊपर बताये अनुसार यदि अधिक प्राप्ति की मर्यादा निश्चित कर दी जाये, तो वह भी एक प्रेरणा देनेवाली बात होगी। कर समाजकी विषमताको दूर करनेका मुख्य साधन है। जीवनमें जो कमाया गया है उसपर आय-कर लगाकर और मरनेपर जो पीछे छूट जाता है उसपर बढ़ता हुआ मृत्यु-कर लगाकर हमें समाजकी विषमताको दूर करना है। समाजमें सम्पत्ति समाजके सहयोगसे प्राप्त और उत्पन्न होती है, अिसलिये समाजको उसका हिस्सा मिलना चाहिये। जैसे आजकी पीढ़ीके लिये पिछली पीढ़ीने कुछ छोड़ा है, उसी तरह आजकी पीढ़ीको भी अगली पीढ़ीके लिये कुछ छोड़ना चाहिये। आज त्याग करनेका अर्थ है, कलके उपभोगकी व्यवस्था करना। कुछ झोपड़ियोंमें अथवा रास्तोंपर सोअें और कुछ महलोंमें; किसीको पेटभर खानेका अनुभव चार-छह महीनेमें एक बार नसीब हो, तो किसीको खाया हुआ पचानेके लिये दवा लेनी पड़े—जनतन्त्रमें यह सब नहीं सहा जा सकता। यह सब न रहे, अिसलिये नियोजनकी आवश्यकता है, अिसीलिये नियमन और नियन्त्रणको मानना पड़ता है। अुन्हीके कारण कभी-कभी हमें अनुशासनका पालन करना पड़गा और त्याग भी करना पड़गा। लेकिन त्याग सब कोअी करे। बोझको यदि हल्का करना है, तो उसे सबको मिलकर अुठाना चाहिये। नियोजनका अर्थ है : निश्चित ध्येय और आदर्शके लिये अेवं उसके अनुरूप, वर्तमान और भविष्यका विचारकर योजना बनाना, आर्थिक व्यवहारकी तीनों अवस्थाओं—अुत्पादन, वितरण तथा उपभोगका नियोजन करना और उस नियोजनपर अमल करना। वस्तुओंके भावोंको माँग और पूर्तिपर न छोड़कर अुनका निश्चित नियन्त्रण करना,

सजगतासे योजनाको कार्यान्वित करना तथा देशके जीवनमें अुत्साह, समृद्धि, महत्वाकांक्षा आदिका निर्माण करना—कितना बड़ा काम है यह ! आपको यदि यह बात पट गयी हो कि भविष्यमें देशकी अर्थ-व्यवस्था सट्टेबाजोंके हाथोंमें और देशकी सम्पत्ति कालाबाजार करनेवालोंके हाथोंमें नहीं रहनी चाहिये, तो नियोजन-व्यवस्थाके अलावा दूसरा कोई रास्ता नहीं है। इस व्यवस्थामें व्यक्ति-स्वातन्त्र्यपर आघात होगा, यह बात सच नहीं है। सहयोगका अर्थ गुलामी नहीं है और नियोजनका अर्थ बुद्धिहीन व्यवस्था नहीं। भारतकी बहुसंख्यक जनताको गरीबीके इस हजारों सालों लम्बे अभिशापसे यदि मुक्त करना हो, उनके दुःखमय जीवनको सुखमय बनाना हो, उनमेंसे विफलताकी भावना दूर कर आत्म-विश्वासके भाव जागृत करने हों, उनकी कर्तृत्वशक्तिको अवसर मिले और उनके गुणोंकी कद्र हो असा यदि आप चाहते हों तो सिर्फ नियोजनपर ही आपको जोर देना चाहिये, उसीपर आपकी श्रद्धा होनी चाहिये। असंख्य गरीबजनहो, आयोजनसे तुम्हारी आर्थिक गुलामी नष्ट हो जायेगी। धनवानों, तुम्हारी सम्पत्ति तुमसे छीन ली जानेके कारण तुम्हारे लिये स्वर्गका रास्ता सुखकर और सुलभ हो जायेगा।

देशके सब दलोंने नियोजन-व्यवस्थाको मान्यता प्रदान कर दी है। इस चुनावमें आपको उसपर अपनी मुहर लगानी है। किसे और किस दल को मत देना, यह सोचना आपका अधिकार है। कौनसा दल इस कामको शत-प्रतिशत पूरा कर सकता है यह मैं आपको यहाँ नहीं बताऊंगा। यह बात मैं चुनावकी प्रचार सभाओंमें, चण्डलों और पत्थरोंकी वर्षाके बीच कहूँगा। नियोजन-व्यवस्था आपके हमारे अुद्धारके लिये कैसे आवश्यक है, आज सिर्फ अितना ही बताना था।



१०.

वैदेशिक नीति

स्वतन्त्र राष्ट्रकी व्याख्या मैं पिछले अंक व्याख्यानमें कर चुका हूँ। जो राष्ट्र सार्वभौम होता है, वह देशमें रहनेवाले सब लोगोंकी ओरसे निष्ठाकी भेंट ग्रहण करता है, और अपने राज्यके बाहर किसी भी व्यक्ति या राज्यको अपनी निष्ठा समर्पित नहीं करता। लेकिन, राज्य स्वतन्त्र हो जानेपर भी सब विषयोंमें स्वयं पूर्ण नहीं बनता, और न वह दुनियासे अलग ही रह सकता है। मैं व्यक्तिके रूपमें स्वतन्त्र हूँ, लेकिन बिना समाजके रह नहीं सकता। यह सच है कि मेरा जीवन मेरा अपना है, लेकिन वह समाज-जीवनमें घुला-मिला है। मेरी मर्यादाओंका ज्ञान मुझे है। समाज भी अपनी मर्यादाको समझता है। व्यक्ति और समाजके सम्बन्धोंका जो स्वरूप है, वही स्वरूप स्वतन्त्र राष्ट्र अथवा राज्य और विश्वका होता है। विश्व सिर्फ भूगोलका विषय नहीं है; विश्वका अर्थ है, उसमें रहनेवाले मनुष्य, उनका समूह और जिन-जिन राष्ट्रोंमें अथवा राज्योंमें वह बैठा हो, वे राष्ट्र और राज्य। हम जब विश्व-समाज (International Community)

की बात सुनते हैं, तब हमारे मनमें ऐसा ही कुछ अर्थ साकार हो उठता है। प्राचीन कालमें, याने जब समाज अस्थिर और भटकनेवाला था तब, अंक कबीला अथवा समूह दूसरेके साथ कैसा बरते, इसका निश्चय उसे करना पड़ता था। जब समाज स्थिर हो गया, तो उसका स्वरूप प्रादेशिक हो गया, और प्रेम और निष्ठा भूमिसे सम्बन्धित हो गयी। इसलिये प्रत्येक समाजको अपना प्रदेश सुनिश्चित कर लेना पड़ा तथा राज्य द्वारा उसकी सुरक्षा-की जिम्मेदारी उठानी पड़ी। जब दो मनुष्य पास-पास आते हैं, तो उनमें अनेकों-राजकीय, आर्थिक और सामाजिक सम्बन्ध पैदा होते हैं। जब राष्ट्र या राज्य अिकट्ठे होते हैं, तब भी यही होता है। व्यक्ति और समाजके सम्बन्ध समाजके सकेतों, परम्पराओं तथा अन्तमें राज्य द्वारा बनाये गये कानूनों द्वारा नियन्त्रित होते हैं। आंतर्राष्ट्रीय दुनियामे दो राष्ट्रोंके सम्बन्ध संकल्प, परम्परा, संधि अिन्यादिसे नियन्त्रित होते हैं। जब व्यक्ति देशके कानूनको तोड़ता है, तो राज्य हस्तक्षेप करता है और उस व्यक्तिको दण्ड या सजा देता है। लेकिन आंतर्राष्ट्रीय जगतमें राष्ट्रोंको परस्पर नियमानुसार चलनेकी प्रार्थना की जाती है, संधि अथवा समझौतोंको न तोड़नेका आग्रह किया जाता है। इसपर भी जब बात नहीं बनती, तो आर्थिक बहिष्कार अथवा युद्धका सहारा लिया जाता है। यदि हम पिछले दो हजार वर्षोंका अितिहास देखें, तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि आंतर्राष्ट्रीय जगतमें, आंतर्राष्ट्रीय नीति अथवा कानूनका विकास कैसे-कैसे हुआ। दो राष्ट्र आपसमें व्यापारिक लेन-देन करते हैं, आर्थिक मदद देने और लेते हैं, अंक-दूसरेकी राजधानीमें दूत रखते हैं। अिन सबके लिये सकेत और कुछ परम्पराएँ बन गयी हैं। आन्तर-राष्ट्रीय व्यवहार और नीतिका अंक बड़ा शास्त्र तैयार हो गया है। महा-भारत और रामायणमें, अर्थशास्त्र और अन्य नीति ग्रन्थोंमें, राजाको (अथवा राज्यको) दूसरोंके प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिये, बौन-सी नीति बरतनी चाहिये, अित्यादि विषयोंपर कुछ सिद्धान्त विवरित किये गये हैं। अिसे 'अन्वीक्षकी नीति' का सामान्य नाम दिया गया है। शत्रुके शत्रुको मित्र बनाना चाहिये, शत्रुको अलग-थलग अकाकी कैसे किया जाये, उसे कहाँ गाँठा जाये, उसकी अपेक्षा क्यों और कैसे नहीं की जानी चाहिये, राजदूत कैसा होना चाहिये, पर-राज्यमें उसका व्यवहार कैसा हो, वह कैसी बातचीत

करे आदि सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातोंके बारेमें उस नीतिमें विचार किया गया है। पाश्चात्य राष्ट्रोंके नीतिज्ञोंने भी इसी तरहसे उस विषयपर सोचा-विचारा है। परिणाम-स्वरूप, युद्ध होनेपर कितन परम्पराओंकी रक्षा की जाये, घायल सैनिकोंसे कैसा व्यवहार किया जाये, शरणमें आये हुएके प्रति कैसा व्यवहार हो, नागरिकोंके प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिये आदि बातोंके बारेमें कुछ परम्पराये निर्धारित हो गयी हैं। विजयी सेना कितन-कितन चीजोंपर कब्जा करे, उसे लूटमार क्यों नहीं करनी चाहिये, समझौते कैसे किये जाते हैं, अनुके अर्थ कौन व कैसे लगाता है, विवाद अपस्थित हो जानेपर उसका फैसला कौन करेगा, अनु फैसलोंपर अमल कैसे किया जायेगा आदि बातोंका एक भारी शास्त्र बन गया है। यह स्वीकार करना होगा कि पिछले सौ सालोंमें जो अनेकों युद्ध हुए, उनकी पार्श्वभूमि और परिणामोंपर विचार करते-करते संसार आग बढ़ा है। लेकिन सम्बन्धित देशोंकी नीतिपर जैसे युद्धका होना या टलना अवलम्बित रहता है, वैसे ही युद्धरत राष्ट्रोंकी नीतिपर युद्धका अन्त तथा उसके अन्त होनेका ढंग निर्भर करता है। आर्थिक सम्बन्धोंकी दृष्टिमें भी वैदेशिक नीतिको अत्यन्त महत्व है। यदि यह कहा जाये कि आर्थिक नीतिके कारण ही युद्ध होते हैं, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। अंक समय ऐसा था जब कि राष्ट्रोंके आर्थिक व्यवहार अतने व्यापक और मिले-जुले हो गये कि तब कभी लेखक यह मानने लगे कि अब लड़ाई सम्भव नहीं। पर साथ ही प्रकृतिकी तरह मनुष्योंमें भी युद्ध अपरिहार्य है, यह सिद्ध करनेवाले लोग भी थे। दो महायुद्धोंके बाद अब यह बात समझमें आयी है कि आन्तरराष्ट्रीय जगतमें यदि शान्ति रहेगी तो प्रत्येक राष्ट्रकी प्रगति हो सकेगी। लेकिन युद्ध अनिवार्य नहीं है, यह बात अभी भी लोगोंको पटी नहीं है। गरम युद्धके बदले शीत युद्ध अथवा ठण्डी लड़ाईकी बातें अब हम सुनने लगे हैं। समाजमें यदि व्यक्ति और समाजके स्वार्थोंमें समझौता और समन्वय हो सकता है तो आन्तरराष्ट्रीय जगतमें यह क्यों सम्भव नहीं है? सारांश जगतकी प्रगति और शान्ति हरेक राष्ट्रकी वैदेशिक नीतिपर निर्भर है।

राष्ट्रकी वैदेशिक नीति कैसे निश्चित की जाती है? उसका कौन निर्णय करता है? उसमें मजबूरी कितनी और अचिच्छकता कितनी होती है? वैदेशिक नीति कोअभी अद्भुत, अगम्य या कल्पित बात नहीं होती।

मनुष्य अतिहास-निरपेक्ष नहीं होता। जैसे मनुष्यका रंग, वर्ण उसे जन्मसे ही प्राप्त होता है, वैसे ही राज्यको उसके जन्मसे ही वैदेशिक नीति प्राप्त होती है और वह उसके अपने अतिहासके अनुरूप होती है। भारतकी वैदेशिक नीति स्वच्छ कोरी पाटीपर लिखा हुआ अंकदम नया श्लोक नहीं है। १५ अगस्त १९४७ को देश स्वतन्त्र हुआ, लेकिन अिससे राज्यकी व्यवस्था अंकदम बदल नहीं गयी। वे ही अधिकारी, वे ही कानून और उसी ढंगका शासन चलता रहा। दृष्टिकोण जरूर बदल गया। देशकी समस्याओके निराकरणके लिये जो नीति चल रही थी, उसीको शुरूमे मान कर चलना पड़ा। अँग्रेजोंसे पहिले भारत अंक राज्य नही था, यहाँ अनेक राज्य थे। तब उनकी 'विदेश नीति' उन राज्योंके पारस्परिक सम्बन्धों तक ही सीमित रहा करती थी। जबसे पाश्चात्योका यहाँ आना शुरू हुआ, तबसे कुछ बातें स्पष्ट रूपसे हुयी। प्राचीन समयमे ग्रीक आये और चले गये, शक आये और लौट गये। उनके बाद मुसलमान तथा मुगल आये और यही के हो गये। वे भारतके समाज-जीवनमें स्थायी रूपसे बस गये, और जो नये लोग बाहरसे आये उनका विरोध करने लगे। जैसे रेलके डिब्बोंमें घुसनेके लिये आनेवालेको झगड़ना पड़ता है, लेकिन अन्दर घुस जानेके बाद जो डिब्बेमे थे उनके साथ मिलकर वह भी नये आनेवालेका विरोध करने लगता है; ठीक उसी तरह उनका व्यवहार रहा। उसके बाद याने १६ वीं शताब्दीमे भारतमे बाहरमे आये हुये व्यापारी राजकीय संगठन बनाने लग। वे तराजूके साथ-साथ तलवारका भी प्रयोग करने लगे, दूकानों और कोठियोंके साथ-साथ फौजी कैम्प और डेरे भी हमारी जमीनपर लगाने लगे। डचों, फरासीसियों और अँग्रेजों तथा पोर्तुगीजोंने भारतमे अपना राज्य स्थापित करनेके प्रयत्न शुरू कर दिये। डच कुछ ही दिनोंमें खतम हो गये। अन्य तीन अपने अपने देशकी सरकारी नीतिके अनुसार यहाँ व्यवहार करते थे। जैसी अँग्लैण्डकी विदेश-नीति होती थी, वैसा ही व्यवहार यहाँके अँग्रेज फरासीसियों तथा पोतुगीजोंसे करते थे। भारतके बाहर क्या चल रहा है, कैसा काल प्रवाह है, यह सब भारतीय राज्योंने बराबर समझा ही नहीं। अहमदशहा अब्दालीने देशपर आक्रमण किया। मराठे उनसे लड़ने दौड़े। दिल्लीकी मुसलमानी सल्तनत भी लड़नेके लिये तैयार हो गयी। लेकिन आपसमें अनन्त गुट और अनन्त

झगड़ होनेके कारण पानीपतकी लड़ाईमें मराठे हार गये। पर उससे अंक बात हुयी। उसके बाद वायव्य सरहदसे हिन्दुस्तानपर फिर किसीने चढाई नहीं की। पूरा भारत अंक है यह भावना उस समय कुछ कुछ जाग्रत होती-सी दिखायी दी। मराठोंको इस बातका ख्याल था कि जलचरोंसे याने अँग्रेजोंसे सावधान रहना चाहिये। लेकिन तब पूरे भारतमें अँग्रेजोंकी तूती बोलने लगी थी। मराठे खतम हो गये, सिख हार गये तथा १९ वीं सदीके मध्य तक अँग्रेजोंका राज्य पूरे भारतमें फैल गया। अब भारतमें जो राज्य रह गये थे, वे अँग्रेजोंके माडलिक थे—अन्दरूनी कारोबारमें स्वतन्त्र लेकिन अन्य बातोंमें गुलाम। साधारणतया भारतमें अँग्रेज जबसे राजकीय संगठन बनाकर रहने लगे तबसे अंग्लेडकी विदेश-नीति ही सामान्य रूपसे गुलाम भारतकी विदेश नीति हुआ करती थी। और १८५८ के विद्रोहके बाद जब अंग्लेडका साम्राज्य यहाँ कानूनन स्थापित हो गया, तबसे तो अंग्लेडकी विदेश नीति ही भारतकी विदेश नीति है, यह बात वैधानिक रूपसे स्पष्ट हो गयी। प्राचीन समयमें भारतकी महत्वाकांक्षा थी, 'कृणवन्तो विश्वमार्यम्।' हमारा प्रमुख ध्येय राजनैतिक वर्चस्व नहीं, सांस्कृतिक वर्चस्वकी स्थापना था। बुद्ध-धर्म अशियाभरमें फैला, वैदिक सस्कृति भी पूर्व तथा सुदूर पूर्विय देशोंमें गयी। उस समयकी भारतीय वैदेशिक नीतिकी यदि व्याख्या की जाय तो कहना पड़ेगा कि भारतका अदृश्य धर्म और संस्कृतिका प्रसार करना ही था। 'हमारा धर्म ग्रन्थ लो और अपना देश दो (अथवा हमारी तलवारके सामने झुको)' यह भारतका दण्डक नहीं था। भारतके अधिकसे अधिक क्षेत्रपर जिसका राज्य था, उस अशोकका व्रत धर्म-चक्र चलाना था। मुगल और मुसलमान शासक जो कुछ भारतमें था उसे हासिल करने तथा उसको संभालकर रखनेपर ही ध्यान देते थे। उनका कोई खास वैदेशिक नीति थी, ऐसा नहीं लगता। मराठे गो-ब्राह्मण प्रतिपालक हिंदवी स्वराज्यके लिये प्रयत्न कर रहे थे, इससे अधिक भारतकी दृष्टिसे उनकी विदेश नीतिमें भी नहीं था। आक्रमण हो तो उसका मुंहतोड़ जवाब देना, भारतके अधिक-से-अधिक प्रदेशों अपने राज्यमें मिलाना, स्नान-संध्याके लिये भरपूर जल प्राप्त हो,—यही दृष्टि उनके कार्योंमें थी। लेकिन अब्दालीका उन्होंने जो विरोध किया उसमें भारतीय दृष्टि थी, यह मानना पड़ेगा। भारतके बाहर जाकर अन्य

प्रदेशोंको जीतनेकी अनुकी नीति नहीं थी। रोम और सीरिया तक तलवार चलानेकी बात कहनेवाले लोग मराठोंमें थे, लेकिन यह सिर्फ कहनेकी बात थी। उसने कभी समाजकी आकांक्षाका रूप नहीं लिया, राज्यने कभी उसे नीतिके रूपमें अंगीकृत नहीं किया। मतलब यह कि उस समय जैसा प्रसंग और जैसी परिस्थिति आती थी, उसीके अनुकूल सौच-विचार कर नीति निश्चित की जाती थी। अँग्रेजोंका राज्य गुरु होनेसे पहले वैदेशिक क्षेत्रोंमें भारतकी नीति अनाक्रमण, आत्मरक्षा तथा तात्कालिक हितकी रक्षा तक ही सीमित रहा करती थी। उसके जो व्यापक तत्व थे, वे सस्कृति तथा व्यापार-विषयक थे; आक्रमण करनेवाली हिंसक नीति कही भी नहीं दिखायी देती।

अंग्लेडके साम्राज्यकी स्थापनाके प्रारंभसे, अीस्ट इण्डिया कम्पनीके समयसे ही भारतमें अँग्रेजी राजसत्ताकी विदेशी-नीति अंग्लेडके अनुरूप हुआ करती थी, और जैसा कि कहा जा चुका है, १८५८ के बाद वैधानिक रूपसे यह बात स्पष्ट हो गयी। भारतको किसी भी प्रकारकी सधि या व्यापार विषयक करार करनेकी स्वतन्त्रता नहीं थी। अंग्लेडके शत्रु और मित्र भारतके भी शत्रु और मित्र हुआ करते थे। १८५८ के बाद पूर्व और पश्चिममें लेन-देन तथा यातायातका व्यवहार बहुत बढ़ा। भारतके लोगोंने पाश्चात्य और खासकर अंग्लेडकी विचारधाराका अध्ययन करना शुरू कर दिया। राज-नीति-सम्बन्धी अंग्लेडके सिद्धान्तोंका परिणाम भारतके विचारकोपर हुआ। समता, स्वातन्त्र्य तथा भ्रातृ-भाव आदि कल्पनाओंका अनुपर असर पड़ा। भारतमें अलग-अलग राजनैतिक संस्थाएँ बनने लगी। उनके द्वारा बड़े-बड़े प्रश्नोंपर अपने विचार पेश किए जाने लगे। 'प्रेसीडेसी असोशिएशन' जैसी संस्थाओंकी ओरसे, काँग्रेसका जन्म होनेके पूर्व ही राजनैतिक प्रश्नोंपर सरकारकी सेवामें निवेदन प्रस्तुत किए जाते थे। जिसे हम संगठित लोकमत कहते हैं, उसका अस्तित्व १८७० से दिखायी देता है। आगे चलकर काँग्रेसका जन्म हुआ। उसके अधिवेशनोंमें भारतके अन्दरूनी प्रश्नोंके साथ-साथ आन्तर-राष्ट्रीय प्रश्नोंपर चर्चा होने लगी। वायव्य सरहदपर जो गड़बड़ चल रही थी उसके सम्बन्धमें भारत सरकारकी नीतिकी आलोचनाएँ होने लगी थीं। उस समय जो विधान-मण्डल थे, उनमें नियमानुसार आलोचना करना सम्भव

नहीं था, लेकिन पूरे देशमें अंग्रेज साम्राज्यवादकी आक्रमणशील नीति टीका-टिप्पणीका विषय बन चुकी थी। ब्रह्मदेशपर जो आक्रमण हुआ था तथा तिब्बतके बारेमें जो कदम उठाये गये थे, वे भी जनताकी आलोचनासे बच नहीं पाये। लेकिन यह सब आलोचना व्यर्थ थी। वैदेशिक नीति अंग्लेडमें निश्चित होती थी और हिन्दुस्तान सरकार उसपर अमल करती थी। खासकर आक्रमणकी नीतिके कारण जो खर्च होता था, हिन्दुस्तानको उसे सहना पड़ता था—असलिये कांग्रेस और अन्य संस्थाएँ उनके बारेमें प्रस्ताव किया करती थीं। ज्ञात होता है कि १८९७ के अमरावती अधिवेशनमें यह सारा खर्च अंग्लेडको करना चाहिये इस आशयके दो प्रस्ताव हुये थे। सरकारकी वैदेशिक नीतिका भारतपर जो आर्थिक बोझ पड़ता था, उसकी आलोचना की जाती थी। १९ वीं शताब्दीके बाद विदेश नीतिके क्षेत्रमें हिन्दुस्तानका जनमत अधिक परिणामकारक और अधिक स्पष्ट होने लगा। इस शताब्दीमें जो जो लड़ाइयाँ हुयीं, उनमेंसे प्रायः सबमें ब्रिटेनके साथ हिन्दुस्तान भी रहा—अफगान युद्धमें, ब्रह्मदेशकी लड़ाईमें, चीनपर की फौजी कार्यवाहीमें तथा दक्षिण आफ्रिकाके बोर-युद्धमें भी। भारतीय फौज और भारतीय धन उनमें नष्ट होता था, असलिये लोकमत उनके विरुद्ध आवाज उठाता था; लेकिन कोई सुनता नहीं था। पहला विश्व-महायुद्ध १९१४ के अगस्तमें शुरू हुआ। तबतक भारतीय लोकमत बड़ा प्रभावशाली बन गया था। स्पष्ट रूपसे इस युद्धका कारण साम्राज्यकी अधिकार-भूख और लालसा ही थी, लेकिन कहा यह जाता था कि वह समता, स्वातन्त्र्य और जनतन्त्रके लिये (To make world safe for Democracy) लड़ा जा रहा है। उसमें साम्राज्यवादियोंका असली अद्देश्य अपने स्वार्थके लिये नये प्रदेशोंपर कब्जा जमाना अथवा जो है उन्हें टिकाये रखना था, लेकिन बड़े-बड़े सिद्धान्तों एवं आदर्शोंको युद्धका हेतु बताया जा रहा था। इन सिद्धान्तोंकी बातोंका असर पराधीन राष्ट्रोंपर हुआ। भारतीय जनता अंग्रेजोंसे पूछने लगी कि हमारे लिये स्वयं-निर्णयके सिद्धान्तपर कैसे अमल किया जायेगा। उसके बादसे, दुनियामें शान्ति रहे, सब जगह स्वयं-निर्णयका सिद्धान्त लागू किया जाये और उपनिवेशोंको साम्राज्यी गुलामीसे छुटकारा मिले—यह नीति भारतीय जनताने अपनी ली थी। अब भी कागजपर अंग्लैंडकी विदेश नीति ही भारतकी

विदेश नीति थी, लेकिन उसपर भारतीय जनमतका थोड़ा-थोड़ा असर और प्रभाव पड़ने लगा था। १९२० के बाद, जो युद्धोत्तर कालीन संसार दिखायी दिया, उसमें यूरोपके कभी साम्राज्य धराशायी हो गये थे और अनेक देशोंने स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली थी। उस समय यह प्रतीत हुआ कि दुनियामें शान्ति कायम रखनी हो तो कोअी आन्तर्राष्ट्रीय संगठन आवश्यक है। सिर्फ देशोंके आपसी संधि-समझौतेसे युद्ध नहीं टाला जा सकता, तदर्थ जिसमे सब समाविष्ट है असा संगठन अनिवार्य है; अतः 'लीग ऑफ नेशन्स' का जन्म हुआ। भारतीय जनताने सिद्धान्ततः अस बातको ठीक माना, लेकिन उससे उसे साम्राज्यशाहीका अन्त होते नहीं दिखा। उससे कभी आन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओंका निर्माण हुआ, लेकिन साथ ही अन्तमे राष्ट्र-संघ अक कमजोर संस्था है, यह बात भी शीघ्र ही ध्यानमे आ गयी। उसके प्रस्तावोंको कोअी नहीं मानता था। जबतक अपने स्वार्थको धक्का न लगे तब तक तो राष्ट्र-संघ ठीक, लेकिन जहाँ अपने स्वार्थको धक्का लगा कि उसकी कोअी पर्वा नहीं करता था। संघके निर्णयोंका क्रियान्वित करनेके लिये कोअी दण्ड-व्यवस्था (Sanction) नहीं थी। आर्थिक बहिष्कारकी योजना थी, लेकिन उसका अपयोग अक ही बार किया गया और वह भी सफल नहीं हुआ। दोनों महायुद्धोंके समय भारतीय जनताको जो राजनैतिक अनुभव हुआ, वह स्वतन्त्रता प्राप्तिके बाद वैदेशिक नीति निश्चित करते समय उपयोगी सिद्ध हुआ।

यह सच है कि प्रथम महायुद्धके परिणाम-स्वरूप कुछ राष्ट्र स्वतन्त्र बना दिये गये; लेकिन असा करनेका अदृश्य था—रूसमे जो राज्य-व्यवस्था कायम हुयी और जो राजनैतिक विचारधारा तथा सिद्धान्त प्रभावशाली बने, उनको रोकथाम करना। उसी दृष्टिसे कभी राष्ट्रोंने जर्मनी और अटलीको प्रोत्साहन दिया। हिटलरशाही और मुसोलिनीशाही याने फासिस्टवाद अंग्लैंडकी वैदेशिक नीतिकी सीधी विरासत थी। स्पेनमे जो कुछ हुआ, वह भी असी बातको सिद्ध करता है। दो महायुद्धके बीचके समयमे स्वतन्त्रताके लिये लालायित जनताके लिये निर्भयतासे आवाज उठानेवाला सिर्फ भारत था, उसने अपनी यह आवाज काँग्रेसके माध्यमसे बुलन्द की थी। स्पेनके बारेमे तथा हिटलरके फसिज्मके बारेमें काँग्रेसने जो प्रस्ताव किये थे वे असी

बातके अुदाहरण है। १९२७ मे मद्रास अधिवेशनका तद्विषयक प्रस्ताव हमारी भविष्यकी वैदेशिक नीतिका सूत्रपात था। स्पेन तथा मुसोलिनीके बारेमे पण्डितजीके वक्तव्य अिसी वातको प्रकट करते है। अुन्होंने साफ-साफ बताया था कि साम्राज्यशाही नीतिका परिणाम अनिवार्य रूपसे दूसरा महायुद्ध है और जनतन्त्रका सच्चा दुश्मन फासिज्म है। अिसीलिअे मुसोलिनीके आमन्त्रित करनेपर भी पण्डितजी अिटली नही गये। अुनकी अडिग भूमिका थी, सिद्धान्तोंपर कोअी समझौता नही हो सकता। वैदेशिक नीतिमें देशकी आर्थिक नीतिका भी समावेश होता है, अिसीलिअे आर्थिक नीति सम्बन्धी काँग्रेसके प्रस्ताव दिनो दिन प्रगतिशील बनते जा रहे थे और अुसका ध्येय समाजवादी समाज रचनाकी ओर जाना है, यह बात १९३१ मे कराची काँग्रेसने स्पष्ट कर दी थी। तब भारत स्वतन्त्र नही था, लेकिन विदेश नीतिके सम्बन्धमे जो लोकमत तैयार हो रहा था, वह अपनी नीति स्वतन्त्र हो अिस दृष्टिको अपनाअे हुआ था। भारत स्वतन्त्र हो जानेके बाद क्या नीति अपनाअंगा अिसके बारेमे कअियोंके मनमे शंकाये थी। यह सच है कि जिम्मेदारी आ जानेपर आवाज कुछ नीची हो जाती है; लेकिन भारतीय जनताके मनमे और भारतके राजनैतिक चिन्तनमे अिस विषयसे सम्बन्धित कुछ मौलिक सिद्धान्त गहरी जड़ जमा चुके थे। अेक बार अंग्लेडके किसी अेक प्रसिद्ध राजनीतिज्ञसे पूछा गया कि अंग्लेडकी विदेश-नीति क्या है? (What is England's foreign policy?) अुसने जवाब दिया—अंग्लेडकी कोअी विदेश नीति नही है, अुसके वैदेशिक स्वार्थ है (England has no foreign policy, she has only foreign interests)। अिसका अर्थ यह हुआ कि वैदेशिक नीतिकी कोअी भी बात क्यों न हो, अुसपर अपने स्वार्थकी दृष्टिसे विचार किया जाता था। वैदेशिक नीतिका सम्बन्ध परदेशोंसे रहनेपर भी, अुसका मूलतत्त्व राष्ट्रत्व ही रहना चाहिअे। अपने साथ दूसरोंका भी भला होता हो तो बहुत ही अच्छा। अपने हितोंकी रक्षामे दूसरोंका अनहित यदि करना भी पड़े तो व्यवहार की दृष्टिसे अुसमे कुछ बुराअी नही। लेकिन अपना नुकसान कर दूसरोंको हानि पहुँचाना बहुत बड़ी नीचता है। प्रत्येक राष्ट्रको

अपनी विदेश-नीति यह सब सोचकर निश्चित करनी चाहिये। अपना नुकसान न करते हुये, अपने स्वार्थोंकी रक्षा सहज ढंगसे करनेकी नीति श्रेष्ठ नीति है। लेकिन दूसरे महायुद्धमे ये सारे नीति-नियम ठुकरा दिये गये। भारतको बिना पूछे, बिना उसकी सम्मतिके उसे दूसरे महायुद्धमे फँसा दिया गया। जो-जो प्रस्ताव कांग्रेसने अगस्त १९३९ से लेकर लड़ाई खतम होने तक किये हैं, उन्हें देखनेसे पता चलेगा कि कांग्रेसकी अपनी एक वैदेशिक नीति थी और उसीके अनुरूप उसके प्रस्ताव हुआ करते थे। फासिज्मके खिलाफ युद्ध ठीक है, लेकिन फासिज्मको मोटा किया था साम्राज्यवादने ही। और वास्तविक स्वातन्त्र्य तथा जनतन्त्रकी दृष्टिसे फासिज्म और साम्राज्यवादमें कोई मौलिक अन्तर भी नहीं था। अतना ही नहीं; व्यक्ति स्वातन्त्र्य तथा उसीके समान अन्य नागरिक स्वातन्त्रताओंकी अुदात्त भावनाओंकी दृष्टिसे अपनिवेशवाद, फासिस्टवाद तथा अेकतन्त्री साम्यवादमें कोई फर्क नहीं था। सिद्धान्तकी दृष्टिसे तथा नीतिकी दृष्टिसे ये सब अेक स्तर पर थे। घोषणाअे बहुत बड़ी-बड़ी, लेकिन प्रत्यक्ष व्यवहार अत्यन्त गिरा हुआ—यह बात सबमें स्पष्ट दिखाई देती थी। असि असंगतताको मद्दे-नजर रखकर कांग्रेसने प्रस्ताव पास किये थे। कांग्रेसने यह बार-बार दुहराया कि जो गुलाम है, उन्हें स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये, अपनिवेशवाद न सिर्फ भारतमें बल्कि सारी दुनियामें खतम होना चाहिये और तभी सच्ची विश्व-शान्ति होगी। यह ठीक है कि युद्धके समय युद्ध जीतना ही प्रमुख ध्येय रहता है, लेकिन उस विजयके द्वारा प्रभावशाली चेतना अुत्पन्न होनी चाहिये, और असिलिये सेनाको यह मालूम होना चाहिये कि वह क्यों लड़ रही है। उसे देशकी रक्षाके लिये तो लड़ना ही है, लेकिन साथ ही उसका अन्तःकरण श्रेष्ठ मूल्योंसे भी प्रभावित होना चाहिये। “जो आदर्श है, वह कुरबानीके योग्य है और मैं उसके लिये शहीद हो रहा हूँ”—यह भावना सैनिकमें अभूतपूर्व हिम्मत भर देती है। कांग्रेस यह सोचती थी कि भारतके स्वतन्त्र होते ही दूसरोंकी स्वतन्त्रताओंके लिये अनेक लड़नेवाले तैयार हो जाअेंगे। वह अँग्रेजोंको दिक्कतमें नहीं डालना चाहती थी। शत्रुका सकट अपने लिये सुअवसर है, अैसी कषुद्र विचारधारा उसकी नहीं थी। लेकिन फिर भी गाँधीजीके अहिंसाके सिद्धान्तका

काँग्रेसने निरपेक्ष समर्थन नहीं किया था। युद्ध खतम हो गया, राजनैतिक अलट-पुलट शुरू हो गयी तथा स्वतन्त्रता नजदीक आती दिखायी देने लगी; और तब जिन-जिन बातोंको हमने स्वीकार किया था उसको हम अभिव्यक्ति देने लगे। १९४७ मार्चमे दिल्लीमे अशियायी राष्ट्रोंकी एक परिषद हुयी। उसमे पण्डितजी तथा अन्य भारतीयोंके जो व्याख्यान हुअे, वे इसी बातको प्रकट करते है। जब स्वतन्त्रता मिली तो जो जिम्मेदारी हमपर आयी उसीके अनुरूप हमने अपनी वैदेशिक नीति बनायी। १९४६ मार्चकी काँग्रेस वर्किंग कमेटीके एक प्रस्तावमे उस नीतिको स्पष्ट किया गया है। जयपुर, नासिक, दिल्ली, हैदराबाद, कल्याणी, आवड़ी, अमृतसर तथा अभी परसों अिन्दौरके अधिवेशनमे काँग्रेसने विदेशी नीतिपर जो-जो प्रस्ताव किअे है, उन सबमे हमे एक संगति तथा तत्त्वनिष्ठाके स्पष्ट दर्शन होते है।

भारतीय संविधान नवम्बर १९४९ में स्वीकृत किया गया और तदनुसार २६ जनवरी १९५० से भारत संघ-राज्यका प्रारम्भ हुआ। संविधानके अनुच्छेद ५१ मे भारतकी विदेश-नीतिका दिग्दर्शन कराया गया है। उसमे निर्देशित सारे तत्व काँग्रेस द्वारा पहिले ही स्पष्टरूपेण स्वीकार कर लिअे गअे थे। जैसे, भारतका राज्य आंतर्राष्ट्रीय शान्ति अवं सुरक्षाके लिअे प्रयत्न करेगा, राष्ट्रोंके आपसी सम्बन्ध न्याय तथा परस्पर सम्मानपर आधारित हों, आंतर्राष्ट्रीय कानूनों तथा संधियों अवं समझौतोंका पालन किया जाअे और उनसे सम्बन्धित जिम्मेदारियाँ निभायी जाअें, आंतर्राष्ट्रीय झगड़ों तथा वादोंका निपटारा पंचोंके द्वारा करवाया जाअे—आदि सिद्धान्तोंका अनुच्छेद ५१ मे स्पष्ट रूपसे निर्देश किया गया है। आतर्राष्ट्रीय व्यवहारोंके लिअे किसी परिणामकारी आतर्राष्ट्रीय संगठनकी आवश्यकताको स्वीकार कर भारतने राष्ट्रसंघकी सदस्यताको अपनाया है। राष्ट्रसंघके संविधानसे भारतपर यह नैतिक बन्धन चला आया है कि यदि किसी देशसे उसका कोअी झगड़ा अुठ खड़ा हो, तो उसे उसका निपटारा राष्ट्रसंघके नियमोंके अनुसार कर लेना चाहिअे। जिन अैतिहासिक कारणोंसे तथा जिस राजनैतिक पार्श्व-भूमिमे भारतको स्वतन्त्रता मिली है, उसके कारण उसने राष्ट्र-समूह (Common-wealth) मे बने रहनेका निश्चय किया और वह अब भी उसमे है। राष्ट्र-समूहकी सदस्यता उसकी स्वतन्त्र विदेश नीतिमे कभी

बाधक नहीं बनी। इसके विपरीत, विश्व-शान्ति कायम करनेके लिये भारतने जो कोशिश की, उसमे इस संगठनसे कुछ लाभ ही हुआ है। राष्ट्र-समूहमे रहना या नही, यह पूरी तरहसे भारतपर निर्भर है। उसमे कुछ नुकसान भी है, लेकिन वह हानि राष्ट्र-समूह छोड़ देनेसे दूर हो जायेगा, ऐसा भी नहीं है। पिछले दस सालके अतिहासको देखनेपर और भारत अंक गणतन्त्र है इस बातको ध्यानमें रखकर सोचनेसे यह प्रतीत होगा कि राष्ट्र-समूहमें रहनेसे हमारा कुछ बुरा नहीं हुआ। इसके विपरीत निष्पक्ष अतिहास यह कहेगा कि भारतने उसमे रहकर कुछ अन्य उपनिवेशोंको स्वतन्त्रता दिलानेके काममें अपने प्रभावका उपयोग किया है। बदली हुई परिस्थितिमें आर्थिक दृष्टिसे हमारा राष्ट्र-समूहमें बने रहना लाभप्रद सिद्ध हुआ है। राष्ट्र-संघमें रहना तो अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखनेकी दृष्टिसे आवश्यक अब अपरिहार्य है ही। सोवियत रूस अतना बड़ा है, फिर भी वह राष्ट्र-संघका सदस्य है। कुछ समय तक उसने उससे असहयोग किया था, लेकिन अब वह फिरसे उसमे योग दे रहा है। आज दो-तीन छोटे-छोटे राज्योंको छोड़कर दुनियाके सब राज्य उसके सदस्य हैं। लाल चीन भी उसमे जानेके लिये अतुल्य है। यह संगठन आन्तर-राष्ट्रीय व्यवहारोंका नियमन करता है और मौका आनेपर अपने निर्णयोंको कार्यान्वित करानेके लिये दण्ड-शक्ति भी धारण करता है। लीग ऑफ नैशन्ससे यह अधिक समर्थ और सशक्त है। राष्ट्र संघके पास अपने आदेशोंको मनवाने वाली यद्यपि कोई पुलिस अथवा सैन्य-शक्ति नहीं है, फिर भी मौका आनेपर वह खड़ी की जा सकती है। १९५२ की कोरियाकी घटना उसका अुदाहरण है और व्हिअेटनाम तथा स्वेज प्रकरणमें भी ऐसा ही हुआ। सारांश, दुनियामे रहना ही और अपनी स्वतन्त्रताकी रक्षा करनी हो, तो आन्तराष्ट्रीय थानेके इस थानेदारको स्वीकार करना होगा। हो सकता है कि कभी थानेदार टेढ़ा-मेढ़ा चले, कभी वह अन्याय करे, लेकिन दूर दृष्टिसे सोच विचार कर राष्ट्र-संघमें बने रहना हमारे लिये सिद्धान्त और सुविधा दोनोंकी दृष्टिमे अुचित है और भारत अुमीके अनुसार चल रहा है। आन्तराष्ट्रीय आर्थिक व्यवहारमे थोड़ा नियमन रहे, सब राष्ट्रोंको और खासकर पिछड़े हुए अविकसित राष्ट्रोंको आर्थिक न्याय मिले, इस दृष्टिसे अनेक

आंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं बनी हैं, और उनमें भारत भी हिस्सा ले रहा है। १९४६ में जब केन्द्रीय धारा सभाके सामने जागतिक बैंक और जागतिक फण्डके सम्बन्धमें एक बिल आया, तब कांग्रेस दलका मत था कि भारतको उसमें सम्मिलित नहीं होना चाहिये। तब, भारतको उसमें सम्मिलित होना चाहिये, उससे हमें लाभ होगा—यह साफ-साफ कहनेवाला अकेला मैं ही था। इसपर काफी तूफान उठा, कभी तरहकी अफवाहें फैलीं, पर अन्तमें सरदार पटेलने स्पष्ट रूपसे आदेश देकर मेरी इस विचारधाराका समर्थन किया। आज यह स्पष्ट दिखायी दे रहा है कि भारतको जागतिक बैंक तथा फण्डसे कितनी मदद मिल रही है! मेरा यहीं कहना है कि इस नयी दुनियामें हमें दूर तक नजर दौड़ाकर व्यापक बुद्धिसे विचार करना चाहिये। यह ठीक है कि पिछले अनुभवोंको हमें नहीं भूलना चाहिये, लेकिन परिवर्तित परिस्थितिके सन्दर्भमें उनका अनन्वय करके हमें अर्थ लगाना पड़ेगा। भारत अथवा अण्डिया राष्ट्र-संघका प्रारम्भसे सदस्य है; पर स्वतन्त्रताके बाद उसकी सदस्यता भारतके लिये गौरवास्पद वस्तु बन गयी है।

अपर जो कुछ कहा गया है उससे एक महत्वकी बात साफ हो जाती है कि आज संसारकी राजनीति 'यूनों' अथवा संयुक्त राष्ट्रसंघके तालपर चल रही है। राष्ट्रसंघके सामने सवाल आता है, उसपर विचार-विनिमय होता है तथा सदस्य राष्ट्र अपने-अपने दृष्टिकोण अपस्थित करते हैं। वहाँ गुटवाजी चलती है, सौदे पटाये जाते हैं और यह भी होता है कि मन अकेल तरफ रहता है, लेकिन मत दूसरी तरफ दिया जाता है। प्रयुक्त शब्द और अच्छित अर्थमें जान-बूझकर चतुराईसे अन्तर रखा जाता है, जैसा मौका आये वंसा अर्थ निकालनेकी सुविधा रख ली जाती है। उसमें अुदात्त घुपणाये और कषुद्र विचार, निमंम सिद्धान्तवाद और नंगा स्वार्थ साथ-साथ दिखायी देते हैं। तात्कालिक और महत्वके प्रश्नोंपर सुरक्षा समिति (Security Council) निर्णय करती है। उसके सब निर्णय अंक मतसे होने चाहिये। अंक भी यदि विरोधमें रहे तो गाडी फंस जाती है।*

* सुरक्षा समितिके पाँच स्थायी सदस्य हैं : अमरीका, ब्रिटेन, चीन, फ्रांस और सोवियत रूस। इनमेंसे हरेकको निषेधधिकार (Veto) प्राप्त है, और उसके प्रयोगसे वे अपनी अच्छाके विरुद्ध होनेवाले किसी भी निर्णयका रास्ता बन्द कर सकते हैं। —अनु०।

और पिछले इतिहासकी वजहसे आजकी दुनियामें जो शक्ति-गुट बन गये हैं वे, राष्ट्रसंघके कामोको प्रभावपूर्ण ढंगसे लटकाकर रख सकते हैं। १९३९ से १९४६ तक दूसरे महायुद्धके समय जो अनेक घटनाएँ हुई थीं तथा प्रसंगवश और सुविधाके लिये जो गठबन्धन बने थे, वे प्रसंग समाप्त होते ही छिन्न-भिन्न हो गये। उसके टूटनेसे सदस्योंके मनमें नाराजगी पैदा हो गयी, विचारोंमें जहर भर गया और परस्पर अविश्वास पैदा हो गया, जो आज आंतर्राष्ट्रीय राजनीति-का स्थायी भाव बन बैठा है। उसमें अलग-अलग धर्मों तथा कार्य-पद्धतियोंके कारण पैदा होनेवाले विरोध इस आंतर्राष्ट्रीय संगठनकी वजहसे और तीव्र हो गये हैं। यह दिखायी देने लगता है कि जरा-जरा सी बातपर तू-तू मैं-मैं शुरू हो जाती है। लेकिन युद्धोत्तर कालमें संसारका राजनैतिक नक्शा भी तेजीसे बदला है। हिन्दुस्तान, पाकिस्तान, ब्रह्मदेश, सिलोन ये राष्ट्र स्वतन्त्र हो गये। चीन भी स्वतन्त्र गणराज्य बन गया। जैसे गावमें दो अखाड़े हों और वे आपसमें लड़े, वैसे यहाँ दृश्य आंतर्राष्ट्रीय अखाड़ोंमें दिखायी देने लगा है। सोवियत रूस और उसके सिद्धान्तोंको माननेवाले राष्ट्र अंक गुटके रूपमें बरतने लगे। अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रान्स तथा उसकी सलाहसे चलनेवाले राष्ट्रोंका दूसरा गुट बन गया। जैसे म्युनिसिपालिटीमें दलबन्दीसे प्रेरित होकर सदस्य मत देने हैं, ऐसा ही कुछ यहाँ भी होने लगा। किसी प्रश्नपर उसके गुण-दोषोंको देखकर मत देनेकी बात केवल अपवाद सी बन गयी है। यह कहनेके लिये किसी भविष्य-वक्ताकी जरूरत नहीं कि राष्ट्र-संघ यदि निर्बल हो गया तो संसारके सामने प्रलय मुँह बाँधे खड़ा है। इस परिस्थितिमें राष्ट्रसंघमें भारतने जो करतवगारी की है, वह बहुत अच्छी, निस्वार्थ और निस्पर्ही है। महा-भारतमें अंक कथन है—‘अध्वंवाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।’ इस व्यास वचनके अनुसार भारत लगातार यह कहते जा रहा है कि हर बातका निपटारा विचार-विनिमयसे, शान्ति-समझौतेसे किया जाना चाहिये। भारतकी यह नीति उसके संविधान एवं उसकी परम्पराके अनुरूप है। दुनिया आज यह जानती है कि कोरिया, व्हीअटनाम तथा सुवेजकी समस्याको सुलझानेमें भारतने आगे बढ़कर हिस्सा लिया, रास्ता दिखाया और इस-लिये युद्ध टल गया। भारतने आगे बढ़कर हिस्सा लिया, असीलिये अंडो-नेशिया स्वतन्त्र हुआ। इसके लिये वह राष्ट्र हमारे प्रति कृतज्ञ है। मध्यपूर्व

में आज जो परिस्थिति है उसका कारण भी यह है कि भारतने उसमें थोड़ी बहुत दिलचस्पी दिखायी। भारतने राष्ट्र-संघका उपयोग उसके मूल अदृश्योके अनुसार किया है। अन्तर आफ्रिकाके अरब राष्ट्रोंको, या यूँ कहिये सब पद-दलित राष्ट्रोंको भारतने हमेशा अपना समर्थन प्रदान किया। राहमे ठोकर लगनेपर जैसे मनुष्यके मुँहसे माँका अथवा भगवानका नाम निकलता है, ठीक वैसे ही आन्तराष्ट्रीय राजमार्गपर जब किसीको ठोकर लगती है अथवा किसी-पर कोयी आफत टूट पड़ती है, तब उसे अकदम भारतकी याद आती है। जैसे मगरद्वारा पकड़े जानेपर गजेन्द्रने विष्णुको पुकारा, ठीक वैसे ही आफतमें फंसा हुआ राष्ट्र नेहरूजीकी ओर दौड़ता है। आलोचकोंको इसका मर्म समझना चाहिये। भारतकी विदेश-नीति किसीके झगड़ोंमें पड़नेकी नहीं है, वह उससे अलग रहना चाहती है। इसी दृष्टिसे उसने किसी भी राष्ट्रसे करारनामा नहीं किया है। अलग रहनेकी तटस्थताकी नीति (non-alignment) का अर्थ संन्यस्त वृत्ति या बेपरवाही नहीं है। तटस्थताकी नीति याने अभावात्मक, कृति-शून्यताकी नीति नहीं। जब अहम सवाल उठ खड़े होते हैं, तब भारत उनपर अपने ख्याल राष्ट्रसंघमें स्पष्ट रूपसे व्यक्त करता है और तदनुसार मतदान भी करता है। उसके हाथसे कभी कभी गलती भी हो सकती है। लेकिन हमारी विदेश-नीतिके प्रमुख लक्षण है—स्पष्ट रूपसे अपने अभिप्रायको प्रकट करना, शान्तिपूर्वक समस्याके हलके लिये विधायक सुझाव उपस्थित करना और मौका पड़नेपर काम करनेकी जिम्मेदारी उठाना। किसीसे करारमें बँधकर राष्ट्र-संघके मूलभूत सिद्धान्तोंके खिलाफ चलनेका काम भारतने कभी नहीं किया। इसीलिअे विभिन्न सुरक्षा संधियोंका—नाटो, सीटो, मीडो आदिका उसने विरोध किया है। अिन संधियोंसे दुनियाके दो गुटोंका अन्तर्विरोध कम नहीं हुआ और शान्ति कब गायब हो जायेगी इसकी दुश्चिन्ता ज्यों की त्यों बनी हुई है। न जाने कब अेकाअेक आक्रमण हो जाये—अिस भयसे प्रत्येक राष्ट्र अपने शस्त्रास्त्रोंमें बेगुमार बढ़ती करते जा रहा है। भारत तटस्थ है, लेकिन उसने अन्य किसी भी गुटमे शामिल न होनेवाले राष्ट्रोंसे मिलकर कोयी नया गुट नहीं बनाया है। उसकी शक्ति नैतिक शक्ति है। दुनियामे शान्ति बनी रहे, इसके लिये वह अत्यन्त आतुर है और उसका आचरण ही इसका प्रमाण है। यहाँ तक

मैंने भारतकी विदेश-नीतिका समर्थन किया है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि वह पूर्णतया निर्दोष है। लेकिन इस नीतिसे भारतके हितोंको बहुत बड़ा धक्का पहुँचा है यह कहना ठीक नहीं है। (गोवामें तथा काश्मीरमें आपने कौनसे दिअे जलाअे ?—अंक आवाज,) मेरे व्याकुल भाभी, थोड़ा शान्त हो। मैं प्रत्येक प्रश्न और प्रत्येक आक्षेपका जवाब दूंगा। दुनियाके बड़े राष्ट्र, हमारे देशके आसपासके राष्ट्र तथा हमारे अपने छोटे-छोटे पीडा देनेवाले फोड़ें—अिन सबकी मैं चर्चा करनेवाला हूँ। यहाँ तक तो मैंने वैदेशिक नीति-पर मोटे तौरपर विचार किया है, उसके मूलमें जो परम्परा, तत्व-प्रणाली और कार्य-पद्धति है उनका तथा उनकी मर्यादाओका विचार किया है।

साधारणतया दूसरोके झगड़ोमें नहीं पडना, अितर राष्ट्रोके अन्तर्गत वखेड़ोसे दूर रहना, लेकिन राष्ट्रसंघका सदस्य होनेके नाते जो नैतिक अथवा वैधानिक जिम्मेदारी आअे असे निभाना, झगड़ोंको निपटानेके लिअे प्रामाणिक मध्यस्थ (Honest broker) का काम करना, पद-दलित और पिछड़ी हुआी जनताका साथ देना, अपना अभिप्राय स्पष्ट रूपसे प्रकट करना तथा तदनुसार मतदान करना अथवा तटस्थ रहना, गुटबाजीसे दूर रहना लेकिन न्याय के रास्तेको नहीं छोड़ना—यह सब तलवारकी धारपर चलनेके समान कठिन कार्य है, रस्सीपरका नाच है। अससे पक्के मित्र नहीं मिल सकते और हमे भी नहीं मिले हैं—यह हमारा अपना अनुभव है। लेकिन साथ हीं कोअी भारतका कट्टर दुश्मन भी नहीं बना। (अंक आवाज—पाकिस्तान) यदि हम थोड़ा विवेक रखे और कुछ अधिक विचार करें तो हमारे लिअे पाकिस्तानको दुश्मन मानना अदूरदर्शिता होगी और अहितकर भी होगा। पड़ोसी चाहे मित्र न हो, पर वह दुश्मन भी न बने, असका रहस्य हमे समझ लेना चाहिअे। व्यक्तिकी बात हो या राष्ट्रीकी, बैरको बैरसे नहीं हटाया जा सकता; बैरका अिलाज है विवेक तथा युक्ति-युक्त व्यवहार। आज जो आवेश तथा अभिनिवेश है, वह परिस्थिति शेषके कारण पैदा हुआ है। सामान्य जनता शान्ति और मित्रतासे प्यार करती है। आजकी दुनिया विचारों तथा भावनाओंकी दृष्टिसे समग्र और सघटित है। जब तक राष्ट्रसंघका अस्तित्व है, तबतक आपसी व्यवहारके कुछ नियम रहेंगे। गांवमें पुलिस थाना है, लोगोको असका ख्याल रहता है और उनके व्यवहारपर असका असर

पड़ता है। लगभग ऐसा ही कुछ दुनियामे राष्ट्रोंके आपसी बर्तावके बारेमें हो रहा है। शान्ति सबको चाहिये, लेकिन अपनी अपनी अच्छानुसार। पर व्यक्तियोंकी तरह राष्ट्रोंका जीवन भी समझौतेके सहारे चलता रहता है, उसीसे उसे आकार प्राप्त होता है। इसीलिसे अपने मुख्य स्वार्थको तिलाजली न देते हुअे, सिद्धान्तोसे न हटते हुअे, भारत ११ वर्षोंसे आंतर्राष्ट्रीय दुनियामें प्रतिष्ठा पा रहा है।

अब मैं सबसे पहिले दुनियाके दो प्रमुख गुटोंके बारेमे बताऊंगा। सोवियत गुटसे भारतकी शत्रुता नहीं है। उसका समाज, उसकी अर्थ-व्यवस्था, राजनैतिक संगठन आदि कैसे रहें, यह उसका अपना सवाल है। किसीको उसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। पर साथ-साथ भारतकी यह भी अपेक्षा है कि सोवियत गुट दूसरोंके अन्दरूनी मामलोंमे हाथ न डाले। राष्ट्रसंघमें भारतने इसी विचार-धाराको प्रस्तुत किया है। साम्यवादी तत्वज्ञानमें जो अच्छी बातें हैं, भारतने उनका अंगीकार किया है। पाश्चात्य गुटके सम्बन्धमें भी उसकी यही नीति है। भारतने हमेशा माँग की है कि अपनिवेशोंको स्वतन्त्रता दी जाये। इन दोनों गुटोंमें आपसमे एक-दूसरेके प्रति द्वेष तथा संशयकी वृत्ति है। लेकिन भारतके मनमें किसीके प्रति ऐसा कुछ नहीं है। “संयमः सर्वं राष्ट्रेषु” यह हमारा महामन्त्र है। अमेरिका हमें मदद देता है, इसलिसे उसका पवप लेना चाहिये ऐसा भारतने कभी नहीं माना। वह अमेरिकाकी दोस्तीके मूल्यको जानता है। यही बात सोवियत रूसके बारेमे है। बुल्गानिन और कुश्चेव यहाँ आये; उन्हें ज्ञात हुआ कि भारतका ध्येय समाजवादी है, लेकिन तरीका जनतान्त्रिक है। उन्होंने प्रत्यक्ष देखा कि वैधानिक रस्तेसे समाजवादकी ओर प्रगति सम्भव है। भारतकी दोस्तीको वे अमूल्य मानते हैं। सारांश, अमेरिका, अंग्लैंड, रूस और चीनसे हमारे जो सम्बन्ध हैं, वे भारतके स्वार्थकी दृष्टिसे विचार-पूर्वक कायम किये गये हैं। भारत किसी ओर नहीं झुकता है। सीमापर जो चीन है उससे उसने पंचशीलके सिद्धान्तोंके अनुसार समझौता किया है। उसने सब देशोंसे व्यापारी और आर्थिक सम्बन्ध कायम किये हैं। चूँकि हमारा यह दृष्टिकोण है कि प्रत्येक राष्ट्र आधुनिक बने और उसपर जनताका वर्चस्व रहे, इसलिए हमने चीन-गणराज्यको मान्यता प्रदान की है और वह राष्ट्रसंघका सदस्य बने इसके लिसे भारतही सर्वाधिक कोशिश

कर रहा है। इसमें सिद्धान्त और व्यवहार दोनोंका मिलन है। भारत तिब्बत सम्बन्धी १९०४ की सन्धिका उत्तराधिकारी था, उस हैसियतसे उसने उसके सम्बन्धमें अपना व्यवहार निश्चित किया है। १९५४ में चीनके प्रधान-मन्त्री चौ-अन-लाओ भारत आये, तब तिब्बतपर भारतने चीनके अधिराज्यको मान लिया। लेकिन उसने यह अभिवचन ले लिया है कि तिब्बतकी स्वायत्तता बनी रहेगी। उसी समय पंचशीलका सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ। चीन और भारतके सम्बन्ध सुधरे, आपसमें आर्थिक-व्यवहार बढ़े। राष्ट्र-समूहके राष्ट्रोके साथ हमारे सम्बन्ध मित्रताके होनेपर भी पूर्णतया सन्तोषजनक नहीं है। दक्षिण अफ्रिकामें रहनेवाले भारतीयोंका प्रश्न अभी तक निपटा नहीं है। यह भी नहीं लगता कि वह शीघ्र निपट जायेगा। विदेशी राज्यमें जा बसनेके बाद उस राज्यके प्रति निष्ठा रखी जानी चाहिये, यह सीधी सी बात है। मूल राष्ट्र उस तरहसे जा बसनेवालोंकी तरफदारी अक मर्यादामें रहकर ही कर सकता है। आफ्रिकामें अथवा अन्य राज्योंमें रहनेवाले भारतीय भारतके नागरिक नहीं हैं। वे भारतसे वहाँ गये हैं (People of Indian origin); इसलिये या तो उन्हें वहाँके लोगोंमें मिल जाना चाहिये या भारत लौट आना चाहिये। इसके अलावा अन्य कोई मार्ग नहीं। ब्रह्मदेश, सीलोन तथा ब्रिटिश साम्राज्यके अन्य भूतपूर्व उपनिवेशोंमें लगभग ४० लाख भारतीय हैं। उन सबको भारत लौटाना सम्भव नहीं है। जो उपनिवेश स्वतन्त्र हो गये हैं, उन्हें स्वाभाविकतया अपने यहाँ परदेशी, और विशेषकर परिश्रमी तथा धनी 'परदेशी' नहीं चाहिये। भारतमें भी यही वृत्ति दृष्टिगोचर होती है। हमारी लगातार यह माँग रही है कि भारतमें विदेशी व्यापारी न रहें, विदेशी कंपनियाँ न हों; जो रहें उनमें भारतीय कर्मचारी रखे जायें। सब देशोंमें यही भावना रहती है। इसलिये परदेशमें बसे हुए भारतीयोंके बारेमें सोचते समय हमें विवेक रखना चाहिये। उन राज्योंके नागरिक होनेपर भी नम्लकी दृष्टिसे वे भारतीय हैं सिर्फ इसीलिये यदि उनपर अन्याय किया जाता हो तो उसका निवारण राष्ट्रसंघके द्वारा ही करवाया जाना चाहिये; और यही भारतकी नीति है। दक्षिण आफ्रिकाके खिलाफ कड़ी नीतिका मतलब है उसका व्यापारिक बहिष्कार। लेकिन उस देशके साथ हमारा बहुत अधिक व्यापार नहीं है। उसपर आक्रमण करनेकी बात

तो कोअी सोचेगा नहीं। प्रत्येक राष्ट्रको यह निर्णय करनेका पूरा अधिकार रहता है कि वह अपने नागरिकोंके साथ कैसे बर्ताव करे। मानवी अधिकारोंकी दृष्टिसे राष्ट्रसंघ कुछ करनेका अधिकार रखता है, असलिये हमें राष्ट्र संघको ही कार्य-प्रवण बनाना चाहिये। राष्ट्रमें कौन आये, कौन रहे—यह निश्चित करनेका अधिकार राष्ट्रका रहता है, असलिये उस सम्बन्धमें हस्तक्षेप करना सम्भव नहीं।

अब भारतकी सीमापर जो राष्ट्र है, उनके सम्बन्धमें थोड़ा विचार करेंगे। अन्तरकी ओर तिब्बत और चीन है, जिनके बारेमें बता चुका हूँ। चीनको मान्यता देनेमें हमारा मुत्सद्दीपन था। दो हजार मीलकी सीमाको राजनैतिक दृष्टिसे अनिश्चित रखना खतरनाक था। असलिये जो व्यवस्था की गयी, वह ठीक थी। अब नेपाल रहा। स्वतन्त्रताके बाद उससे कर वसूल करनेके अधिकारको भारतने छोड़ दिया है। नेपाल पूरी तरहसे स्वतन्त्र है। कुछ विषयोंके बारेमें भारतको वहाँ अग्रधिकार है। परिवर्तनशील दुनियामें पुरानी बातोंपर जोर देनेसे काम नहीं चलता। भूतान और सिक्कमसे भी हमारे सम्बन्ध सधियोंसे निश्चित कर लिये गये हैं। सीमा-प्रदेशके ये प्रान्त भारतकी मित्रताके घेरेमें हैं। अन्हें आन्तरिक स्वायत्तता है। कुछ अंशोंमें भारतकी वहाँ सार्वभौम सत्ता है। आसाम सीमाका नागा प्रदेश भारतका अविभाज्य अंग है। असलिये उसकी चर्चा हम वैदेशिक नीतिमें नहीं कर सकते। उसके आगे ब्रह्मदेश है। भारत और ब्रह्मदेशके सम्बन्ध करारनामके अनुसार निश्चित किये हुये हैं। उससे हमें बहुत बड़ा कर्ज वसूल करना है। लेकिन मुख्य प्रश्न है, वहाँके भारतीयोंका। युद्धसे पहिले वहाँ २५ लाख भारतीय थे। तदनन्तर याने युद्ध समाप्त होते तक उनकी सख्या लगभग ५ लाख रह गयी। ब्रह्मदेशके स्वतन्त्र हो जानेके बाद यह सख्या घटती जा रही है। भारतीयोंके लिये वहाँकी जनताके मनमें प्रेम नहीं है। उनके विचारसे वे लौट जायें, तो अच्छा। लेकिन वहाँ उनके खिलाफ दक्षिण आफ्रिकाका सा बर्ताव नहीं किया जाता। बर्माके साथ हमारे राजनैतिक सम्बन्ध अच्छे हैं। भारतने यद्यपि तटस्थ (Non-committed) राष्ट्रोंका कोअी गुट नहीं बनाया है, फिर भी भारतकी नीतिका समर्थन करनेवाले अशियाई राष्ट्रोंमें ब्रह्मदेश भी अेक है। आर्थिक समझौतेसे ये सम्बन्ध अधिक मजबूत

वने हैं। सिलौनमे २० लाखसे ऊपर भारतीय हैं। वहाँकी जनसंख्याके अनुपातमें उनका प्रमाण महत्वपूर्ण है। वहाँकी राजनीतिको आकार दे सकने लायक उनकी संख्या है। असिलिअ वहाँकी समस्या ज्यादा विकट है। नेपाल या ब्रह्मदेशके बारेमे यह स्थिति नहीं है। सिलौनी जनताको यह लगता है कि प्रतिस्पर्धी भारतीय यहाँसे चले जाये, और असिलिअ उन्हें परदेशी अंश अनावश्यक करार दिया जा रहा है। भारतीय मजदूर उन्हें चाहिये, पर वे नहीं चाहते कि भारतीय कारागार, व्यापारी तथा व्यवसायी वहाँ रहें। नागरिकताके लिअ हजारों दरखास्ते दफ्तरोंमे दी गयी है, लेकिन १० प्रतिशतको भी नागरिकता नहीं मिल पायी। जब भारत स्वतन्त्र हुआ और गणतन्त्र बना तो उसने देखा कि ५० लाखसे ऊपर जो भारतीय परदेशोंमे हैं, उनका जीवन चिन्ताक्रान्त हो गया है, उनमे अस्थिरता आ गयी है तथा उनका भविष्य अन्धकारमय बन गया है। पाकिस्तानसे लाखों लोग आये। उनका जीवन जड़से अखड़े हुअे वृक्षोंके समान हो गया था। उनपर क्या क्या बीती, यह बताना बड़ा कठिन है। पीढ़ियोंसे जहाँ वे रहा करते थे, उन प्रदेशोंको उन्हें छोड़ देना पड़ा। वहाँके तीर्थ स्थान उनकी आँखोंसे ओझल हो गये। राकपसी अत्याचारोंका उन्हें मुकाबला करना पड़ा। वे सारी मालमत्ता छोड़कर चले आये। मानों उनका पुनर्जन्म ही हुआ हो। अपने साथ वे सिर्फ श्रद्धा और हिम्मत ही लाये अथवा केवल वे ही उनके साथ आ सकी। यह सब स्वतन्त्रताके मंगलमय प्रभातमे, युगयुगकी गुलामीके जब बंधन टूट रहे थे तब हुआ। असिलिअ स्वतन्त्रताका आनन्द फीका पड़ गया। कुछ ऐसा लगा जैसे कुटुम्बमे अक ही समय जन्म और मरण दोनों हो रहे हों।

पाकिस्तानको छोड़कर अफ़्ग़ानी, पूर्वी, दक्षिणी तथा पश्चिमी सीमाके अन्य देशोंके बारेमें तथा उनसे भारतके सम्बन्धके विषयमें मैंने अपने विचार प्रकट किये। अब पूर्वी और पश्चिमी सीमापर फैले पाकिस्तानके बारेमे विचार करेंगे। विभाजन क्यों हुआ? क्या वह अनिवार्य था? गांधीजी की जिच्छाको नेताओंने क्यों नहीं माना? जब इतिहास पूरा लिखा जायेगा तब इन प्रश्नोंके उत्तर स्पष्ट होंगे। व्यक्तिशः मुझे ऐसा लगा, और यह लगना निराधार नहीं था, कि भारतमें तीन प्रादेशिक राज्य तथा मर्यादित अधिकारोंवाले अक केन्द्रीय राज्यकी बातको मान लेनेपर परिस्थिति यह होती कि पूर्व और पश्चिमके

प्रादेशिक राज्य पूरी तरहसे हिन्दुओंके विरुद्ध रहते तथा मध्यवर्ती राज्यमें हिन्दू-मुसलमान समस्या ज्योंकी त्यों बनी रहती। तब भारतमें कोई भी प्रगतिशील काम करना सम्भव न होता। ऐसी परिस्थितिमें अंग्रेजी सत्ता तथा साम्प्रदायिक राजनीतिको खतम करनेका एक मात्र तथा अनिवार्य अपाया देशका विभाजन ही था। जिन्नाकी अच्छा यह नहीं थी कि पाकिस्तान बने ही। वे सोचते थे कि गाँधीजी विभाजनके लिये प्राणोंकी बाजी लगा देंगे और तब हिन्दु इस बातको मान लेंगे कि हिन्दुओं तथा मुसलमानोंमें तुल्यता (Parity) बनाये रखनेके लिये प्रत्येकको ४० प्रतिशत और बचे हुए अल्पसंख्यकोंको २० प्रतिशत प्रतिनिधित्व दिया जाये। उनकी कल्पना थी कि इस प्रकार पूरे भारतपर मुसलमानोंका राज्य हो जायेगा। सरदारने यह पहचानकर कदम उठाये और आज हिन्दुस्तान स्वतन्त्र है तथा समृद्धि और प्रगतिकी ओर तेजीसे बढ़ रहा है। इस परिस्थितिमें भारतकी नीति घड़ी गयी है। अब फिरसे एक होनका सवाल उठता ही नहीं। ऐसा सोचना भी अनुचित है। पंडितजीने इसे कभी बार स्पष्ट किया है। विभाजनके समय अनेकोंने इस प्रकारकी आलोचना की थी। विभाजन खतम करनेकी प्रतिज्ञाओं की गयी। महाराष्ट्रमें तो विभाजनके बहाने कांग्रेसको मिटा डालनेके प्रयत्न हुए। मैं नाम नहीं लूँगा। जो लोग आज महाराष्ट्रके ज्वलन्त प्रश्नोंपर जीभ या कलमको बिना आराम दिअे लगातार बोल और लिख रहे हैं, वे ही लोग तब कांग्रेसके खिलाफ रंगमंचपर थे। लेकिन चुनाव खतम होते ही वे भी ठंडे हो गये। ध्येय सिद्धिके लिये सतत शान्ति और विवेकसे परिश्रम करना पड़ता है, अक्बरशह हड्डियोंको सुखाना पड़ता है; जीतमें बावले हुए बिना, हारमें डगमगाये बिना, निश्चयपूर्वक कदम बढ़ाने पड़ने हैं। ऐसे कुछ लोग हमारा विरोध करनेवालोंमें भी हैं। लेकिन उनमें आतिशबाज, तमाशगीर और राजनीतिको एक दौड़ या स्पर्धा समझ कर उसमें हिस्सा लेनेवाले लोग ही अधिक हैं। राजनीति प्रवृत्ति है, व्यवसाय है; वह नीति भी हो सकती है। लेकिन मेरी मान्यता है कि वह एक व्रत है और उसे एक बार ग्रहण कर लेनेके बाद जन्मभर निभाना चाहिये। अग्निहोत्रको ग्रहण मत करो, एक बार ग्रहण करनेके बाद उसे छोड़ा नहीं जा सकता। कहनेका मतलब यह कि देशने विभाजनको पूरी तरहसे सोच विचार कर स्वीकार किया है। भाभी-भाभी अलग हो गये, इसका यह

मतलब नहीं कि वे आपसमें दुश्मन ही हो गये। फिर भी विभाजनके समय और बादमें जो कुछ हुआ वह दुखदायक है। इसीलिए भारत और पाकिस्तानके सम्बन्ध खराब हो गये हैं। हमारे सामने निर्वासितोंका तथा अनुकी चल-अचल सम्पत्तिका प्रश्न बना ही हुआ है। अभी तक शरणार्थी आ रहे हैं। इसलिये ये सम्बन्ध ठीक नहीं हो पाये हैं। समझौतेसे तथा बार-बार विचार-विनिमय करके सम्पत्ति-सम्बन्धी कहीं प्रश्नोंको हल कर लिया गया है। फिर भी दो राष्ट्रोंके बीचमे जैसे अच्छे सम्बन्ध होने चाहिये, वैसे नहीं है। दोनों देशोंमें ऐसे दल और व्यक्ति हैं, जो अपनी जनताको अके दूसरेके प्रति कषुब्ध कर, उनके गुस्सेकी आगपर राजनीतिकी रोटी सकते हैं। दुनियाका यह अनुभव है कि जिस राजनीतिका आधार द्वेष है, उसका परिणाम अन्तमें घातक होता है। यही सोचकर इन दोनों राष्ट्रोंमें पिछले दस सालोंमें व्यापार, अर्थ एवं मुद्राके सम्बन्धमे कहीं करार हुआ है। उनसे कुछको पाकिस्तानने तोड़ा है। आलोचक कहते हैं कि उनके साथ कड़ाई बरतनी चाहिये। कड़ाईका अर्थ है, लड़ाई; और वह भी दोनों सीमाओंपर। बाकीके राष्ट्र यदि देखते ही रहें और हस्तक्षेप न करें तो युद्धका क्या परिणाम होगा यह बतानेकी जरूरत नहीं। जो हालत जरासंधकी हुआ, वही पाकिस्तानकी होगी। लेकिन दुनियाकी आजकी राजनीति, उसकी वर्तमान गुटबंदी तथा राष्ट्रसंघ आदिको ध्यानमें रखकर यदि हम सोचें, तो स्पष्ट दिखायी देगा कि यह लड़ाई सिर्फ दोनों ही तक सीमित नहीं रहेगी। इससे जागतिक महायुद्ध भी छिड़ सकता है, और यदि ऐसा हुआ तो चाहे विजय किसीकी हो, राष्ट्रोंका नाश हो जायेगा। पाकिस्तानके पीछे आज अके शक्ति-गुट है। भारतके पीछे कोई गुट नहीं है। लेकिन यदि लड़ाई छिड़ गयी तो दूसरा गुट हमें मदद देगा, इस तरहकी घोषणा तथा गर्जना बीच-बीचमे सुनायी देती है। इसलिये यह अपरिहार्य है कि ऐसे विवाद राष्ट्रसंघकी ही मार्फत निपटाये जाये। भारतने यह कोशिश की और करता रहेगा कि दोनों राष्ट्र युद्ध न करनेका करारनामा अथवा इस प्रकारकी संयुक्त घोषणा करें। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि भारत चुप बैठा है। उसके पास सुरक्षाके लिये आवश्यक सेना है। अहिंसाका सिद्धान्त ऐसे मौकोंपर बाधक नहीं होगा। भारतने काश्मीरके मामलेमे यह बात सिद्ध

कर दी है। भारत चाहता है कि जहाँ तक बने वह शान्तिसे काम करे, पंचशीलका आचरण करे। बाडुंग परिषदमे भारतने पंचशीलके सिद्धान्तको स्वीकृति प्रदान की थी। उसमे पाकिस्तान भी शामिल था। भारतको राष्ट्रसंघका थोड़ा बुरा अनुभव हुआ है, लेकिन स्वयं राष्ट्रसंघमे भारत अंक शक्ति बन गया है। लंदन, मास्को, वाशिंगटनके समान नयी दिल्ली भी महत्वपूर्ण बन गयी है। इसलिये भारतको बिना प्रबुद्ध हुए व्यवहार करना चाहिये। पाकिस्तानकी जनता अपने यहाँ की परिस्थितिसे तंग आ गयी है। अंक न अंक दिन वहाँ विस्फोट होगा और कुछ नया पुराना होकर रहेगा। लेकिन इस बातपर भारतकी नीति आधारित नहीं है। पाकिस्तानसे युद्ध न करने की नीति डरके कारण नहीं बनी है, परन्तु उसका आधार सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों है। पुराने घावोंपर जो पपड़ी जम गयी है, उसे कुरेदना दोनोंके लिये अिष्ट नहीं। नयी दुनियामें व्यापक दृष्टिकोणसे तथा जागतिक जनमतपर नजर रखकर ही चलना चाहिये। संसारकी राजनीतिमे पंचशीलको आज महत्व प्राप्त हो गया है। हर राष्ट्र दूसरे राष्ट्रोंकी प्रादेशिक सीमाओंका आदर करे, कोयी किसी पर आक्रमण न करे, आदि तत्व सबको मान्य रखने चाहिये। तभी दुनिया चल सकेगी। दूसरे राष्ट्रके अंदरूनी कारोबारमें हस्तक्षेप न करनेके सिद्धान्तकी अपयुक्तता भी स्पष्ट है। इस बातको भी सब महसूस करने लगे है कि सब राष्ट्र अंक समान है, अन्के आदर्श अलग-अलग होनेपर भी सबको आपसमे सहअस्तित्वका सिद्धान्त मानकर चलना चाहिये। कोयी भी शान्तिके वातावरणमे खलल न पैदा करे, कारण कहीं भी यदि गड़बड़ी होगी तो सारा संसार उसकी लपेटमे आ जायेगा। इसलिये पाकिस्तान और भारत दोनोंपर बड़ी जिम्मेदारी है। यह ठीक है कि कुछ हद तक कड़ाई दिखानी चाहिये, लेकिन इस कड़ाईकी सीमाका ख्याल बराबर बना रहे। जब तक भारतपर सीधा हमला न हो, भारत लड़ाईकी बात नहीं सोचेगा। लेकिन यदि उसकी स्वतन्त्रतापर आक्रमण हुआ, तो वह किसी भी बातको अुठा नहीं रखेगा। संक्षेपमे यह भारतकी नीति है। देश यदि समृद्ध रहा, तो लड़ाईमें वह अधिक सबल सिद्ध होता है। इसलिये भारतका अपना ध्यान आर्थिक अुन्नतिकी ओर है। यही ठीक है कि हाथी अपनी चाल चले और जो भूँकते है अुन्हें भूँकने दे।

पाकिस्तान और भारतके बीच जो छोटे-मोटे प्रश्न हैं, उनको छोड़ देनेपर भी नहरोंका पानी तथा काश्मीर य दो बड़े सवाल हैं। पजाबमे सिन्धु, झेलम, चिनाब, रावी, सतलज तथा व्यास महत्वपूर्ण नदियाँ हैं। ये सब हिमालयसे निकलती हैं और भारतमे आती हैं। सिन्धु और झेलम काश्मीरसे पजाबमे आती हैं। चिनाब, रावी, व्यास और सतलज नदियाँ सीधी हिमालयके शिवालक पहाड़से दक्षिणकी ओर बहते हुए वर्तमान भारतमे प्रवेश करती हैं। उनमेसे चिनाब, रावी भारतमे कुछ मील बहकर पाकिस्तानमे चली जाती हैं। व्यास हरिकाके पास सतलजसे मिलती है और सतलज फिरोजपुरके बाद पाकिस्तानमे प्रवेश करती है। उसके बाद उसमे रावी और चिनाब मिलती है। वहीं सतलज आगे जाकर सिन्धुसे अंक हो जाती है। जैसे मणिबन्ध (कलाशी) में पाँचों अंगुलियाँ अिकट्ठी हो जाती हैं, ठीक वैसे ही यहाँ होता है। विभाजनमें रेडक्लाफ निर्णयके अनुसार प्रदेश बाँट दिये गये थे। लेकिन पाकिस्तानका कहना है कि भारतमे बहनेवाली नदियोंका पानी परपरानुसार पाकिस्तानको मिले। भारतका कहना है कि बँटवारेके बाद जो करार हुआ, उसके अनुसार भारतकी नदियोंके पानीपर भारतका अधिकार है, और उसने सूचित किया है कि सन् १९४८ के मार्चमे इस पानीको वह रोक देगा। समझौतेकी चर्चाके लिये दोनों राष्ट्रोंके प्रतिनिधि अिकट्ठे बैठे। मन्त्रीकी हैसियतसे मैं उस परिषदका अध्यक्ष था। ३ मर्जी ४८ को जो करारनामा हुआ, उसके अनुसार भारत क्रमशः बढ़ते हुए प्रमाणमे इन नदियोंका पानी अपने लिये रखेगा; बीचके समयमे पाकिस्तान, सिन्धु, झेलम, चिनाबका पानी रावीमे ले आये और अपनी जल पूर्तिकी व्यवस्था कर ले। इस समझौतेकी मियाद साधारणतया पाँच सालकी निश्चित हुई। यह समझौता हुआ, लेकिन बादमे पाकिस्तानने उसे माननेसे अिन्कार कर दिया। इस विवादसे आन्तर्राष्ट्रीय शान्तिको खतरा उत्पन्न हो सकता है, इसलिये आंतर्राष्ट्रीय बैंकने बीच-बचाव करना शुरू किया। बैंककी यह सूचना है कि पाकिस्तानकी नदियोंका जो ३० प्रतिशत पानी समुद्रमे व्यर्थ जाता है, उसे नहरोंद्वारा तथा बाँध बनाकर रावीमे लाया जाये और उसमे जो खर्च लगगा उसका कुछ हिस्सा भागत पाकिस्तानको दे। इस सूचनापर सोच-विचार चल रहा है। इस विवादमे आन्तर्राष्ट्रीय कानूनके कुछ सवाल आ खड़े हुए हैं।

विभाजनके अनुसार यह निश्चित हुआ था कि नदियोंके मुख्यबाँध (Headworks) जिस देशमें है, उस देशको उनका पानी मिलेगा। लेकिन पाकिस्तान असे माननेको तैयार नहीं है। पाकिस्तानका कहना है कि आंतर्राष्ट्रीय कानूनके अनुसार अपभोगसे जो पानीके अधिकार प्राप्त होते हैं, वे उसे मिलने चाहिये। हमारा कहना है कि ये अपभोगसे प्राप्त अधिकार करारनामसे नष्ट हो गया है। जागतिक बैंकका कहना है कि पानी जितना पहिले मिलता था, उतना मिलता रहे; फिर वह कहीसे भी क्यों न मिले। उसके लिये लगभग ३०० करोड़ रुपया खर्च होगा। लेकिन उसके बाद जो पानी भारतके उपयोगमें आयेगा, उसकी आमदनी २०० करोड़ रुपये सालाना होगी; इसलिये भारतको थोड़ा खर्च देना चाहिये। यह बैंकका दृष्टिकोण है। भारतका कहना है कि राजस्थानको सतलजके सिवा और कहीसे पानी नहीं मिल सकता; इसलिये वह उसका पानी नहीं देगा। विभाजनके पहिले जो सिचाईकी जमीन थी, वह ७८ प्रतिशत पाकिस्तानमें चली गयी है। दिल्लीके पासके हरियाना क्षेत्रको भी पानी सतलजका ही मिल सकता है। पानीका सवाल अनाजके सवालसे जुड़ा हुआ है, इसलिये भारतकी नीति है—अधिकार न छोड़ते हुए, झगड़ा न करते हुए, जो संभव हो किया जाये। चूँकि यह सवाल फौरन हल नहीं हो सकता, इसलिये भारत बैसा नहीं कर पा रहा है। उसमें ढीलाही हो रही है, यह बात बराबर है। लेकिन जब तक बैंक बीच बचाव कर रही है, तब तक अन्तिम अस्त्रका उपयोग नहीं करना चाहिये—अस बातको सब कोही मानेंगे। यह पंच भारतके लिये उपयोगी सिद्ध हुआ है। ऐसा कहते हैं कि पंजाबके बड़े-बड़े मुसलमान जमींदार विभाजनके विरुद्ध थे। कारण यदि हिन्दुस्थान पांचों नदियोंके पानीका बांध बनाकर रोक दे, तो धूल ही बचेगी, और पाकिस्तानके बदलेमें तब उनके पल्ले खाक ही पड़ेगी। उनका यह डर दूर करनेके लिये जिन्नाने कहा था कि वह काश्मीरपर आक्रमण कर यह सब असम्भव बना देंगे। काश्मीरपर जो आक्रमण हुआ उसके पीछे यही रहस्य है। ऐसा कहते हैं कि जिन्नाके अस कामसे जमींदारोंका समाधान हो गया था। उस समय समाचार-पत्रोंमें जो कुछ आया करता था, उससे ऐसा लगता है कि यह बात सच है।

असपरसे यह दिखायी देता है कि कश्मीर अस दृष्टिसे भी पाकिस्तानके लिअे महत्वपूर्ण था। बँटवारेके समय देशी राज्योको ब्रिटिशोंने स्वतन्त्र बना दिया था। अुनसे जो सन्धि-समझौते हुअे थे वे और अुनकी सुरक्षाके आश्वासन, सब रद्द हो गअे थे। जिसको जैसा जँचे वैसा करनेके लिअे रियासते आजाद हो गयी थी। लेकिन अुन्हे सलाह दी गयी थी कि वे भौगोलिक दृष्टिसे जिस राज्यमे हों, अुसमे विलीन होकर अुससे अपना सम्बन्ध कायम कर ले। भारतमे जूनागढ़ और हैदराबादको छोड़कर बाकी सब रियासतोंने वैसा ही किया। जूनागढ़के अधिकारियोंके निमन्त्रणपर भारतीय फौजन वहाँ जाकर कब्जा कर लिया। यथा समय वह राज्य भारतके सौराष्ट्र राज्यमे विलीन हो गया। हैदराबादमे पुलिस कार्यवाही करनी पड़ी और अब हैदराबादके तीन टुकड़ेकर अुसे तीनों राज्योमे बाँट दिया है। लेकिन पुलिस कार्यवाहीसे पहिले हैदराबादका प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय बननेका खतरा अुपस्थित हो गया था। कश्मीर किसी अंक राज्यमे नही था। वह पाकिस्तानके अुत्तरमे तथा भारतके भी अुत्तरमे था। लेकिन माअुंटबेठनकी सलाह थी कि वह पाकिस्तानमे जाअे। भारतने स्पष्ट कर दिया था कि कश्मीर जैसा जँचे वैसा करे। अितना ही नही, सरदारने तो सूचना दे दी थी कि कश्मीर यदि पाकिस्तानमे मिलता है, तो अुसके अस कामको भारत शत्रुताका काम (Act of Enmity) नही मानेगा। फिर भी पाकिस्तानने सीमा प्रदेशके पठानों तथा अन्य कबीलेवालोको भड़काकर कश्मीरपर आक्रमण करवा दिया। श्रीनगरसे १२ मील दूर तक कबीलेवाले पहुँच गअे थे। राजाने भारत सरकारसे प्रार्थना की कि विलीनीकरणका करारनामा कर लिया जाअे। लेकिन भारतकी मान्यता थी कि राज्य जनताका है, असलिअे जब तक जनता न कहे, हस्तक्षेप करना अुचित नही होगा। कारण तब हैदराबादकी समस्या हमारे सामने थी। अकेले राजासे यदि समझौता कर लें, तो जूनागढ़की राजनीतिपर बुरा असर पड़ता। वहाँके नबाबने पाकिस्तानमे मिलनेकी घोषणा कर जूनागढ़ छोड़ दिया था। वही बात यदि निजाम करे, तो हैदराबादकी समस्या विकट हो जाअेगी। अस कारण भारतका यह कहना कि जनताकी मान्यता आवश्यक है, अुचित ही था। अुस समय कश्मीरमें जो प्रमुख संस्था थी अुसके नेता शंख अब्दुल्ला आदि जेलमे थे। राज्यने अुन्हें मुक्त किया। तब शंख साहेबने प्रार्थना की

और तभी विलीनीकरणका समझौता हुआ। और उसके बाद सिर्फ ६ घंटों में विमानोंकी लाओन लगाकर भारतीय फौजे श्रीनगरमें अउतर गयी। श्रीनगर बच गया। जंगली कबालेवालोंको पीछे ढकेल दिया गया। चूँकि पाकिस्तान अउनकी मदद कर रहा था, असलिये वह अपराधी है—यह सोचकर भारतने पाकिस्तानके खिलाफ राष्ट्रसंघमें शिकायत पेश की। भारतने यह माँग रखी कि पाकिस्तानको आक्रमक करार दिया जाये। काश्मीरसे समझौता करते समय यह निश्चित हुआ था कि लुटेरों तथा विदेशियोंको बाहर निकाल देनेके बाद और शान्ति कायम हो जानेपर जनमत द्वारा विलीनीकरणको पक्का किया जायेगा। विलीनीकरणका दस्तावेज डर, दबाव अथवा लालचसे नहीं किया गया, यह ठीक ढगसे सिद्ध करनेके अुद्देश्यसे यह शर्त अुसमें डाली गयी थी। दो राष्ट्रोंके बीच करारनामा पहिले अउनकी सरकारें ही किया करती हैं और अुसके बाद अउनके अपने सविधानके अनुसार अउनपर जनताकी मान्यता प्राप्त की जाती है। असिं सिद्धान्तके अनुसार अुपर्युक्त योजना थी। अेक दृष्टिसे यह स्पष्ट हो गया कि भारत काश्मीरमें वहाँकी जनताके बुलानेपर गया है; और वहाँ बने रहनेका भारतका अधिकार तथा कर्तव्य काश्मीरी जनताकी अिच्छा पर ही अवलंबित है। राष्ट्रसंघकी सुरक्षा समितिमें अनेक बार असि बातपर चर्चा हो चुकी है। राष्ट्रसंघके अधिकारी १९४८ की मार्चमें काश्मीर पहुँचे। अगस्तमें कुछ और करार हुअे। युद्ध-विरामके बारेमें कुछ बातें निश्चित की गयीं। अेक जनवरी १९४९ को युद्ध-विराम हुआ। अस्थायी सीमा निश्चित हो गयी, और आज दस सालसे यही झमेला चल रहा है। वस्तुतः असि युद्ध-विराम रेखासे काश्मीरका अिलाका पाक-अधिकृत काश्मीर तथा भारतीय काश्मीरमें विभाजित हो गया है। काश्मीरने अपनी सविधान समिति नियुक्त की। भारतमें जो हिस्सा सम्मिलित हो गया, मिल गया था, अुसकी प्रगति हो रही है। लेकिन फिर भी समस्या कायम ही है। चूँकि भारत काश्मीरमें वहाँकी जनता और नेताओंके बुलानेपर गया, तथा चुनाव द्वारा बनी हुयी संविधान समिति द्वारा स्वीकृत सविधानके अनुसार वह आज वहाँ है; असलिये असलमें सार्वमत (Plebiscite) अनावश्यक हो गया है। लेकिन भारतका वचन है कि वह लिया जायेगा। पाकिस्तान अपनी फौजें लौटा ले, अुसके बाद ही सार्वमत लिया जाये—यह भारतका कहना है।

लेकिन पाकिस्तानको अपना कब्जा नहीं छोड़ना है। उसने अमरिकासे फौजी सहायता ली और वह बगदाद संधिमे शामिल हो गया है। इससे समस्याका पूरा सन्दर्भ ही बदल गया है और यह बात स्पष्ट हो गयी कि अब जनमत-संग्रह संभव नहीं है। कारण काश्मीरका सवाल आंतर्राष्ट्रीय राजनीतिका हिस्सा बन गया है। घरमें आक्रमक घुस आया है, इसलिये थानेदारके पास शिकायत की; थानेदार बीचमे पड़ा और यह कहने लगा—“अरे भायी क्यों लड़ते हो? तुम दोनों यहाँ रह सकते हो न।” ठीक ऐसा ही हुआ है। आक्रमणके अपराधकी जाँच-पड़ताल तथा उसपर फैसला तो दर किनार रहा, राष्ट्रसंघने समझौतेकी हवा बनानी शुरू कर दी और अब उसी चर्चामे मूल प्रश्न बुरी तरहसे अलझ-पुलझ गया है। जब स्वयं थानेदार साहेब पड़ौसमे आकर रहने लगे, तो ऐसा लगा कि अद्यान सुरक्षित हो गया है। लेकिन खुद थानेदार ही अपने दोस्तोको प्रोत्साहित कर बगीचा लुटवानेकी कोशिश कर रहे हैं। आक्रमणका जो मुख्य सवाल था, उसे तरह-दे दे दी गयी है। पहिले उसपर चर्चा हो, भारतका यह आग्रह रहे—यह बात मैंने व्यक्तिगत रूपसे लोकसभामें जब जब इस प्रसंगकी चर्चा आयी, तब-तब जोर देकर कही है। लेकिन आज परिस्थिति जैसी कुछ बन गयी है उसीमेसे रास्ता निकालना पड़ेगा। सीमापर कुछ न कुछ घटनाएँ होती रहती हैं। राष्ट्रसंघके निरीक्षक वहाँ उपस्थित हैं। स्वयं काश्मीरमे और कभी बाते हो गयी हैं। शेख साहब आज जेलमे हैं। ऐसी हालतमें हमें युक्ति-पूर्वक व्यवहार करना चाहिये। सरकारने यह घोषणा की कि कश्मीरपर आक्रमण भारतपर आक्रमण माना जायेगा। कश्मीर भारतका अंग बन गया है। उसका संविधान थोड़ा अलग है, लेकिन आखिर वह भारतके अन्य प्रादेशिक राज्योंके स्वरूपानुसार हो जायेगा।

प्रश्न:—यदि वहाँ जनमत-संग्रह किया जाये तो क्या होगा?

उत्तर:—सिक्केको ऊपर अछाल दिया जाये तो वह चित गिरेगा या पट, कौन कह सकता है? लेकिन जब मैं वहाँ गया था, तब मैंने यहीं सवाल अके प्रतिष्ठित नागरिकसे किया था। उसने कहा था—‘रोजी कमाना है, तो हिन्दुस्तानके साथ और रोजा रखना हो तो पाकिस्तानके साथ।’ इसका अर्थ स्पष्ट है। भारतमें रहनेपर समृद्धि और पाकिस्तानमें भूखमरी मिलेगी।

लेकिन चुनावोंमें भावनाओं प्रबल सिद्ध होती है। वह स्थिति आज हम महाराष्ट्र में भी पाते हैं। यदि कश्मीरने सोच-विचारकर मत दिया तो ठीक, पर यदि वह कुरानके पीछे पागल हो गया तो उसका निर्णय भारतके विरुद्ध होगा, यह स्पष्ट है। पर संसारकी राजनीति, पाकिस्तानकी राजनीति और कश्मीरकी राजनीतिपर यदि हम साकल्यसे विचार करें तो प्रतीत होगा कि जो परिस्थिति विद्यमान है वही बनी रहेगी, और धीरे-धीरे वही बंध मान ली जायेगी। पाकिस्तानकी राजनीतिमें भावनाओं प्रज्वलित करनेके साधनके रूपमें कश्मीरके सवालका उपयोग किया जा रहा है। कश्मीरकी वेदीपर अदूर दर्शितापूर्ण राजनीतिने मुर्ज्जीकी बलि ले ली, इसपर भारतमें काफी हो-हल्ला भी मचा था।

अब भारत माताकी छोटी-छोटी फुंसियोंके बारेमें बताऊंगा। भारतमें फरासिसी और पोर्तुगीज उपनिवेश १५ वीं शताब्दीसे हैं। और युरोपमें जैसे-जैसे अंग्लैंड और फ्रान्सके तथा अंग्लैंड और पुर्तुगालके आपसी सम्बन्ध बदलते गये, वैसे वैसे अिन उपनिवेशोंका भी स्वरूप-परिवर्तन होता गया। १९ वीं सदीके प्रारम्भमें ही हिन्दुस्तानमें साम्राज्य स्थापनाके फरासिसी सपने टूटकर बिखर गये। सिर्फ पांडुचेरी, माही और चन्द्रनगर उनके पास बचे। १९ वीं सदीके प्रारम्भमें यहीं बात पोर्तुगीज दिव, दमन, गोआ और नगर हवेलीके बारेमें करारनामेके अनुसार हुई। १९४७ में भारतके स्वतन्त्र होते ही अिन उपनिवेशोंके लोगोंने आन्दोलन शुरू कर दिया। सच पूछा जाये तो ये उपनिवेश अंग्रेजोंकी मेहरबानीसे ही बचे हुए थे। अंग्रेजोंके जाते ही फ्रेंच उपनिवेशमें गड़बड़ी फैल गयी और फ्रांसने उन्हें भारतके अधिकारमें दे दिया। अिसे जब फ्रान्सकी पार्लियामेंट मान्यता दे देगी, तब उसे कानूनी स्वरूप प्राप्त हो जायेगा। लेकिन अिन उपनिवेशोंकी अब कोअी समस्या नहीं रही है। गोवा, दिव और दमनका प्रश्न आज भी ज्वलत है और चुनावोंके लिये अुसे और प्रबोधक बनाया जा रहा है। गोवाके जन-आन्दोलनका समर्थन करनेके लिये १९४६ में अधिरके लोहिया आदि कुछ नेता वहाँ गये थे। अुससे थोड़ी अशांति फैली, लेकिन शीघ्र ही वह ठंडी पड़ गयी। भारत सरकार अिस सम्बन्धमें अपनी विदेश नीतिकी मर्यादामें कोशिश कर रही थी। लेकिन चूँकि पुर्तगालमें सालाज़ारकी तानाशाही है, अिसलिये कोअी भी समझौता होना असम्भव हो गया

है। गोवा भारतका अंग है, वह उसमें सम्मिलित कर लिया जाये—यह न्याय-पूर्ण और अचित ही है। लेकिन यह बात कोअी भी मानेगा कि उसके लिए प्रयत्न वहाँकी जनताको ही करने चाहिये, और यही भारतका दृष्टिकोण है। १९४८ से १९५५ तक, भारतके किसी दलने इस तरफ विशेष ध्यान नहीं दिया। लेकिन १९५४ में गोवा-दिवसके निमित्त पूनामें एक सभा हुई और कअी भाषण हुए। उसमें मैंने कहा “यह आन्दोलन गोवावालों द्वारा चलाया जाना चाहिये। उसका स्वरूप सत्याग्रही रहना चाहिये। भारतका उसे नैतिक समर्थन रहेगा। सरकार आंतर्राष्ट्रीय संदर्भमें जो वाजिब प्रयत्न है, उन्हें करती रहेगी। किसीने सत्याग्रहमें हिस्सा नहीं लिया इसलिये वह डरपोक है अथवा उसका दल गोवाके विरुद्ध है, ऐसा नहीं माना जाना चाहिये। गोवा भले ही छोटा-सा हो, लेकिन उसकी समस्यामें आन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिसे कअी स्फोटक तत्व निहित है। वहाँ असाअी लगभग आधे हैं। सब दृष्टिसे सोचनेपर लगता है कि जब दुनियामें अपनिवेशवादकी समस्या हल होगी, तब उस सन्दर्भमें इस प्रश्नका निपटारा हो जायगा। काम बनेगा, लेकिन उसमें देर लगेगी।” मेरे न चाहनेपर भी मेरी भविष्य-वाणी सच साबित हो रही है। पर व्यक्ति और दल घोषणाएँ कर देते हैं और जनता उनपर अमल करनेकी माँग करने लगती है। तब जो मनको नहीं जचता है वह भी प्रतिष्ठाके लिए करना पड़ता है। १९५५ में कुछ लोग गोआमें गये। वहाँ उन्हें पकड़ लिया गया। कांग्रेसने तत्सम्बन्धी अपनी नीति घोषित की। १९५५ के अगस्तमें एक बड़ा सत्याग्रह हुआ। सरकारकी यह अच्छा थी कि वह न हो। सरकारकी ओरसे सूचित किया गया था कि सत्याग्रहका क्या परिणाम होगा, यह बताना कठिन है। जोगोवामें शिकंजेमें है, उन्हें तो सत्याग्रह करना ही नहीं चाहिये। गोवाकी जनता बहुत डरी हुई है, आदि-आदि। लेकिन हमारे यहाँकी राजनीतिमें पार्टीवाजी होनेके कारण सत्याग्रह हुआ। कुछ शहीद हुए, कुछ जेल भेज दिये गये और अन्तमें सत्याग्रह वापिस ले लिया गया। जैसे घनका गलत घाव नीचे औरण पर पड़ता है, वैसे ही इस असफलताके लिए सरकारकी आलोचना की गयी। कहा गया कि सरकारको फौजें भेज देनी थीं। सरकारने यह सोचा कि कानूनसे जो राज्य पराया है, उसमें यदि लाखों लोगोंको जाने दिया जाये तो अन्यत्र उसका क्या परिणाम होगा ?

लेकिन नेता हमेशा सोच-समझकर ही चलते हैं, असा तो नहीं है। १९५५ की अगस्तके बाद कोअी सत्याग्रह नहीं हुआ। गोआके लोग सताये जा रहे हैं। गोवा-सत्याग्रहका प्रयोग अब सिर्फ डंडेके रूपमें सरकार और काँग्रेसको पीटनेके लिये किया जा रहा है। यह प्रश्न या तो समझौतेमें हल होगा या लड़ाईसे। भारत सरकार डरपोक है, कायर है, आदि बातें खुलकर कहीं जा रही हैं। जनतान्त्रिक चीन तो बलवान और हिम्मतवाला है न? उसका मकॉय नामक छोटा-सा द्वीप, उसके देशसे भिड़ा हुआ, पोर्तुगीजोंके अधीन है। उसे जबरदस्ती ले लेनेका अपदेश उन्हें कोअी नहीं देना। चीनवाले उसे क्यों नहीं छीन लेते? यदि हम ठीकसे विचार करें तो हमारी समझमें, हिन्दुस्तान सरकार गोआपर चढ़ाई क्यों नहीं करती—यह बात आ जायेगी। युद्धसे इस प्रश्नको निपटाया जा सकता है। पर लड़ाई सिर्फ पुर्तगाल और भारतके बीचमें ही नहीं रहेगी। पुर्तगालने भी पिछले दस सालोंमें अनेक संधि-समझौते किये हैं। इसलिये कल कोअी भी सरकार आये, वह इस सवालको लड़ाईसे हल नहीं करेगी। चुनावके बाद गोवाके प्रति यह प्रेम उसी तरह धुंधला होने लगता है जैसे कि शादीके पहिले देखी हुई लड़कीके प्रति पैदा हुआ आकर्षण। आतर्राष्ट्रीय दुनियामे भारत आज अक शक्ति बन गया है। इसका कारण उसकी फौजी ताकत नहीं है, और आर्थिक समृद्धि भी नहीं। भारतका अपना अक नैतिक अधिष्ठान है। वह कुछ नैतिक मूल्योंको मानता है। इसीलिये गांवमें अपनी शालीनता और चरित्रके कारण जैसे कोअी रावजी काका गांववालोंके लिये आदरास्पद बन जाते हैं और पूरा गांव उनकी बात मानता है, ठीक यही बात भारतके लिये भी हो रही है। गोवा भारतको मिल जायेगा, लेकिन उसमें समय लगेगा। अकाड तांडव कर बड़े-बड़े प्रश्न हल नहीं होते। देशके अन्दर सरकार जबर-दस्तीसे अपनी बात मनवा सकती है, लेकिन दूसरे राज्योंसे व्यवहार करते समय बहुत सोच-विचार कर चलना पडता है। कषणभरके गुस्सेसे पूरे युगकी हानि न हो जाये, यह देखना जरूरी है। वैदेशिक नीति अक प्रकारकी कूटलिपि है; उसे सोच-विचारकर लिखना चाहिये। वह बच्चोंका खेल नहीं। अपनेको महादिग्गज कहनेवाले भी झाँसेमें आ जाते हैं और गलतियाँ कर बैठते हैं। भारत तो इस कषेत्रमें नया है। लेकिन फिर भी उसने अतने थोडे समयमें

जो काम किया है वह भूलाया नहीं जा सकता। हमारी वैदेशिक नीति युगकी दृष्टिसे, विश्व-हितको श्रेष्ठ मानकर, अस्मिता एवं गौरवकी मान-मर्यादाको संभालते हुअे आँकी गयी है। मैंने तो यहाँ सिर्फ उसकी थोड़ी झाँकी दिखायी है।



११.

जनतन्त्रके पथ-परहेज

वैद्यक शास्त्रमें, कम-से-कम आयर्वेदमें, पथ-परहेजोंपर बहुत जोर दिया गया है। उसमें औषधिका महत्व कम नहीं है, लेकिन वह कब ली जाये, कैसे ली जाये, किस अनुपानके साथ ली जाये, और जब वह ली जा रही हो तब क्या खाना चाहिये और क्या नहीं खाना चाहिये आदि बातोंका भी अतना ही महत्व है। पथ्योंका आयोजन औषधिका लाभ शत-प्रतिशत मिले अिसलिये किया जाता है। तत्व वे ही रहते हैं, पर परिस्थितिके अनुसार उनका उपयोग तर-तम भावसे किया जाना चाहिये। 'तत्व मान्य, पर तफसील अमान्य' की बात महाराष्ट्रमें सिक्केकी तरह चल रही है। लेकिन तफसील—विवरणसे ही तत्व निसृत होते रहता है, और तत्वमें ही तत्वका तफसील, विवरण या बाहरी नामरूप समाया रहता है। अिन दोनोंमें जो परस्पर सम्बन्ध है, उसे समझते हुए व्यवहार करना अिष्ट होता है। विचारमें अथवा आचरणमें अेकांगिता, हठधर्मिता हमेशा कल्याणप्रद होती है, अैसी भी बात नहीं। किसी भी रसायन

सेवनका युक्ति-पूर्वक अर्थात् सारासारका विचार करनेके बाद और आवश्यक एवं आनुषंगिक बातोंको ध्यानमें रखते हुए ही किया जा सकता है। वही बात राजनीतिमें भी करनी पड़ती है। जैसे 'युक्ति-युक्तम् रसायनम्' सच है, वैसे ही 'विवेकयुक्तम्च राजकारणम्' भी ठीक है; और जब जनतन्त्रका सिक्का आज दुनियामे अधिकृत रूपसे चलने लगा है, तब तो विवेकको और भी अधिक महत्व प्राप्त हो गया है। जैसे जनतन्त्रकी निश्चित रूपसे व्याख्या करना कठिन है, वैसे ही विवेक और सारासार बुद्धिकी भी व्याख्या कठिन है। कानूनमे 'योग्य' (Reasonable) शब्दका प्रयोग किया जाता है; लेकिन यह 'योग्य' क्या है, इसकी व्याख्या स्वयं 'योग्य' भी नहीं कर सकेगा। फिर भी बिना कुछ व्याख्या अथवा वर्णन के विचारकी राह स्पष्ट नहीं होती। परमेश्वरने वस्तुओंका निर्माण किया और मनुष्योंने नामोंका; इसीलिसे ज्ञानकी सृष्टि हुई। 'देवो रूपाणि चक्रे, वयम् नामानि कुर्मसि' — इस अुक्तिका यहीं रहस्य है। चीनके अेक श्रेष्ठ तत्त्ववेत्ता कनफ्युशियसका कहना है कि जब हम वस्तुओंका नाम लेते हैं तो ज्ञानका आरम्भ होता है। इसलिसे जनतन्त्र क्या है, इसके बारेमे हमें कुछ कहना अवश्य आना चाहिये; तब हमें उसका ज्ञान होगा। तत्त्वसंबंधी ज्ञान होनेके बाद ही उसे सफल बनानेके प्रयत्न तथा उस प्रयत्नमे पालन की जानेवाली मर्यादाओंके विषयमे कुछ कहा जा सकना संभव होगा। भारतने जनतन्त्रका स्वीकार किया है, और उसने उसका कुछ वर्ष अनुभव भी ले लिया है। हम जनतन्त्रकी चाहें जो व्याख्या करें, लेकिन उसके नागरिक उसका जैसा अनुभव करते हैं उसीपरसे उसके स्वरूप और स्वादका निर्णय होगा। जनतन्त्रका अेक यांत्रिक स्वरूप है, अर्थात् वे संस्थाओं जिनके द्वारा वह कार्यान्वित होता है; अुदाहरणार्थ विधान सभाओं, न्यायालय, कार्यपालिका, सरकार आदि जिनसे जनतन्त्रपर अमल किया जाता है। इन संस्थाओंके माध्यमसे जो कुछ काम होता है वह तथा उनके द्वारा जनताको जो कुछ दिया जाना चाहिये और जो कुछ मिलता है वह सब, जनतन्त्रका दूसरा स्वरूप है। जो सम्बन्ध शब्द और अर्थका है, वहीं सम्बन्ध संस्था और उसके कार्यका होता है। काव्य याने रचना और रस। उसी तरह जनतन्त्र याने उसका तन्त्र और मन्त्र। चम्मच भले ही सोनेकी हो, पर उससे दिया जानेवाला पदार्थ यदि विष है, तो सोनेकी चम्मचसे दिया जा रहा है सिर्फ

असिलिअं असे कोअी राजीखुशी नहीं ले लेगा। चम्मचके सुवर्णसे विषकी तीव्रता कम नहीं होती। असिलिअं हर जगह अनुभवका ही महत्व है। जैसी मनकी वृत्ति होती है, असीके अनुरूप अनुभवकी प्रतीति होती है; अंक ही घटनाके विषयमें दो मनुष्य अलग अलग अनुभव करते हैं। असिलिअं अनुभव के लिअं मनोवृत्तिका भी महत्व सिद्ध है। अधिक क्या कहें, अंक व्याख्याके अनुसार “जनतन्त्र जीवनकी ओर देखने और जीवन व्यतीत करनेकी अंक वृत्ति (a way of life)” ही है। मनका जैसा घड़न होता है, वैसेही कार्यका रूप भी अभ्रता है। संस्थाके नियम कुछ भी रहें, अुसके कामपर कार्यकर्ताओके मनका रंग जरूर असर करेगा। असिलिअं जनतन्त्रमें अधिक महत्व जनताके विचारोंका, अुनके मानसिक दृष्टिकोणका रहता है।

अुपर्युक्त विवेचनको ध्यानमें रखते हुअे भारतीय जनतन्त्रको सफल बनानेकी दृष्टिसे किन पथ्यों अेवं मर्यादाओंका पालन करना जरूरी है, असिपर हमें सोचना है। जनतन्त्रका विधिवत् प्रारम्भ हुअे छह-सात साल बीत गअे है। जनतन्त्रकी व्याख्या करना यद्यपि कठिन है, फिर भी अुसके लक्षणोंको बताया जा सकता है। संविधानकी रचना करनेवालोंने अपनी आँखोंके सामने कुछ आदर्श रखे थे और अुनके अनुरूप संविधानको गढ़ा था। जिन श्रेष्ठ व्यक्तियोंने अमरिकाका संविधान बनाया था, अुनके बारेमें लिंकनका कहना है: अुन्होंने स्वतन्त्र जनताके सामने अंक अुत्कृष्ट नमूना पेश किया है और यह व्यवस्था कर दी है कि सब अुसमें परिचित हो जाअे। वह नमूना अैसा है कि अुसके प्रति हमारे मनमें सदा आदर बसा करेगा, और वह (नमूना) बना रहे असके लिअे वह हमें प्रयत्नशील बनाता रहेगा। सफलता नहीं मिलनेपर भी वह वह हमें अुसके लिअे प्रयत्न करनेकी प्रेरणा देता रहेगा। सफलता प्राप्त करनेकी हम जैसे जैसे कोशिश करते हैं, वह नमूना अथवा आदर्श क्षितिजकी तरह आगे-आगे फैलता चला जाता है, अुसकी गहराई अधिकाधिक बढ़ती जाती है; और अस प्रक्रियामें जनताकी कीमत भी बढ़ती जाती है—”अिस तरह अमरीकी संविधानका वर्णन लिंकनने किया है। अमरीकी जनतन्त्रके अिन लक्षणोंको देखकर यह कहा जा सकता है कि ये लक्षण साधारण रूपसे सब जनतन्त्रोंको लागू होते हैं। आजकी दुनियामें जितने भी राज्य संविधान हैं,

अब सबको ब्रिटिश तथा अमरीकी राजनैतिक तत्व-ज्ञानसे प्रेरणा मिली है। अमरीकाकी स्वातन्त्र्य-घोषणामें वेफर्सनके ये शब्द हमारा ध्यान तुरन्त आकर्षित कर लेते हैं : “ भगवानने सब मनुष्योंको समान बनाया है। परमेश्वरने उन्हें कुछ ऐसे स्वयं-सिद्ध अधिकार दिये हैं, जो उनसे कभी भी नहीं छीने जा सकते। ” अतः अधिकारोंमें जीवनकी स्वतन्त्रताके और सुखके लिये प्रयत्न करनेके अधिकारोंका समावेश होता है। भाषण-स्वातन्त्र्य, लेखन-स्वातन्त्र्य, संच-स्वातन्त्र्य, अंक साथ बैठकर विचार करनेका स्वातन्त्र्य, धर्म-स्वातन्त्र्य, आदि नागरिकके जन्मसिद्ध अधिकार हैं। समाज अथवा राज्यको न जँचनेवाले विचार अथवा मत रखने और उनको प्रकट करनेका हरेकको अधिकार है। वैसेही प्रत्येक नागरिकको मतदानद्वारा वर्तमान सरकारको बदल देनेका भी अधिकार है। प्रत्येक अल्पसंख्यक समूहको अथवा समाजको कानूनकी दृष्टिमें समान माना जायेगा। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और समाजका हित तथा उस समूहके राजनैतिक अधिकारोंके बीच समन्वय कायम करनेकी समय-समयपर व्यवस्था रहेगी। यह भी व्यवस्था रहेगी कि सरकार किसी व्यक्तिकी तानाशाही न बन जाये अथवा राज्यकारोबारमें जोर-जबरदस्ती न चलाई जाये। सामान्यतया यह माना जाता है कि अनेक गुणों अथवा लक्षणोंसे युक्त समाज जनतान्त्रिक समाज तथा राज्य है, लेकिन ऐसा जनतान्त्रिक समाज अंक आज्ञा निकाल कर अथवा घोषणा पत्रोंके द्वारा तुरन्त नहीं बनाया जा सकता। सड़कपर बैठनेवाले रंगरेज विज्ञापन करते हैं कि पाँच मिनटमें कोई भी कपड़ा रंग दिया जायेगा, पर उनके रंग कपड़ेका रंग अतनी ही जल्दी पड़ जाता है या अड़ जाता है। इसलिये जनता-रूपी महावस्त्रपर जनतन्त्रका जो रंग चढ़ाना है, वह पक्का होना चाहिये; और अतिहासका कहना है कि यह काम तुरन्त नहीं किया जा सकता। भले ही संविधानकी अदुधोषणामें संविधानका वर्णन जनतन्त्रके रूपमें किया गया हो, लेकिन वर्णन कर देनेसे ही वस्तुस्थिति नहीं सर्जित जा सकती। सोनाबाजी नामकी स्त्रीके पैरमें कथीरका ही कड़ा हो, यह भी हो सकता है। नागरिकों और नेताओंके मन जनतन्त्रकी भावनासे परिपूर्ण होने चाहिये। जनतान्त्रिक मूल्योंपर श्रद्धा लोकशाहीका जीवन-रस है। यह श्रद्धा अन्तःकरणसे निसृत होनी चाहिये और सारा व्यवहार शिष्ट-सम्मत संयमकी मर्यादामें होना चाहिये।

जनता स्वतन्त्रताओं एवं जनतान्त्रिक अधिकारोंका उपभोग तभी कर पायेगी जब कि वह सबके लिये उपलब्ध हों। अनुकी रचना जनमत द्वारा की जानी चाहिये और जनमतके आधारपर ही अनुका उपभोग होना चाहिये। सत्ता प्रसरण-शील होती है। जैसे पानीमें तेलकी बूंद फैल जाती है, ठीक उसी प्रकार सत्ताका भी प्रसार होता है। यदि मनुष्य अंक क्षणके लिये भी अधिकार पदपर पहुँच जाता है, तो सत्ता उसका सिर फिरा देती है। इसलिये जनतन्त्रका सबसे बड़ा पथ्य है—सत्तापर अंकुश रखना। यह अकुश मौलिक अधिकारोंके लिये की गयी व्यवस्थाके रूपमें होता है। लोगोंके मनमें कहीं तरहके विचार उठते हैं। जब वे प्रकुब्ध हो जाते हैं, तो कानूनकी मर्यादाओंकी पर्वाह नहीं करते। इसके विपरीत, जनताकी स्वतन्त्रता छीन लेने, उन्हें कुचल डालनेका मोह अधिकारियों और सत्ताधीशोंके मनमें पैदा होते रहता है। इसलिये न्यायालय दोनोंको मर्यादामें रखनेकी व्यवस्था करते हैं। न्यायालय अपने अधिकारोंका दुरुपयोग न करें, इसकी देखभाल विधान-सभा किया करती है। सारांश, कार्यपालिका या प्रत्यक्ष राज्यका कारोबार चलानेवाली सत्ता, न्यायपालिका या न्याय करनेवाली सत्ता, और विधान विषयक सत्ता इन तीनोंका संतुलन रहे, इसकी व्यवस्था संविधान द्वारा की जानी चाहिये, तथा तदनुरूप परम्पराओंके निर्माणद्वारा वह संतुलन साधा जाना चाहिये। कार्यकारी एवं अन्य दो प्रकारकी सत्ताओंकी सहायतासे राज्यका कारोबार चलता है, और इसी तरह जनतन्त्रपर अमल किया जाता है। जनतन्त्र याने वह व्यवस्था जिसमें हर व्यक्तिका महत्व हो, और जिसमें प्रत्येक नागरिक यह देखे कि राज्य-यन्त्र ठीकसे काम कर रहा है, राज्य-व्यवहार कार्यक्षम और अमानदार है तथा उसकी नीति प्रगतिशील है। इन सब बातोंकी देखभाल करना नागरिककी जिम्मेदारी है। इसलिये यदि जनतन्त्रको ठीकसे चलाना है तो नागरिकोंको सतत सजग रहना चाहिये। शरीर अच्छा रहे इसलिये व्यायाम, औषधियाँ तथा रसायनका उपयोग किया जाता है। नागरिकोंका मन, अर्थात् व्यापक दृष्टिसे समाजका मन, सुदृढ़, सुविचारी, प्रगतिशील एवं चौकन्ना रहना चाहिये। मोटरमें प्रवासी यदि अँधे तो उन्हें माफ किया जा सकता है, लेकिन यदि ड्रायव्हर क्षणभर भी अँधेने लगे तो गाड़ी गड्ढेमें जा गिरेगी। राज्यके रथका वास्तविक सारथी तो जागृत

मतदाता ही है। मतदाता ही जनतन्त्रकी नींव है, जिसलिअे उसे ज्ञानवान होना चाहिये। विद्यमान समस्याओपर साधारण रूपसे सोच-विचारकर अपना स्पष्ट अभिप्राय दे सकने लायक ज्ञान तो उसमे होना चाहिये। मतका अर्थ है, मनन करनेके बाद व्यक्त किया हुआ अभिप्राय। जो मत गाँवके नेताके आदेशानुसार अथवा पत्नीके कहनेपर, अथवा अुम्मीदवार अपनी जाति और धर्मका है जिसलिअे, या डर, दबाव और लालचके कारण दिया जाता है, वह सच्चा मत नहीं होता। जिस तरहके मतदानके गर्भसे पैदा होनेवाला जनतन्त्र सच्चा और औरस जनतन्त्र नहीं होता। जिसलिअे जनतन्त्रकी सफलताके लिअे सरकार और नेताओका चाहिये कि वे मतदाताओको राजनीतिकी शिक्षा दे। आजके जमानेमे प्रचारके अनन्त साधन अेव प्रकार हैं। सभाओके द्वारा शिक्षाका बहुत बड़ा काम होता है। ये सभाअे और खासकर चुनाव-सभाअे शान्तिसे हो सके, जिसकी जिम्मेदारी जनता तथा सरकार दोनोंपर है। जितना महत्व भाषण-स्वातन्त्र्यका है, अुतना ही महत्व श्रवण-स्वातन्त्र्यका भी है। मतदाताओका सभी पक्षओका अभिप्राय समझ लेना चाहिये और जयतक अेक भी श्रोता भाषण सुननेके लिअे तैयार है, तब तक सभा चलनी चाहिये। सरकारको वैसा अित्तजाम करना चाहिये। वह भाषण सुननेके लिअे किसीको मजबूर नहीं कर सकती, लेकिन सभा तोड़ने-वालोको सभा-स्थलसे बाहर निकालनेकी जिम्मेदारीको भी नहीं ढाल सकती। जागृत जनमत जनतन्त्रका सच्चा पहरेदार है। जनतन्त्रमे समाचार-पत्र स्वतन्त्र होते हैं, अुन्हें राज्यकी सम्पत्तिका आधार-स्तम्भ माना जाता है। जनतन्त्रमे समाचार-पत्रओका स्वतन्त्रता होनी चाहिये और अुनपर जो मर्यादाअें लगायी जाअे, वे अुचित और न्यायपूर्ण हों। वस्तुस्थिति (Facts) का कथन अुनका अेक पवित्र कर्तव्य है। आलोचना या टीका करना अुनका अधिकार है। लेकिन आलोचना करते अुअे वस्तुस्थितिका विपर्यास करना अथवा अुसे विकृत रूपमे रखना जनतन्त्रके विरुद्ध नैतिक अपराध है। समाचार-पत्र अेक बहुत बड़ी सत्ता है, जिसके हाथमे समाचार-पत्र है, अुसे अुसका अुपयोग जिम्मेदारीसे तथा न्याय-बुद्धिसे करना चाहिये। समाचार-पत्र स्वतन्त्रताकी रक्षा हेतु अेक हथियार है, पर कभी-कभी वह स्वतन्त्रताका नाश करनेवाला अभिशाप भी बन जाता है। “ न तीर खैचो, न तलवार

निकालो, तोपोसे मुकाबला है तो अखबार निकालो।" ऐसी है समाचार-पत्रोंकी असीम शक्ति। असलिये जहाँ समाचार-पत्र निर्भीक, निस्पृह, और सत्य-निष्ठ होंगे, वही जनतन्त्र रहेगा। जिन समाचार-पत्रोंकी वाणी तथा कलमके स्वामी वर्गनिष्ठ लोग अब राजनैतिक सौदागर होते हैं, वे पत्र जनतन्त्रके प्राणोंको हरनेवाले यम साबित होते हैं।

जैसे नागरिकोंको अधिकार है कि वे स्वतन्त्रताओंका उपभोग करे, वैसे ही अनुपर यह जिम्मेदारी भी है कि वे अनुकी साध-सँभाल रखे और रक्षा करे। नागरिकोंके चुने हुअे प्रतिनिधियोंसे विधान-सभा अथवा पार्लियामेण्ट बनती है, असलिये पार्लियामेण्टका बनाया हुआ कानून अनुकी अपनी मान्यतासे बना हुआ, स्वीकृति प्राप्त कानून है। उस कानूनका पालन करना नागरिकोंका कर्तव्य है। जनतन्त्रको सफल बनानेके लिये, स्वतन्त्रताओंको सार्थक बनानेके लिये हर नागरिकको इस पथ्यका पालन करना चाहिये। जहाँ उसकी सदमद् विवेक-बुद्धिका सवाल आता है, श्रद्धाका प्रश्न अथ खड़ा होता है, वहाँ यदि वह व्यक्तिगत रूपसे उस कानूनको न माने, तो उसे कपमा किया जा सकता है। लेकिन तब उसे आज्ञाभंगके लिये दी जानेवाली सजाको धैर्य अथ द्वेष-रहित बुद्धि से स्वीकार करना चाहिये। कानूनके विरुद्ध सामुदायिक सत्याग्रहको प्रात्माहन देनेका अर्थ है, जिन तत्वोंपर राज्य खड़ा है और जिनके ठीकसे चलनेपर उसकी स्वतन्त्रताकी रक्षा होती है, अन्हीपर आघात करना। यह काम आत्मघातक है और देशके लिये नुकसान पहुँचानेवाला, अवैध और नीतिकी दृष्टिसे भी अनुचित है। असलिये कानूनका पालन किया जाना चाहिये। प्रत्येक नागरिकको यह अधिकार है कि उसके विचारसे जो होना चाहिये उसकी स्वीकृतिके लिये और जो न होना चाहिये उसे रक्वानेके लिये जनमत तैयार करे और कानून बनवा ले। प्रत्येक नागरिकको सरकारको बदल देनेका अधिकार है, लेकिन यह काम उसे मतोंके द्वारा करना है, बाहु-बलसे नहीं। नागरिकोंकी तरह अनुके द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि भी यदि कुछ पथ्योंका पालन करे, तो जनतन्त्र सफल हो सकता है। जनतन्त्रमें दल अनिवार्य है; अतना ही नहीं, वे आवश्यक भी हैं। साधारणतया उसमें स्वतन्त्र सदस्योंका कोई स्थान नहीं है। चूँकि स्वतन्त्र सदस्य बहुसंख्यक नहीं होते, असलिये वे बहुमत बनाकर अधिकारारूढ़ नहीं हो सकते और असलिये

अनुके ध्येय अथवा कार्यक्रमके अमलमे आनेकी कतअी गुंजाअिश नही रहती ।
 असके विपरीत यदि स्वतन्त्र प्रतिनिधि बहुत ज्यादा हों और किसी भी दलका
 ५१ प्रतिशत बहुमत न हो, तो ये महोदय व्यवस्थामे अस्थिरता पैदा कर
 देते हैं । राज्यको सिद्धान्तोके बदले सुविधाकी दृष्टिसे चलानेमे वे कारणीभूत
 होते हैं । मतदाताओको दलों द्वारा जो वचन दिअे गअे थं, अनुकी पूर्तिमे वे
 प्रायः बाधक बनते हैं । यह ठीक है कि केवल अपने पक्षका अधानुसरण
 कर, दलके प्रति निष्ठा कायम रखते हुअे, सत्य अथवा स्वतन्त्र विचारवादी
 दृष्टिकोणको प्रकट करना असम्भव नही है; लेकिन यह बात मुश्किल जरूर है ।
 और असलिये, किसी दलसे न बंधे हुअे, स्वतन्त्र विचारोवाले लोक-
 प्रतिनिधिकी आवश्यकताका प्रतिपादन भी गलत नही है । लेकिन अस बातकी
 भी मर्यादा होनी चाहिये । विधान सभाओके बाहर भी स्वतन्त्र विचारोंको
 प्रकट किया जा सकता है । अुसके लिअे विशेष संस्थाअे अथवा संगठन
 बनाअे जा सकते हैं । लेकिन कअी बार यह भी देखा गया है कि दलके प्रति
 निष्ठा रखनेवाला प्रतिनिधि दलका अनुशासन मानते हुअे भी यह बात कर
 सका है । प्रतिनिधि चुनावमे दलद्वारा खड़ा किया गया, दलका अुमीदवार
 होता है । चुनावमे अुसे दलका अनुशासन मानना चाहिये और दलके कार्यक्रमका
 समर्थन करना चाहिये । वह जो कुछ कहे या करे, वह सब साधारण रूपसे
 दलके अनुशासनमे रहकर ही करे । अुसे अितनी सावधानी बरतनी चाहिये
 कि अुसके कहनेसे अथवा बर्तावसे दलकी मुख्य योजना (Strategy) में
 अथवा युक्ति-प्रयुक्तियों (Tactics) मे कोअी अुलझन न पैदा हो
 अथवा जनमतमे कोअी अ्थान्ति न फैले । अस परहेजका अुसे ध्यान रखना
 चाहिये । लेकिन साथ ही, जिस जनताने तथा निर्वाचक-संघन अुसे निर्वाचित
 किया है अुसकी भावना तथा महत्वाकांक्षाको, अथवा किसी अेक प्रश्न विशेष-
 पर अुस जन समूहका जो निर्विवाद मत हो अुसको, योग्य स्थानपर अुसे
 व्यक्त करना चाहिये । यह योग्य स्थान दलके विधान-सभा पक्षकी
 बैठक, या दलके आम संगठन (Mass party) का अधिवेशन, अथवा
 पार्लियामेण्ट, कुछ भी हो सकता है । अिन स्थानोंपर जनताके मनका क्शोभ
 तथा अुसकी तीव्रता स्पष्ट रूपसे ही प्रकट की जानी चाहिये । असका यह अर्थ
 नही कि सदस्य गालियाँ दे । वह दलके नियमोके अनुसार प्रत्यक्ष मतदानके

समय तटस्थ रह सकता है। यदि वह यह महसूस करे कि प्रश्न उसकी अपनी श्रद्धाका है, तो वह पार्लमेण्टमें अपने दलके आदेशके विरुद्ध भी मतदान कर सकता है। लेकिन तब उसे दलके अनुशासन भंगकी सजा शान्त मनसे स्वीकार करनी चाहिये। मैं अपना ही अुदाहरण देता हूँ। संयुक्त महाराष्ट्रके सवालपर मैंने लोकसभामें अपना मत दलके विरुद्ध दिया। लेकिन साथ ही मैंने यह भी कहा कि यदि मुझे दल अनुशासन-भंगकी सजा देता है तो वह मुझे स्वीकार है, पर मैं स्वयं दलको नहीं छोड़ूंगा। दल और सदस्यके सम्बन्ध शुद्ध, स्पष्ट और द्वेष-रहित होने चाहिये। व्यक्तिसे दलकी प्रतिष्ठा बढ़ती है, लेकिन दलके कारण व्यक्तिकी भी तो प्रतिष्ठा बढ़ती है। गरज पड़नेपर काका बनाना और चुनाव मात्रके लिये दलको स्वीकार करना—दोनों अघोरी कृत्य हैं। 'काँग्रेसके बिना गाड़गील अंक गलीका वकील मात्र है'—अस कथनमें साहित्यके साथ-साथ सत्य भी है। मेरे कहनेका मतलब यह है कि जनता द्वारा चुने हुअे जनतन्त्रके सच्चे प्रतिनिधिपर अंक विशेष जिम्मेदारी रहती है। चुनावके पहिले वह केवल दलका अंक आदमी था, लेकिन चुनावके बाद तो वह सब मतदाताओका प्रतिनिधि बन जाता है। उसकी निष्ठा और नैतिक जिम्मेदारी कितनी और किस किसके प्रति कितनी रहनी चाहिये—यह अंक महत्वका तथा मनोरंजक प्रश्न है। चर्चिलका कहना है कि प्रतिनिधिको सर्व प्रथम देश-हितका ध्यान रखना चाहिये, उसके बाद निर्वाचित करनेवाले मतदाता सघका और अन्तमें दलका। इसमें मुझे अंक ही बात और जोड़नी है। उसे अपनी श्रद्धाका मान रखना चाहिये और उस श्रद्धाको अभिव्यक्त कर अपनी सदसद् विवेक बुद्धिके ऋणको चुकाना चाहिये। प्रतिनिधिपर तीन ऋण रहते हैं—अंक, अपनी सदसद्विवेक बुद्धिका, दूसरा दलका और तीसरा देशका। जब असा प्रसंग अपुस्थित हो जाअे कि दलके विरुद्ध मत दिअे बिना गत्यतर नही, तब दलके विरुद्ध मत देकर प्रतिनिधिको सदसद्विवेक-बुद्धिका पहिला ऋण चुकाना चाहिये। उसे अनुशासन-भंगकी सजा शिरोधार्य कर दलका ऋण चुकाना चाहिये और अंक बार कानून पास हो जानेके बाद जब तक वह अमलमें है तबतक उसका पालन कर देशके ऋणसे अुऋण होना चाहिये। शान्तिसे और वैध मार्गसे अिच्छित

परिवर्तन करवानेका मूलभूत अधिकार सबको है। अवैध तथा हिंसाका मार्ग ग्रहण करनेका अधिकार किसीको नहीं है। जनतन्त्रका धर्म अहिंसा और बहुमतके सिद्धान्तपर खड़ा हुआ है। जिसे ५१ प्रतिशत मानते हैं, उसे हम भी मानें; कारण, पंचोंके मुखसे परमेश्वर बोलता है और जो वे कहें वही अस समयके समाजके सुविचार (Current wisdom of community) का प्रतिनिधित्व करेगा। मत-परिवर्तनके द्वारा ५१ का ४९ और ४९ का ५१ करना जनतान्त्रिक मार्ग है। लेकिन ५१ मेसे ३ की गर्दन छाँटकर अपना बहुमत बना लेना जनतन्त्रकी दृष्टिसे अधोर पाप है। यदि ऐसा होने लगे तो गर्दनें छँटनी शुरू हो जायेंगी और तब जनतन्त्र नहीं रहेगा, समाज नहीं रहेगा। जिसकी लाठी, उसकी भैंस वाला जंगली कानून सब जगह हावी हो जायेगा। अतः जनता तथा प्रतिनिधियोंको बार-बार अकेल आकर उपस्थित प्रश्नोपर चर्चा करनी चाहिये। प्रतिनिधिको जनताकी तकलीफें समझ लेनी चाहिये और राजकाज कैसा चल रहा है यह उसे समझा देना चाहिये। लोक-जीवनसे उसे सनरस हो जाना चाहिये। इसका यह अर्थ नहीं कि वह अपने मतको अथवा अपनी श्रद्धाको तिलांजलि दे दे। वह उनका प्रतिनिधि है, मुनीम नहीं। मुनीम तो अतना ही कर सकता है जितना कि उसका मालिक उसे करनेको कहे। प्रतिनिधि, चुनकर आनेके बाद पूरे मतदाता संघका प्रतिनिधि बन जाता है। उस मतदाता संघमें कहीं प्रकारकी विचारधारा रखनेवाले व्यक्ति रहते हैं, इस बातका उसे ध्यान रखना चाहिये और इसलिये हर प्रश्नपर उसे सोचना विचारना चाहिये। जो योग्य, अचित और श्रेयस्कर जेंचे, वही बात वह कहे; लेकिन साथ ही लोगोंकी क्या अच्छा है, यह भी प्रकट करे।

चूँकि जनतन्त्र जनताका उसके प्रतिनिधियों द्वारा चलाया जानेवाला राज्य है, इसलिये प्रतिनिधिका क्या महत्व है इसकी मैंने चर्चा की। प्रतिनिधि कैसा होना चाहिये, इसके बारेमें हमारे सामने पुराने और नए कभी आदर्श हैं। अनेक ग्रन्थमें कहा गया है कि वह लोकहित-दक्ष, जागृत, निरपेक्ष, निस्पृह एवं विद्वान होना चाहिये। प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ और मुत्सद्दी अंडमण्ड बर्कका कहना है कि वह लोगोंका मुनीम (Delegate) नहीं है, प्रतिनिधि है; इसलिये उसे सब ओरसे सोच-विचार कर निर्भीकतासे अपना

अभिप्राय, अपना मत प्रकट करना चाहिये। आजकी जनतान्त्रिक व्यवस्थामें दल अनिवार्य वस्तु बन बैठे हैं और असलिये दलके आदेश (whip) के अनुसार मतदान करना पड़ता है। अंक महाशयसे जब पूछा गया तो उन्होंने कहा :—“ my voice is mine, my vote belongs to the party ” मेरा मन या मेरी आवाज मेरी अपनी है, पर मेरा मत मेरे दलका है। दल-निष्ठा राजनिष्ठासे किंचित ही कम महत्वपूर्ण होती है। जनतन्त्र याने दो: कल्पनाओका आमना-सामना, दोनोंका युद्ध; अतः जैसा कि युद्धमें होता है वैसे ही दोनों ओर की सेनाओंमें अनुशासन रहना चाहिये। दलको बाहरके विरोधियोंसे विशेष डर नहीं रहता, उसे दलके अन्दरके विरोधियोंसे अधिक खतरा रहता है। पर जनतन्त्रका अर्थ है, विचार विनिमय द्वारा मन और मतोंमें परिवर्तन करना; असलिये अंक दलसे दूसरे दलमें जाना-आना चलते रहता है। पहिले नाटक कम्पनियाँ अंक-दूसरेके अभिनेताओं तथा अभिनेत्रियोंको ललचाकर, वहकाकर ले जाती थी। वैसा ही कुछ स्थानिक स्वराज्य-संस्थाओंमें होते रहता है। विशाल राष्ट्रीय राजनीतिमें भी वही चल रहा है। चर्चिल पहिले कङ्गर्वेटीव थे, फिर अुदार-मतवादी-लिबरल बने और अन्तमें फिरसे कङ्गर्वेटीव हो गये। मत-परिवर्तन विचार करनेवाले मनका अधिकार है, लोभी-मनकी वह आदत होती है और अवसरवादी मनके लिये वह प्रतिष्ठाका अंकमेव मार्ग है। हॉलीवुडकी अभिनेत्रियाँ जितनी जल्दी शादियाँ करती हैं और तलाक देती हैं, उससे भी अधिक तेजीमें दल बदलनेवाले महाभाग आज भारतमें, और खासकर महाराष्ट्रमें, नहीं हैं क्या ? दल जनतन्त्रके लिये आवश्यक है, असलिये वे रहे, पर उसकी भी मर्यादा रहनी चाहिये। चुनावके समय जिस दलमें शामिल हुअे, उसे दूसरे चुनाव तक तो नहीं छोड़ना चाहिये, और यदि छोड़ना ही हो तो चुनी हुअी जगहकी सदस्यतासे भी अस्तीफा दे देना चाहिये। निर्वाचक मालिक है, असलिये उनका द्रोह नहीं करना चाहिये। अलग-अलग दलोंके आपसी समझौतेमें तथा परिणाम-स्वरूप संयुक्त मन्त्रिमण्डलके गठनमें अंक अलग राजकीय भावना होती है, लेकिन अंक व्यक्तिका अपने दलको छोड़कर दूसरेमें चला जाना राजनैतिक नैतिकताको तिलाजलि देना है। अससे सच्चे जनतन्त्रको हानि पहुँचती है। अलग अलग दलोंमें समझौता होकर संयुक्त सर-

कारका अधिकार रूढ़ होना भी सच्चे जनतन्त्रके सिद्धान्तके विरुद्ध है। देशपर संकट आ पड़े, तभी ऐसा करना कष्टमय माना जायेगा; वर्ना यह अुचित नहीं। चुनावोमे अपने-अपने कार्यक्रमोको जनताके सामने रखकर अनपर जनताकी सम्मति प्राप्त की जाती है। यह कहना कि चुनावोमे प्रामाणिकतासे मतदान नहीं होता है, सामान्यतया सच नहीं है। यह आवश्यक है कि निर्वाचक संघ विवेक-युक्त हो, कम-से-कम वह भावावेशकी स्थितिमे तो रहे ही नहीं, तथा चुनाव मुक्त वातावरणमे हो। कारण चुनाव जब शान्त और मुक्त वातावरणमे होता है, तभी वह यथार्थ (free, unfettered) होता है। निर्वाचन जनतन्त्रका मुख्य आधार है। चुनाव करनेवाली व्यवस्थाको तटस्थ होना चाहिं। वह ऐसी हो कि तत्कालिन सत्तारूढ़ दल अुसका अनुचित लाभ न अुठा सके। असिलिअं चुनाव-व्यवस्था स्वतन्त्र रहे असि पथ्यका पालन अवश्यमेव होना चाहिं।

निर्वाचन, प्रतिनिधि और दलोपर विचार करने हुअे मैने अुनकी मर्यादाअे बतायी। अब मै दलोके बारेमे और कुछ कहूंगा। जनतन्त्रका अर्थ है, चर्चा। चर्चाका अर्थ है, दो दृष्टिकोण। जहाँ सिर्फ अंक ही मत है, वहाँ चर्चा सम्भव नहीं। मतभेदका होना याने चर्चाकी शुरुआत। राष्ट्रके पैमानेपर चर्चाका अर्थ है: अलग-अलग दो दृष्टिकोण रखनेवाले दलोमे मतभेद और वे खुलेआम प्रकट किअं जा रहे हैं, अनपर चर्चा हो रही है तथा जनता अुसमें हिस्सा ले रही है। जनतन्त्रके प्राण चर्चामे है। बिना अुसके वह जनतन्त्र नहीं रहता। असिलिअं जनतामे चर्चा, निर्वाचक-संघोमे चर्चा, दलके आम संग-ठनोंमें चर्चा, अुसकी पालियामेण्टरी पार्टीमें चर्चा, सभा-गृहमे चर्चा, मन्त्रि-मण्डलमें चर्चा, निर्णय करनेसे पहिले चर्चा और निर्णयके बाद भी चर्चा—जिस तरह यह विश्व हवासे परिपूर्ण है और अुसमे वह सब जगह व्याप्त है, अुसी तरह जनतान्त्रिक विश्व चर्चासे भरा रहता है। असिलिअं जिस दलमे अंक व्यक्ति ही बोलता है और शेष पूरा दल सुनता है, वह दल जनतन्त्रका पोषक नहीं होता। जनतन्त्रमें अंक व्यक्तिका नहीं, कार्यक्रमका नेतृत्व रहता है ! १९३८-३९ मे यह कहा जाता था कि महाराष्ट्रमे नेता नहीं है। अब भी कुछ लोग यही कहते हैं। अुस समय मैने कहा था—‘महाराष्ट्रमें नेता नहीं होगा, पर नेतृत्व अवश्य है।’ जनतन्त्रमें प्रत्येक आदमी हर दूसरे आदमीकी बराबरीका होता है। सब जगह समता रहती

है, इसलिये प्रत्येकको यह लगता है कि मैं भी कुछ हूँ (अहमपि विशेष); और इसका परिणाम यह होता है कि स्वाभाविकतया सामान्य जन-समूह श्रृंष्ट बुद्धिवाले व्यक्तियोंके विरुद्ध हो जाता है (Democracy hates a genius)। तथापि अद्भुत, अलौकिक तथा आकर्षक व्यक्तित्वका साधारण लोगोंपर प्रभाव पड़ता है और उस प्रभावमेसे व्यक्ति-पूजाके भाव पैदा होते हैं। इसलिये चुनावोंमे दलके कार्यक्रमका बड़ा महत्व रहनेपर भी उसके नेताका महत्व उससे भी अधिक रहता है। पहिले काँग्रेस याने गाँधीजी थे, हमने गाँधी बाबाको मत दिया ऐसा बहुतसे लोग कहा करते थे। आज काँग्रेस याने नेहरूजी हैं। दिवालोंपर जगह-जगह चिपकाये गये पोस्टरोंसे यह बात स्पष्ट दिखायी देती है कि हमारे नेता नेहरूजी हैं। मनुष्य साधारणतया व्यक्तियोंको ही प्रत्यक्ष देख सकते हैं, अन्हीको वे गुणों एवं अवगुणोंके निदर्शक समझते हैं। 'यद्यद आचरति श्रृंष्टः तदेव अतरे जनाः' इस न्यायके अनुसार कौन विचार करनेकी तकलीफ़ उठाना है? जब रावजी काका कहते हैं, तो वह ठीक ही होता चाहिये। इसलिये चुनावमे, या जीवनके किसी अन्य व्यवहार-व्यापारमे भले ही व्यक्ति-पूजाके निश्चित भाव न रहे, पर व्यक्ति-विशेषका मार्गदर्शन स्वीकार कर लेनेकी ओर साधारण लोगोंकी वृत्ति रहती है। व्यक्तिपूजाके भाव जनतन्त्रके लिये खतरनाक होते हैं; यदि जैसे व्यक्तिके पीछे काँग्रेसी संगठित तथा शक्तिशाली दल हो तो वह दल साम्प्रदायिक-पथका रूप ले लेता है और वह व्यक्ति मठाधिकारी बन जाता है। तब उसका मन दलके अन्दर तथा बाहर किसी प्रकारके विरोधको सहन नहीं करना। उसमे अहंभाव तथा अहमन्यता भर जाती है। उस अहंभावमेसे तानाशाहीका अुदय होता है। इसलिये संगठित दलको व्यक्ति-पूजासे दूर रहना चाहिये। यद्यपि नेता अनुयायियोंके पीछे-पीछे नहीं चलता, पर वह है चलनशील मूर्ति ही, उत्सवकी मूर्ति ही। अचल-मूर्ति तो दलका सिद्धान्त होता है। इसलिये दल जिनपर कि जनतन्त्रकी सफलता निर्भर रहती है, जनतान्त्रिक पद्धतिसे काम करनेवाले होने चाहिये। नेता दलके सिद्धान्तोंका प्रतिनिधि होता है। जनतन्त्रकी दृष्टिसे नेतृत्वमे तथा नेतामे जो अन्तर है, वह बहुत महत्वपूर्ण है। दलकी सभामे चर्चा होनी चाहिये, चुनाव होने चाहिये, उसमे खुलकर बोलनेकी स्वतन्त्रता रहनी चाहिये; गुटोंमें

बैठे हुअे न रहनेपर भी दलमे लोग अलग-अलग दृष्टिकोणोंसे सोचनेवाले होने चाहिये। असा न होतो दलका रक्त शुद्ध नहीं रहेगा। तब दल याने कवायत करनेवाली अंक फौजी टुकड़ी होती है, अउसमें लोगोके सिर कन्धोंपर रखे गहने-से बने जाते हैं। दलके प्रत्येक सदस्यको विचार करना चाहिये। विचारोके सम्बन्धमे रेडीमेड—तैयार गांधी टोपी, नेहरू शर्ट, जवाहर जैकेट, जैसी बात नहीं होनी चाहिये। मैं भी कुछ हूँ, अिस भावनाको जनतान्त्रिक जीवनमे अत्यन्त महत्व है। सारांश, दलका कामकाज जनतन्त्र-स्वरूपी होना चाहिये, अउसमे व्यक्तिपूजा नहीं रहनी चाहिये। हर व्यक्तिके बारेमे सम्मानकी भावना रहे, दलमे किसी की भी अन्तरात्माकी आवाजको दबाया नहीं जाये। किसी व्यक्ति-विशेषकी अन्दरकी आवाजको 'अीश्वर साक्षात्कार' न मान कर, विचारोंकी कसौटीपर अुसे कसकर ही ग्राह्य-अग्राह्य ठहराया जाये। व्यक्ति श्रेष्ठ है, नेता अउससे श्री श्रेष्ठ है, लेकिन राष्ट्र सबसे श्रेष्ठ है—अिस बातका अहमास प्रत्येक व्यक्तिको तथा दलको होना चाहिये।

जनतन्त्रकी सफलताके लिये दलको भी व्यक्तियोंके समान ही समयमे वरतना चाहिये। अुसे भी कुछ सकेतोका, पथ्योका पालन करना चाहिये। जो दल अधिकारपर है, अुसे चाहिये कि विरोधी दलकी आलोचनाको तुच्छ न माने। अुम आलोचनामे जो अुचित हों, अुसे प्रतिष्ठाके मोहमे न पड़कर स्वीकार करे। प्रतिष्ठा सत्यकी और लोकहितकी रखी जानी चाहिये। अधिकारारूढ होनेपर संगठित विरोधी दलोके व्यक्तियोंको प्रलोभनद्वारा अथवा अन्य तरीकोमे फोड़ना या फुसलाना राजनैतिक दृष्टिमे अनुचित है। सत्ता हाथमे है, अिसलिये सत्तारूढ दलको राज्य-यन्त्रका अपयोग अपने किसी व्यक्तिगत अथवा दलगत स्वार्थके लिये नहीं करना चाहिये। यह सच है और स्वाभाविक भी है कि जो तालाबकी रक्षा करेगा, वह अुमका पानी भी चखेगा, लेकिन अुममे भोडापन नहीं आना चाहिये। गुणावगुणके आधारपर कर्मचारियोंकी कदर अधिकाधिक प्रमाणमे की जानी चाहिये। सरकारो रोजगारमें—नौकरियों, कारखानों आदिमें सिफारिशबाजी और भात्री-भतीजावाद न चले, अिसलिये अुनका निर्णय करनेवाली व्यवस्था स्वतन्त्र रहनी चाहिये। फिर भी कुछ नौकरियों सिर्फ राज्यकर्ताओंकी मेहरबानीपर निर्भर रहा करती है। वहाँ दलके आदमियोंकी नियुक्ति, यदि वे और सब प्रकारसे योग्य

हों, तो अनुचित नहीं है। चूँकि दल बहुसंख्यक है और सत्ता-स्थानपर है, असलिये उसपर विरोधियों तथा अल्पसंख्यकोंके अचित् स्वार्थोंकी रक्षाकी विशेष जिम्मेदारी होती है। जनतन्त्रमे सत्ताधीश संयमी तथा न्यायशील होना चाहिये और विरोधीको जिम्मेदार तथा समझदार बनना चाहिये। यदि ऐसा न हुआ तो रोज संघर्ष होगा और फिर अन्तमें द्वेषभाव, हिंसा और तदनन्तर अराजकता पैदा होगी। विरोधी दलको आलोचना, टीका अवश्य करनी चाहिये, पर उसमें जिम्मेदारीका भाव रहे। कौन जाने अगले चुनावमें उनकी कौड़ी दाव दे जाय और सत्ता उनके हाथ आ जाय? तब अन्तमें दलद्वारा जो घोषणाएँ की गयी थी और जिन सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया था, वे सब अन्तमें तेजीसे चूँ बँटेंगे। सत्तारूढ़ दलको भी चुनावोंकी बात नहीं भूलनी चाहिये। उसे याद रखना चाहिये कि अन्तमें दिन अन्तमें अपने सारे कृत्योंका जवाब देना पड़ेगा। ठण्डा पड़ा हुआ गोलीबार उस समय भयानक विस्फोटोंके साथ गूँजे लगेगा, भरे हुए घाव बहने लगेंगे और मरे हुए जिन्दा होकर प्रतिशोधकी माँग करेंगे। विरोधी दलोंको भी चुनावोंके समय जनताको खुश करनेके लिये असम्भव प्रतिज्ञाएँ नहीं करनी चाहिये। उन्हें चाहिये कि वह जनताको विवेकसे खुश करे और उसका समर्थन प्राप्त करे। कारण, जब मन भड़कते हैं तो शरीर भी भड़क उठते हैं। लोग और ओंकर सम्भलते नहीं सम्भलते। चुनाव तो खतम हो जाते हैं, लेकिन शत्रुता, वैमनस्य अथवा गृह-युद्धकी विरासत वह अपने पीछे छोड़ जाते हैं। जैसे दो वकील न्यायाधीशके सामने अथवा पंचोंके आगे अपना-अपना मामला पेश करते हैं, वैसा ही चुनावोंमें भी होना चाहिये। उसमें मर्यादाओंका ध्यान रखा जाना चाहिये। राज्य करते समय शासकोंको अनिवार्य परिस्थितियोंमें मजबूरन कुछ-न-कुछ हिंसाका आसरा लेना पड़ता है। कहा गया है : “न दोहेसे चलती है, न कर्शदेसे चलती है, कारे सत्तनन लोहेसे चलती है।” भावगीत गाकर अथवा रविवारकी पार्टीके बारेमें लिखकर राज्य नहीं चलाया जाता। देशके हितके लिये, उसकी सुरक्षाके लिये, अन्तमें शान्ति और सुव्यवस्था कायम रखनेके लिये कुछ कड़ी और अप्रिय बातें भी करनी पड़ती हैं। केरलमें प्रजासमाजवादियोंको शासन चलाते समय यही अनुभव आया। राज्यद्वारा जहाँ मर्यादाका अतिक्रमण हुआ हो, वहाँ अवश्य जाँच की जानी चाहिये; लेकिन हर समय तहकीकातकी माँग करना

पुलिस और फौजको अलङ्घनमें डालना है। जिसलिअे जो काम सत्तारूढ़ होनेपर हरेकको करना पड़ता है, उसपर जब बोलनेका मौका आये तब, और चुनावोके समय विशेष रूपसे, मर्यादापूर्वक बोलना चाहिये। यद्यपि देशान्तर्गत चुनाव सिर्फ देशके राजकाजपर असर डालते हैं और उसके माध्यमसे जनतापर भी; पर चुनावोंमें कौन जीतता है, जिसपर विदेशी राष्ट्र भी ध्यान रखते हैं, आंतर्राष्ट्रीय दुनियाकी राजनीतिपर भी उसका असर होता है। किसी देशकी अर्थ-व्यवस्थाके स्वरूपपर यह निर्भर रहता है कि अन्य राष्ट्रवाले उसे आर्थिक मदद देगे या नहीं। यदि हममे विदेश नीतिको लेकर तीव्र मतभेद हों, तो दुनियाके अलग-अलग और परस्पर विरोधी गुटोंकी दिलचस्पी बढ़ जाती है। यद्यपि पंचशीलका यह सर्वमान्य सकेत है कि अंक स्वतन्त्र राष्ट्र दूसरे स्वतन्त्र राष्ट्रके अन्तर्गत मामलोमें ध्यान न दे, लेकिन फिर भी वह दिया जरूर जाता है। घरके झगड़े घरमें नहीं रहते, वे जागतिक जनमतके चौराहेपर पहुँच जाते हैं। तब प्रत्येक व्यक्ति उसका 'पंचनामा' शुरू कर देता है। भारतकी राजनीतिका निर्णय यदि वॉलस्ट्रीटका पूँजीपति या माँस्को-स्थित पोलिटब्यूरो करने लगे तो यह अनर्थकारी बात होगी। जिसलिअे देशकी नीतिके बारेमें मतभेद रहनेपर भी यदि मूलभूत विषयोके बारेमें हममें एकता न हो, तो जनतन्त्रके लिअे खतरा उत्पन्न हो जायगा। जिसलिअे विदेशोसे व्यवहार करते समय देशको जो पद्धति अपनानी है अथवा जो नीति रखनी है, उसके बारेमें मोटे तौरपर देशके सब दलोंमें एक-सा दृष्टिकोण होना चाहिये, उनमें तद्विषयक एकता रहनी चाहिये; नहीं तो हमारा जनतन्त्र दूसरोंका तन्त्र बन जायेगा, और दूसरे लोग अपने मत हमपर अप्रत्यक्ष रूपसे लाद देगे। उसी प्रकार यह भी जरूरी है कि देशके अन्दरके दल देशके ही रहें। संगठनकी दृष्टिसे या सामान्य अनुशासनसे यदि वे दूसरे देशोके दलोसे बन्धे हुए होंगे, तो देश उन बाहरी दलोंकी अंक प्रयोगशाला बन जायेगा और प्रतिक्रिया-स्वरूप दूसरे दल किसी अन्यके हाथोंके खिलौने बन जायेगे। जिसलिअे देशके, जनतान्त्रिक देशके दल विचार-विनिमयकी दृष्टिसे भले ही दुनियामे किसीसे भी बातचीत करें, लेकिन कार्यक्रम अथवा व्यवहारकी दृष्टिसे उन्हें राष्ट्रीय ही रहना चाहिये। स्वतन्त्र और जनतान्त्रिक राज्यमें किसी आतर्राष्ट्रीय दलका प्रभाव होना जनतन्त्रके

लिअे घातक है। तब सारे आंतरराष्ट्रीय दल अपनी-अपनी ताकत अुम देशमें आजमाने लगते है। असिलिअे किसी भी स्वाधीन जनतन्त्रके दलोको आदर्श और संगठनकी दृष्टिसे, और निष्ठाकी दृष्टिसे भी, राष्ट्रीय ही बना रहना चाहिअे।

देश और समाजमे नाना प्रकार और प्रवृत्तियोके लोग रहते है—कुछ सज्जन, तो कुछ दुष्ट; कुछ ताकतवर, तो कुछ कमजोर। अुन सबको न्याय दे सकनेवाला सर्वश्रेष्ठ राजकीय संगठन जनतन्त्र ही है। अुसमे राज्य गरीबोका सरअक रहता है। लोगोमे जितनी अधिक सज्जनता तथा सहिष्णुता होगी, अुतना ही अधिक जनतन्त्र-राज्य सफल होगा। मनुष्य मात्रमे जो सहज भलमनसाहत रहती है, अुसके कारण जनतन्त्र चलता है और अुसमे जो कमजोरी रहती है, अुसमे अुसका चलना अमम्भव हो जाता है। लेकिन यदि जनतन्त्रको ठीकसे चलाना हो, तो प्रत्येकको अुसके कामोमे हिस्सा लेना चाहिअे। “पिडे पिडे मतिभिन्ना” के अनुसार जनतन्त्रमे अनेक प्रकारके मत-मतान्तरोंका कोलाहल रहता है। जनतन्त्रका काम है कि वह अुन सबमे समन्वय साध कर समझदारीकी राह ढूँढ निकाले। जैसे विचारोकी तथा अभिव्यक्तिकी स्वतन्त्रताका अर्थ मर्यादा-रहित स्वतन्त्रता नहीं है, वैसे ही व्यवहार-स्वातन्त्र्यका अर्थ कुछ भी करनेकी स्वतन्त्रता नहीं है। कानूनको मानना प्रत्येक नागरिकका कर्तव्य है; कारण, कानून अुसके मतसे, अुसके द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियोंके मतों द्वारा बनाया जाता है। कानून जनताकी सदसद् विवेक-बुद्धि है, असिलिअे नागरिकको अुसका पालन करना चाहिअे। जब तक कानून नहीं बनता है, वह अुसके बारेमे अपने विचार प्रकट कर सकता है। जब अुसका मसविदा पार्लियामेण्टमे पेश होता है, तब भी वह अुसके बारेमे कह सकता है। अुसके पास हो जानेपर वैध मार्गसे अुसको बदलवानेका अुसे अधिकार है। व्यक्तिकी तरह दलको भी यह अधिकार है। लेकिन वाद-विवाद समाप्त हो जानेके बाद, बिल अथवा मसविदा पास कर दिअे जानेके पश्चात तो वह ‘भूमि (देश) का कानून’ बन जाता है, तब वह किसी अेक दलका अथवा प्रदेशका नहीं रहता। असिलिअे अुसको माननेकी वैध और नैतिक जिम्मेदारी विरोधी दलपर भी आ जाती है। अुसे बदलवा लेनेका अुसे अधिकार है, पर अुसके लिअे कानून तोड़ने अथवा सामुदायिक सत्याग्रह करनेका तरीका अवैध

और अनैतिक है। यदि हारनेवाला हर दल सामुदायिक सत्याग्रह करने लगे, तो यह अल्पसंख्यक दल द्वारा जनतापर जबदरस्ती होगी। हिंसा अथवा अप्रत्यक्ष हिंसाकी राह जनतन्त्रमे हराम समझी जाती है। यदि हिंसाका रस्ता अपना लिया गया, तो राज्य जनतान्त्रिक नहीं रह पायेगा, कुछ और बन जायेगा। टेनिस और क्रिकेटमें क्या भेद है? टेनिसमे जाली परसे लेकिन जमीनपर खींची गयी रेखाके अन्दर यदि गेंद गिरे तो पाइन्ट होता है, वर्ना नहीं। उसमे हाथमें रैकेट रहती है, कलाश्रीमे जोर रहता है, पर गेंदको चाहे जैसा, चाहे जिस तरफ नहीं पीटा जा सकता। इसके विपरीत क्रिकेटमे जितनी जोरसे टोला मारा जायेगा, उतनी दौड़े अधिक मिलेगी। इसलिये जब टेनिस खेलना हो तो टेनिसके नियम और क्रिकेट खेलना हो तो क्रिकेटके पथ्योका पालन करना चाहिये। इसलिये व्यक्तिकी तरह दलको भी सविधानकी चौखटमे और असीके सन्दर्भमे काम करना चाहिये। देशके अन्दर, और बाहर विदेशोमे, तथा पार्लियामेन्टमे व्यक्तियोंके समान दलोको भी सभाके नियमोंका और सभा-अनुशासनका पालन करना चाहिये। सभाके अध्यक्षके निर्णयको मानना चाहिये। मँचमे अपायरने गलत निर्णय दिया, इसलिये बॅट्समन उसके सिरपर अपना बॅट नहीं दे मारता, वह उस निर्णयके सामने सिर झुका देता है। उसी तरह सभागृहमे अध्यक्षका निर्णय माना जाना चाहिये। उसका निषेध करनेकी दृष्टिसे बाहर चले जाना अयोग्य है; ऐसा करना सभागृहका अपमान है। सरकारी नीतिके खिलाफ निषेधके लिये अुठकर जाना ठीक है, कारण उसमे सभागृह रूपी देवताका अपमान नहीं होता। दलोको सभागृहमे अनुशासनके दायरेमे रहना चाहिये। सभाके नियमोके अनुसार प्रस्ताव रखना, प्रश्न पूछना, स्पष्टीकरण करना, विधेयक रखना आदि सब बातें नियमानुसार होनी चाहिये। सार्वजनिक सभाके लिये भी नियम और सकेत रहते हैं, उनके अनुसार बरतना अच्छा है। मसद अथवा विधान सभामे सब कुछ नियमानुसार करना चाहिये। वहाँ बहुमतसे जो निर्णय होते हैं, विरोधी दलोंको उन्हें मानना चाहिये। अच्छा दाव नहीं आया इसलिये पत्ते फाड़ डालना, अथवा जो चाहिये वे दाने नहीं पड़े इसलिये पाँसे पटक देना, हास्यास्पद बात है। जनतन्त्रका खेल मन्द गतिसे चलता है। वहाँ हारमे से जीतका रास्ता ढूँढ़ निकालना पड़ता है, भावनाओं-

पर संयम रखकर, अगला कदम विवेककी सहायतासे अठाना पड़ता है। इस-लिअे दलको धीरजसे काम लेना चाहिये। 'होना ही चाहिये' यह नारा ठीक है, लेकिन साध्यकी प्राप्तिका तरीका अयोग्य और हठपूर्ण नहीं होना चाहिये। यह भी कहा जा सकता है कि विरोधी दल समाजका दूसरा मन (Second Thought) है। अंक मन अंक बात कहेगा, दूसरा मन दूसरी; लेकिन ये विचार करनेवाले मन अंक ही व्यक्तिके हैं, अिमे हम भूल न जाये। अिग्लैडमे विरोधी दलको 'हिज मॅजस्टीज अपोजिशन' के नामसे पुकारा जाता है, याने राजाकी ही सरकार और राजाका ही विरोधी दल। इस नामकरणके पीछे निहित श्रेष्ठ नीति और मूलभूत अंकता ध्यान देने योग्य है। गांवका झगड़ा गांवकी सीमाओके अन्दर, गांवके खलिहानों तक ही रहेगा। आपसमे खीचातानी जरूर है, पर शत्रुता नहीं। सभागृहमे झड़पे होती है; लेकिन बाहर मित्रता बनी रहती है। अिग्लैडकी पार्लमेण्टको अंक अत्कृष्ट क्लब कहा जाता है (House of Commons is the best club)। इसका अर्थ यही है कि दल और व्यक्ति लड़ेंगे, वाद-विवाद करेंगे, यह सब मनः पूर्वक किया जायेगा, अुसमे कृत्रिमता अथवा अभिनय नहीं होगा; सबमे औमानदारीकी तड़पन रहेगी, सर्वस्व त्यागकी वृद्धि रहेगी; लेकिन व्यक्तिगत द्वेष अथवा दलगत घृणा नहीं रहेगी। देशहित के लिअे सब अंक, और देशके बारेमे सबकी निष्ठा वादातीत। व्यक्ति अथवा दल कभी यह सोचेंगे ही नहीं कि देश कोअी बेचनेकी चीज है और निष्ठा सिर्फ अंक सिक्का है। यह स्थिति जनतन्त्रके लिअे आवश्यक है। विरोधी दल साधारण स्थितिमें दोष दिखानेवाला मित्र और राष्ट्रीय सकटके समय राष्ट्रीय शक्ति होना चाहिये। विरोधी दलका काम हमेशा और हर जगह विरोध करना है, यह दृष्टिकोण अब पुराना पड़ गया है। यदि पिछड़े हुअे राष्ट्रको जनतन्त्रके घोड़े-पर बिठाकर चलाना हो, तो हम कोअी अैसा काम न करे जिससे घोड़ा बिचक जाये। कभी-कभी अंक दलके रहनेपर भी जनतन्त्र आगे बढ़ सकता है। धनवानों और गरीबों, अूँचों तथा नीचोंके बीचकी दूरी जैसे जैसे खतम होती है, वैसे वैसे जनतन्त्र अधिक सफल बनता है, अुसके मार्गकी बाधाएं कम होती जाती हैं। इसलिअे यदि पिछड़े हुअे राष्ट्रोंके जनतान्त्रिक दल अंकताके क्षेत्रको बढ़ाअे, मतभेदोंको कम करे तथा देशको समृद्ध अव सुखी करनेके

काममें सहयोग दे, तो यह बात जनतन्त्रके अनुरूप ही होगी। कभी जनतन्त्रका स्वरूप अभावात्मक, प्रगतिको रोकनेवाला (brake) था। पर आधुनिक जनतन्त्र आगे ले जानेवाला अंजिन है; वह प्रत्यक्ष प्रेरणा है, प्रत्यक्ष गति है। जो रुक गया वह खतम हो गया—यह प्रगतिका सिद्धान्त है; और वहीं आज जनतन्त्रका भी प्रमुख सिद्धान्त है। “बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय सुखचक्रप्रवर्तनाय”, यह जनतन्त्रकी घोषणा है। इस सन्दर्भमें, विरोधी दलका काम कवितामें छन्दके कामके समान होना चाहिये।

सभागृहमें और देशमें विरोधी दलको जनतन्त्रकी दृष्टिसे किस तरह बरतना चाहिये यह बतलानेके बाद अधिकारारूढ़ दलको, उसके मन्त्रिमण्डलको तथा प्रधान-मन्त्रीको कैसा व्यवहार रखना चाहिये, यह बताना क्रम-प्राप्त है। जनतन्त्रमें जो सत्ता प्राप्त होती है वह सर्वांग और सान्त होती है। वह आज है, कल नहीं और परसों शायद फिर चली आये। इस तरह उसका स्वरूप रूढ़िवादी-सा रहता है। रूढ़िवादी पानी अँडला जाता है, खाली डब्बे फिरसे भरे जाते हैं, और भरे हुए खाली होते रहते हैं। इसलिये अधिकारपद मिलनेपर होश नहीं गँवाने चाहिये और उसके छिन जानपर निराश नहीं होना चाहिये। किसी भी हालतमें कर्तव्यकी राह नहीं छोड़नी चाहिये। जनतन्त्रमें कोई भी व्यक्ति अथवा दल तुच्छ नहीं होता। चुनावकी चौपड़में किसकी क्या हाथ लगेंगा, कौन कह सकता है? कौन जानता है, किसे सिद्धर लगाकर देवता बना दिया जायगा और कौन भाग्यके धक्केसे भिखारी बन जायगा? इसलिये व्यवहारिक दृष्टिसे भी अधिकारारूढ़ दलको विरोधी दलके साथ सभ्यतासे पेश आना चाहिये। सभागृहमें, और बाहर भी, विरोधी दल अल्पसंख्यक है इसलिये, उसे चर्चामें अधिक अवसर दिया जाना चाहिये। दोनों दलोंमें सभागृहके कामकाजके बारेमें मतभेद नहीं होना चाहिये। यदि हो, तो उन्हें मिल-जुलकर सलटा लेना चाहिये। खेलके नियमोंका सबको पालन करना चाहिये। उसके कार्यान्वयनमें मेरे-तेरे का भाव नहीं आना चाहिये, और आये ही हो तो अधिक सुविधा विरोधी दलको मिलनी चाहिये। उन्हें उनकी बात पूरी तरहसे कहनेका मौका देना चाहिये। जब आलोचना दवा दी जाती है, तब वह शब्दोंके बदले वाहुबलके द्वारा प्रकट की जाती है। जैसे विरोधी दलको देशद्रोही कहना निन्दनीय है,

अुसी तरह सत्तारूढ़ दलको भी तानाशाहकी गाली नहीं दी जानी चाहिए। वह दल सत्तापर जनताके मतों द्वारा अधिष्ठित हुआ है; अुसे गाली देना जनताको गाली देना है। असलिये दोनों दलोको चाहिये कि वे अंक दूसरेके हेतुओंके सम्बन्धमें गलत-सलत न कहें। जैसे यह कहना कि माननीय सदस्य झूठ बोलते हैं, संसदीय सभ्यताके विरुद्ध है, अुसी प्रकार किसीको देशद्रोही कहना भी असंसदीय है। संयमका अर्थ यह नहीं कि भाषणमें विनोद न रहे, वह नीरस तथा अुवा देने-वाला हो अथवा अुसमें कही द्रव्यार्थक शब्द या श्लेष न रहे। संसदीय भाषण याने 'अंक शहर पूना है, बहती वहाँ नदी है,' जैसी कोई गद्दी कविता नहीं है, और न वह व्यंकटेश*-स्तोत्र ही है। वहाँ प्रभावपूर्ण, प्रेरणात्मक, चलेज देनेवाले, आह्वान करनेवाले, अतिहासकों पलट देनेकी कुव्वत रखनेवाले, कार्य प्रवृत्त करनेवाले, क्रान्तिकारी, नाट्यपूर्ण भाषण दिये जा सकते हैं। वहाँ प्रत्युत्पन्न मतिकों अवसर हैं और हाजिरजवाबीकी कीमत होती है। अलबत्ते, वहाँ द्वेषपूर्ण भाषणों, नीचे दर्जेके और रुलानेवाले बयानोंको कोई स्थान नहीं। जहरसे भरी हुअी जवान वहाँके लिये अनुपयुक्त है। असलिये दोनों दलोको अिन मर्यादाओंका पालन करना चाहिये। चूँकि मतभेद है, असलिये अुन्हें प्रकट करनेका अवसर मिलना चाहिये, और यह बात जनतात्रिक व्यवस्थामें ही संभव हो सकती है। लेकिन जनतन्त्रकी कीमत यदि द्वेष, घृणा, प्रतिशोध आदिके सिक्कोमें चुकानी पड़े, तो वह अंक शाप साबित होगा। सत्ताधारी दलको चाहिये कि वह विनोद बुद्धिसे और खेलनेवालेकी अुदार वृत्तिसे बर्ताव करे। विरोधी दल पहिले सत्ताधारी दल था या कल वह सत्तापर आ सकता है, यह बात सत्तारूढ़ दलको नहीं भूलानी चाहिए। अिग्लैंडमें अंक बार विरोधी दलके नेताने कहा—“अिस बिलसे सरकार अपनी कबर खोद रही है।” बाल्फरने शान्तिसे जवाब दिया—“बात सच है, लेकिन विरोधी दल अितना भला कि वह स्वयं ही अुसमें गिरता है, सरकारको मौका नहीं देता।” यह है विनोद बुद्धि, जो गुदगुदी पैदा करती है, नाखूनोसे छीलकर रक्त-रंजित नहीं करती। जनतन्त्र संसदीय कामकाजका स्थायी भाव बन जाना चाहिये। मेरा कहनेका मतलब यह है कि सत्तारूढ़ दलको सभागृहकी संसदीय नीतिकी

* व्यंकटेश—कर्नाटकके अंक देवता; विष्णु; गिरिके बालाजी।

मर्यादाका पालन अधिक सजगतासे करना चाहिये। अपने पास बहुमत है, इस मदमे उसे विरोधी दलकी हर बातको ठुकराते नहीं चलना चाहिये। वह विरोधियोंको चाहे पूरा रुपया न दे, दो-चार नअं पैसे हीं दे दे; पर उसीसे वातावरण ठीक हो जायेगा। महत्वकी बात यह है कि जनतामे यह विश्वास बना रहना चाहिये कि युक्तिवादसे काम बन सकता है। तानाशाही व्यक्तिकी भी बुरी ही होती है, पर वह सहन की जा सकती है; कारण उस व्यक्तिको मारा कि वह खतम हो जाती है। लेकिन सत्तारूढ़ दलकी तानाशाही जुलूम और अन्यायकी अक बड़ी आवृत्ति होती है, उसके खूनी पजोसे कुछ भी नहीं बच पाता। इसलिये सत्तारूढ़ दलको यह दिखाना चाहिये कि उसके हाथों राज्यका काम युक्ति-सगत और न्याय-सगत ढंगसे चल रहा है। उसे जनतामे इस तरहका विश्वास अखड रूपसे बनाये रखना चाहिये। सत्तारूढ़ दलको अपने मन्त्रि-मण्डलके पीछे सतत खड़ा रहना चाहिये। जहाँ सदसद् विवेककी बात आ जाती है अतना छोड़कर, हरेकको दलके आदेश या ब्हिपका पालन करना चाहिये। पर दलके लोगोंकी असी भी अवस्था नहीं होनी चाहिये कि 'गूंग है विचारे, कोअी भी हाके'। दलका संपर्क यदि जनतासे न रहे तो मन्त्रि-मण्डल कमजोर बनते जाता है। भगवान शक्ति देता है, इसलिये हम उसकी अपासना करते हैं। जनताने मत दिअे, इसलिये सत्ता मिली। इस-लिये हमेशा जनमतके सपर्कमे रहना चाहिये। यह बात नहीं कि उसे हमेशा मनाते या खुश करते रहना चाहिये, लेकिन यह जरूरी है कि उसे सब बातें समझाते रहना चाहिये। मनुष्य अपने हाथके दीपकको न बुझने देनेके लिये बड़ी सावधानी बरतता है। वृद्ध भी अपनी तरुण पत्नीकी अतनी हीं फिकरसे साध सभाल रखता है। सत्तारूढ़ दलको चाहिये कि वह भी जन-मतकी पर्वाह अमी सजगतासे करे। सत्तारूढ़ होनेका अर्थ है: सहजमे बड़े अधि-कारोंकी प्राप्ति तथा पुरस्कार देनेका सामर्थ्य। लेकिन अिन दोनोंका उपयोग मान्य और वैध मर्यादाके अन्दर हीं किया जाना चाहिये।

जनतन्त्रमे, मन्त्रि-मण्डल किस तरह काम करे इसका भी बड़ा महत्व है। चुनावमें मन्त्री दलका सिर्फ अक अमीदवार ही रहता है। जो मन्त्री रह चुका होता है, उसे चुनावके समय आवलेके समान टीकाओंसे टोंच दिया जाता है। लेकिन उससे उसके मनमें बदला लेनेकी भावना पैदा नहीं

होनी चाहिये। भले ही बाहरसे उसका मन ऐसा दिखे कि उसपर किसी बातका असर नहीं होता, लेकिन उस अूपरी कठोर कवचके अन्दर उसे विवेकसे युक्त ही रहना चाहिये। अूपरसे उसका चमड़ा मोटा दिखे, लेकिन अन्दरसे तो वह संवेदनशील ही रहना चाहिये। जैसे चुनकर आनेके बाद प्रतिनिधि सिर्फ अपने दलका ही नहीं रहता, वह पूरे निर्वाचक-सघका बन जाता है; अुसी न्यायसे विधान सभामे अपथ-विधि हो जानेके बाद मन्त्रि-मण्डल सिर्फ अेक दलका नहीं रहता, वह पूरे राष्ट्रका हो जाता है। वह अपने काममे सिर्फ दलकी ही दृष्टिसे नहीं चले। सीढीसे मजलेपर पहुँचनेके बाद सीढीको अूपर कोअी नहीं ले जाता। सीढीकी अपनी निश्चित जगह है और निश्चित अपयोग है; वही बात यहाँ होनी चाहिये। उसका यह अर्थ नहीं कि काम होने ही मनुष्य सीढीको लात मार दे। सीढीकी प्रतिष्ठा रखी जानी चाहिये। लेकिन साधनको साधका स्वरूप दे देनेसे विकृति अुत्पन्न हो जाती है। रसके वजाय रचना तत्वपर ध्यान केन्द्रित हो जानेमे काव्यमे घटियापन आ जाता है। चूँकि जनता मन्त्रिमंडल-दलके कार्यक्रमको स्वीकृत कर चुकी होती है, असलिये मन्त्रि-मण्डल और दल उसपर अमल करना चाहता है। लेकिन शासन अथवा राज्य-व्यवस्था अुस कार्यक्रमितिका साधन है, असलिये दलके लिये शासनमे या राज्य व्यवस्थामे अदल-बदल करना अुचित नहीं है। ग्रीन रूपमे सब अभिनेता अेक समान होते हैं, पर रगमंचपर हरेकको अपनी अपनी भूमिकाके अुनुरूप काम करना चाहिये। अिसी तरह जनताका मनोरजन होता है। दलमे सब बराबर होते हैं, जनताका काम करनेके लिये कुछको मन्त्रीका पार्ट, तो कुछको सिर्फ सदस्यका पार्ट अदा करना पड़ता है। असलिये दलकी सभामे सबको अुन्मुक्त होकर बोलना चाहिये। हरेकको उसका पूरा अवसर दिया जाना चाहिये। पर मन्त्रि-मण्डल अपने अनुभव विशेपके कारण, अथवा विशेप जानकार होनेके नाते यदि किसी बातका आग्रह करे तो दलको उसकी बात मान लेनी चाहिये। साथ-ही-साथ यह भी आवश्यक है कि मन्त्रि-मण्डल संविधान तथा प्रस्थापित सकेतोंके अनुसार अपने दलको विश्वासमे ले। जहाँ देश-हितका कोअी गम्भीर सवाल पैदा हो जाता है और अैसा लगता है कि दलीय राजनीति राष्ट्रके प्रयत्नमे फूट पैदा कर सकती है, अथवा अेक व्यक्तिके आग्रहके कारण देश विनाशकी ओर जा

सकता है, वहाँ दलके सदस्योंका यह श्रेष्ठ कर्तव्य होगा कि दलके टूट जानेका अन्देशा होनेपर भी वे सत्यको निर्ममतासे प्रकट करे। और तब मन्त्रि-मण्डलको भी चाहिये कि वह उस प्रश्नको अपनी प्रतिष्ठाका सवाल न बनाते हुअे, अनुशासन भगका चाबुक न उठाते हुअे गहराजीसे सोचे, विचारे। देशके सामने ऐसे भी प्रश्न आते हैं जब कि विरोधी दलको भी विश्वासमे लेना पड़ता है। जब देशके लिये जीवन-मरणका समय आ उपस्थित होता है, तब मतभेद समाप्त हो जाने चाहिये। तब राष्ट्रका पक्ष सबका पक्ष होता है और राष्ट्रकी रक्षा सबका अंक मात्र ध्येय। तब अंक ही नारा होना चाहिये—‘समानो मत्रः समाना आकृतिः।’ अैसे मौकोपर सत्तारूढ दल द्वारा स्वयं अपने मन्त्रि-मण्डलका विसर्जन भी उचित होगा; नही, वह आवश्यक होगा। कारण स्वतन्त्रता रहेगी तो जनतन्त्र रहेगा। सिर सलामत तो पगड़ी पचास—यह अनादि तत्व है। अपने पीछे दल है और निष्ठापूर्वक उसका हाथ सर्वदा अपने सिरपर है, यह सोचकर सत्तारूढ मन्त्रि-मण्डलको जो राष्ट्र हितमे नही है वह करनेका नैतिक रूपसे अधिकार नहीं है। कामकाजमें पक्षविहीन दृष्टि, सभागृहमे नियमानुसार व्यवहार, विरोधी दलसे मतभेद लेकिन उसके बारेमे तिरस्कारकी भावनाका अभाव—मन्त्रि-मण्डलको अपने व्यवहारमे अिन बातोका ध्यान रखना चाहिये। दोनों दल शासन-व्यवस्था तथा न्याय-व्यवस्थाको दलातीत माने। पालकीको ठीकसे रखो, चाहे जो उसमे बैठे। दलके हितोकी दृष्टिसे न्यायाधिशोकी नियुक्ति अथवा राज्यके प्रशासकोंमे दल-विशेषके प्रति निष्ठा, दोनों बातें जनतन्त्रके लिये खतरनाक हैं; अतः अन्हें टालना चाहिये। सभागृहका सब काम मर्यादाके अन्दर हो, यह देखना अध्यक्षका कर्तव्य है, और यह तभी सम्भव है जब वह मन्त्रि-मण्डलको और सारे दलोको अंक ही नापसे नापे।

सत्तारूढ दलका बहुमत होना चाहिये, असका यह अर्थ नही कि हरेक मतदानमें उसे बहुमत मिले ही। हाँ, महत्वपूर्ण नीति-विषयक प्रश्नोंपर उसके साथ सभाका बहुमत रहना चाहिये। जब अविश्वासका सीधा प्रस्ताव आये और वह मजूर हो जाये तो मन्त्रि-मण्डलको अिस्तीफा दे देना चाहिये। यदि वह स्तीफा न दे, तो यह जनतन्त्रके कानून, नीति और परम्पराके अनुरूप नही होगा। मतों द्वारा सरकार बदलनेका नागरिकोंको मूलभूत अधिकार

है। इस अधिकारका तिरस्कार नहीं किया जाना चाहिये। यदि ऐसा हुआ तो हिंसक क्रान्तिके लिये दरवाजा खुल जायेगा। इसलिये अविश्वासका प्रस्ताव पास होते ही मन्त्रि-मण्डलको राष्ट्र-प्रमुखके पास अस्तीफा भेज देना चाहिये। यदि मन्त्रि-मण्डलको यह लगता हो कि सभागृहमें यद्यपि अविश्वासका प्रस्ताव पास हो गया है, पर जनता उसके साथ है तो उसे सार्वजनिक चुनावकी घोषणाकर संसदको बरखास्त कर देना चाहिये। कुछ दिन ठहरकर फिर उसी सभागृहसे विश्वासका प्रस्ताव पास करवा लेना, ऐसे प्रसंगोंमें अचित्त नहीं। इसका साफ अर्थ यह होगा कि सत्तारूढ़ दलने बहुमतके लिये अनुचित उपायोंका सहारा लिया, और स्वाभिमानको तिलांजलि दे दी। ग्रामीण भाषामें कहना हो तो यह जूठन खाना है। कभी बार ऐसा भी होता है कि सभागृहमें तो बहुमत है लेकिन जनता विरुद्ध हो गयी है। इस प्रकारके विरोधका जन्म आम चुनावोंके बाद होता है, और सत्तारूढ़ दलको अंकके बाद दूसरे उपचुनावोंमें मात देकर वह प्रकट किया जाता है। किसी तीव्र प्रश्नपर जब उपचुनाव लड़े जाते हैं और उसमें स्पष्ट रूपसे दिखायी पड़ता है कि जनमत विरुद्ध है, तो ऐसे समय सत्तारूढ़ दल क्या करे? निश्चित समयके बाद सार्वजनिक चुनाव करने ही पड़ते हैं, क्या तबतक वह ठहरे? या जनमतको जाँचनेके लिये नया सार्वजनिक चुनाव घोषित कर दे? इस प्रश्नपर केवल दलगत दृष्टिसे विचार करना अचित्त नहीं है। बार-बार सार्वजनिक चुनाव लेनेका अर्थ है, उस क्रियाकी कार्य-क्षमता घटाना, उसकी पवित्रता तथा प्रतिष्ठा कम करना। तलाक अचित्त है, लेकिन जब उसके लिये योग्य कारण हो तभी। इसलिये जब जनता द्वारा चुनावके माध्यमसे दल-विशेषके हाथमें सत्ताकी सुपारी दे दी गयी है, तो जिस कार्यको पूरा करनेके लिये वह दी गयी है वह पूरा होने तक वह दल हाथके पवित्रकको निकाले, यह ठीक नहीं जँचता। सहज रूपसे ऐसा लगता है कि वह यज्ञ यथाविधि किया जाना चाहिये। लेकिन जनताकी नाड़ी-परीक्षा करके ही यह निर्णय लेना चाहिये। पिछले सितम्बरमें हमने स्वेजकी घटना देखी। ब्रिटिश पार्लियामेंटमें कजर्वेटीव दलका निश्चित बहुमत था। लेकिन अँग्रेज जनता कषुब्ध थी। पर तिसपर भी सरकारने पार्लमेंटको

बरखास्त नहीं किया। आजका कषुब्ध लोकमत कल शान्त हो जायेगा, लोग बातको भूल जायेंगे, अिस भरोसे वह सरकार अपमान सहकर, ढीठ बनकर गद्दीपर बनी रही। भविष्यमें क्या होगा, कौन कह सकता है? जनता बीती हुई बातोंको जल्दी भूल जाया करती है। लेकिन जो राजनैतिक दुश्मन होते हैं, वे उसे नहीं भूलते। वे कैंकेआके समान अैन मौकेपर उसकी याद दिलाकर जनताके सामने दावा अपिस्थित करते हैं, भूली हुई बातोंको नाटकीय ढंगसे सजाकर पेश करते हैं। मरे हुअे मुर्दे कठपुतलियोंकी तरह अुनके कहनेपर हाथ-पैर हिलाने लगते हैं। तात्पर्य यह कि आज यदि चुनाव लिअे जाअें तो दलकी दृष्टिसे क्या नतीजा निकलेगा और वे ही यदि मियाद समाप्त होनेपर लिअे जाअे तो क्या असर पड़ेगा, बस अिसी ढंगपर साधारण रूपसे सोचा विचारा जाता है। लेकिन यह विचार राष्ट्रहितकी दृष्टिसे ही किया जाना चाहिये। अपना स्वाभिमान, दलकी सुविधा तथा साथ ही राष्ट्रका हित—अिन सबपर सोच विचार कर, अैसे प्रश्नको हल करना ठीक रहता है। यदि अैसा प्रसंग हो कि जनता विरुद्ध है, पर राष्ट्र-हितकी दृष्टिसे मन्त्रि-मण्डलका बना रहना जरूरी है; तब पदपर बने रहनेमें कौअी अनौचित्य नहीं, अनैतिकता भी नहीं। और संविधानके दृष्टिसे वह वैध तो है ही।

दलका जनतामें फैला हुआ आमसंगठन (Mass party), उसका संसदीय पक्ष तथा मन्त्रि-मण्डल और अुनके आपसी सम्बन्ध, जनतन्त्रमें अत्यन्त महत्वपूर्ण माने जाते हैं। अिस दृष्टिसे मन्त्रि-मण्डलके मुख्य प्रधानका बहुत अधिक महत्व रहता है। आम दलके सार्वजनिक रूप (mass party), उसके संगठन तथा कार्य-कारिणीके बीच अवं अुस दलके संसदीय पक्ष, संसदीय कार्यकारिणी तथा मन्त्रि-मण्डलके बीच जो सम्बन्ध रहते हैं, अुन सबका भी बड़ा महत्व है। अिन सबका अंक-सूत्रीकरण करनेवाला मुख्य पुरुष प्रधान-मन्त्री ही रहता है। अुसकी जिम्मेदारी बहुत बड़ी है। अुसकी बुद्धि जितनी जनतन्त्रात्मक (Democratic) रहती है, अुतना ही जनतन्त्र प्रत्यक्ष कार्यमें परिणत होता दिखाअी देता है। यह बात तभी सम्भव है जब कि राज्य स्वतन्त्र हो, राष्ट्र स्वतन्त्र हो और वहाँ जनतांत्रिक संविधान हो। अैसे राष्ट्रमें दलका आम-संगठन साधारणतया

वार्षिक अधिवेशनमें अपनी नीति निश्चित करता है। उसके सामने जो प्रस्ताव आते हैं, वे उसकी कार्यकारिणीद्वारा तैयार किये जाते हैं। इस आम-संगठनका मुखिया स्वयं प्रधान-मन्त्री नहीं होता, लेकिन वह उसकी कार्यकारिणीमें रहता है। वहाँ वह चर्चाओंमें हिस्सा लेता है और अन्य लोगोंको सरकारकी दिक्कतोंकी जानकारी देता है। कार्य-कारिणी प्रस्ताव पास करती है और वे प्रस्ताव अधिवेशनमें रखे जाते हैं। चुनावके लिये खड़े किये जानेवाले अुम्मीदवारोंका चयन आम-संगठनद्वारा होता है। जो चुनकर आते हैं, उनपर अनुशासनका बंधन रहता है। दलका संसदीय-पक्ष आमसंगठनकी नीतिके अनुसार चलता है। यद्यपि अपचारिक ढंगसे चुनावके बाद संसदीय-पक्ष अपने नेताको चुनता है, परन्तु वस्तुतः कौन नेता रहेगा यह पहलेसे निश्चित रहता है। उसकी महानता, उसकी ख्याति और उसकी योग्यता चुनावमें शक्तिशाली तत्वोंके रूपमें काम करती है। यह जरूरी है कि दलके पास अच्छा कार्यक्रम रहे और उस कार्यक्रमको कार्यान्वित कर सकनेवाला संगठन भी रहे; अर्थात् दलके पास दलके सम्पूर्ण लक्षण तो रहें ही। पर, जनताको दलका जो ज्ञान होता है, वह उसके नेताके व्यक्तित्वके माध्यमसे ही। निराकार ब्रह्म जनताकी समझमें नहीं आता, वह सगुणोपासक होती है, उसे विट्ठल* समझता है। वह साकार मूर्तिकी ओर खिंचती है। इसीलिये संसदीय नेताका आम संगठनपर भी प्रभाव पड़ता है। वह दलके संसदीय पक्षका तो विधिवत नायक होता ही है। नेता संसदीय पक्षको अपने विश्वासमें लेता है और उसके प्रति अुत्तरदायी रहता है। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपसे वह आम-संगठनके प्रति जिम्मेवार रहता है तथा वैध रूपसे संसदके प्रति। इसीलिये जनतन्त्रमें उसका बड़ा महत्व है। संसदीय-पक्षद्वारा नेता चुने जानेपर वह मन्त्रि-मण्डल बनाता है। किसे लिया जाये, इसका निश्चय करना उसका अधिका रहै। यदि वह किसीको लेनेसे अिन्कार कर दे, तो उसके खिलाफ शिकायत करना

* विट्ठल—महाराष्ट्रमें विट्ठलको विष्णु मानकर पूजा जाता है। पंढरपुरमें उनकी काली मूर्ति कमरपर हाथ रखे अीटपर प्रस्थापित है और लाखों भक्तोंके आकर्षणका केन्द्र है।—अनु०

अुचित नहीं है। दलके संसदीय पक्ष, आम-संगठन तथा राष्ट्रद्वारा अुसपर अंक जिम्मेदारी डाली जाती है, जिसे पूरी करनकी दृष्टिसे अुसे अपने सहयोगियोंको चुनना पड़ता है। घर बांधनके कामका ठेका देनेके बाद ठेकेदारसे यह कहना ठीक नहीं कि वह अमुक बढ़ाईको लगाअे अथवा अमुक राजसे काम कराअे; वही बात यहाँ पर भी लागू है। मन्त्रि-मण्डलद्वारा निर्णय हो जानके बाद सबको अपने नेताका समर्थक करना चाहिअे। सभव है, अैसा करना कभी किसीको अप्रिय लग, लेकिन जनतन्त्रके लिअे यह आवश्यक पथ्य है। जिसे निर्णय पसन्द न हो, अुसके लिअे सही रास्ता यह है कि वह मन्त्रि-मण्डलसे अलग हो जाअे। सदस्यको संसदीय-पक्षके नियमानुसार मतदान करना चाहिअे अथवा यदि वह तटस्थ रहना चाहता हो या विरोधमे मत देना चाहता हो, तो दलकी अुसे वैसी अनुमति ले लेनी चाहिअे। मन्त्रि-मण्डल भले ही दलका हो, लेकिन वह माना जाता है नेताका ही। 'अमुक दलके मन्त्रि-मण्डल' के बजाय जनता 'अमुक व्यक्तिके मन्त्रि-मण्डल' की बात जल्दीसे समझ लेती है। प्रधान-मन्त्री मन्त्रि-मण्डलमें अपने दलके आम-संगठन तथा संसदीय-पक्षकी नीतियों और विचारोंको ध्यानमे रखकर काम करता है। जो मन्त्री अुसे नहीं चाहिअे, अुससे अिस्तीफा माँगनेका अुसे अधिकार है। अुसे सरकारी मशीन, जनमत तथा मूलभूत सिद्धान्तोंका और जनताके हितका समन्वय करके काम करना पड़ता है। अुसे वाद-विवाद अेव चर्चाका पूरा मौका देना पड़ता है। संसदीय पक्षकी सभामे, मन्त्रि-मण्डलमे और सभागृहमें सब जगह अुसे अधिकार-पदकी प्रतिष्ठा अेव मर्यादाके अनुकूल व्यवहार करना चाहिअे। अुसीके अनुरूप अुसके बयान भी होने चाहिअे। वह राष्ट्रका नेता होता है, अिसलिअे राष्ट्रकी नैतिक अूँचाअी अुसकी अपनी अूँचाअीसे मापी जाती है। दलके संगठनमे बने रहनेपर भी अुसे दलके अपूर अुठकर व्यवहार करना पड़ता है। राजनैतिक दृष्टिसे श्रेष्ठ रहनेपर भी अुसे अपनेसे छोटे लोगोंको साथमे लेकर चलना पड़ता है। अैसी बातें जो अुसके मनको अप्रिय लगती है, लेकिन जो दल और मन्त्रि-मण्डलद्वारा स्वीकृत कर ली गयी है, अुन्हें अुसे सभागृहके सामने मिठाससे रखना पड़ता है। अुसके स्वभावकी विशिष्टताका राजनीतिपर असर होता है, अिसलिअे अुसे अुस दृष्टिसे सजग रहना चाहिअे। अुसे सहयोगियोंको समझाकर, दलको पुचकार

कर और सभागृहको मनवाकर काम करना पड़ता है। जितनी अच्छी तरहसे वह अन बातोंको करेगा, उतनी उसकी अपनी तथा जनतन्त्रकी प्रतिष्ठा बढ़गी। हो सकता है कि अकाध बार, किसी अकाध विषयके बारेमे, उसकी नीति दलके कुछ लोगोंको, मन्त्रि-मण्डलके उसके सहयोगियोंको, अथवा जनताको या उसके किसी हिस्सेको पसन्द न आये। लेकिन उस नीतिके पीछे उसके मनमे किसीके प्रति द्वेष है अथवा वह किसीका शत्रु है, यह मानना जनतात्रिक वृत्तिके लिये अचित्त नहीं है। उसके मनमे यदि कोई पूर्वग्रह हो, तो उन्हें दलके आम सगठन, संसदीय-पक्ष तथा सभागृहके माध्यमसे दूर करना चाहिये। उसकी जानकारी यदि अपूर्ण हो, तो उसे पूर्ण बनाना चाहिये। चूँकि वह पूरे राष्ट्रका नेता होता है, इसलिये कभी-कभी उसके बोलनमे अथवा व्यवहारमे असंगति-की छाया दिखायी दे सकती है; लेकिन इस असंगतिका सम्बन्ध विशिष्ट परिस्थितिसे होता है, उसके अपने व्यक्तित्वसे वह निसृत नहीं होती। जनतान्त्रिक समाजमे सब बातें खुली और स्पष्ट होती हैं। जनताकी समझमे बात ठीकसे आ जाय, इसलिये उसे बार-बार बोलना पड़ता है और तदनुसार कार्यवाही करनी पड़ती है। उसे ढिंढोरा भी पीटना पड़ता है तथा अंक ही बातको बार-बार दुहराना भी पड़ता है। जनतन्त्रमे श्रोता भले ही 'वन्स मोर' (अंक बार और) न कहें, फिर भी किसी चीजको बार-बार दुहराना नागरिकोंका और विशेषकर सत्तारूढ़ नेताओंका पद-सिद्ध अधिकार है। हाँ तो, जनतन्त्रके मुख्य प्रधानको अव-गुण-विशिष्ट—अुपर्युक्त गुणोंसे विभूषित, होना चाहिये। वह प्रेरक और प्रेरणा, कवि और काव्य, यात्रा और यात्री दोनों हैं। जिस राष्ट्रमे ऐसा जननायक होता है, उस राष्ट्रकी जनताका भाग्य खुल जाता है। जनतन्त्रका यह भी बड़ा आकर्षण है कि जबतक योग्य नेता न मिले, तबतक काम चलाऊ नेताको अपनाया जा सकता है। उसका अनुभव कर लेनेपर, यदि उसका पीत अच्छा और रंग पक्का निकले तो उसे अपना लिया जा सकता है।

जनतन्त्रमे न्यायदान-व्यवस्था और शासन-व्यवस्था कैसी रहे, इसके बारेमे मैं पहले बता चुका हूँ। जनतन्त्रमे न्यायालयका काम सिर्फ व्यक्तियोंको न्याय देना ही नहीं है, उसे व्यक्ति और राज्यके बीच भी न्याय-निर्णय करना पड़ता है। अतना ही नहीं; जहाँ-जहाँ संघ-राज्य होता है, वहाँ संविधानमें

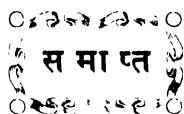
यह व्यवस्था रहती है कि प्रादेशिक राज्य तथा केन्द्र-राज्यके बीच यदि विवाद उपस्थित हो जाये, तो उसका फैसला न्यायपालिका करे। किसी कानूनको धारा-सभाने संविधानके अनुसार ही पास किया है या नहीं, इसका भी निर्णय न्यायालयोंको करना पड़ता है। न्यायालय यह नहीं कह सकता कि अमुक कानून अिष्ट है या अनिष्ट; अिष्टता या अनिष्टताका निर्णय तो लोक-प्रतिनिधि धारा-सभामे करते हैं। धारा-सभाद्वारा पास किया हुआ कानून संविधानके अनुसार यथाधिकार है या नहीं, इसका फैसला न्यायालय करता है। न्यायालय द्वारा अधिकार-बाह्य करार दिये गये कानूनको सुधारकर या संविधानमे तदनुसार परिवर्तनकर फिरसे पास करवा लेनेका जनताको अधिकार है। राज्यका कारोबार तो ओघवती गंगा है। नागरिकोंके जो मूलभूत अधिकार हैं, उनपर यदि राज्यका आक्रमण हो, तो न्यायाधीशोंको नागरिकोंका संरक्षण करना चाहिये। यह ठीक है कि कभी बार लोकमत प्रकट होता है, लेकिन यह भी होता है कि कभी बार सरकार ही मदान्ध बन जाती है और अविचार-पूर्वक व्यवहार करने लगती है। जो सिद्धान्त सत्य, शुद्ध अब वादातीत हैं, उनका बलिदान क्षणिक भावनाओंके आवेगमें अथवा विकृत विचारोंके चक्करमें न हो जाय, इसलिये हमारे संविधानमे नागरिक स्वतन्त्रताओं तथा मूलभूत अधिकारोंकी व्यवस्था की गयी है। यह बात दुनियाके प्रायः सब राष्ट्रोंके संविधानोंमे दृष्टिगोचर होती है। न्यायालयोंके अिन कामोंकी दृष्टिसे यह जरूरी है कि न्यायाधीश स्वतन्त्र, निर्भीक और निष्पक्ष हों। उनकी नियुक्ति सिर्फ गुणोंके आधारपर होनी चाहिये। जनतन्त्रकी दृष्टिसे यह अुचित ही है कि वे निर्वाचनद्वारा न चुने जायें। उसी प्रकार यह भी अुचित ही है कि सदनद्वारा जनमत स्पष्ट हो जानेपर और कानूनमे उसके समावेशपर न्यायालयको उसके सामने अपना सिर झुकाना चाहिये। यदि कानूनका निर्माण अधिकार-बाह्य नहीं हुआ है, तो न्यायाधीशको यह कहनेका अधिकार नहीं है कि वह समाज-हितके विरुद्ध है। समाजन सोचन विचारनेके बाद उस कानूनको स्वीकृति दी है, इसलिये उसे मानना चाहिये। नहीं तो, लाखों जनताका मत अंक और रहेगा और न्यायाधीशका दूसरी ओर। तब न्यायाधीश पार्लमेण्टका भी अधिकारी यानी सुलतान बन जायगा। वैसे, दो सदनोके सिरपर न्यायालय अंक तीसरा सदन है।

अन्तर अतना ही है कि न्यायपालिकामे दो ही व्यक्ति सोच-विचारकर निर्णय देते हैं; कभी-कभी सिर्फ अंक ही न्यायाधीशका मत निर्णायक सिद्ध हो सकता है, और असि तरह जनतन्त्रके 'अंक मस्तिष्कसे दो मस्तिष्क अच्छे वाले' सिद्धान्तको धक्का पहुँचता है। न्यायपालिकाकी वह व्यवस्था श्रेष्ठ है जिसमे न्यायाधीश स्वतन्त्र बुद्धिवाले, कानूनके हेतुको ध्यानमे रखकर उसका अर्थ करनेवाले तथा निर्णयोंको स्वयं अपन मूल्योंसे भी प्रभावित न होन देनवाले हों। मनुष्यकी श्रद्धा बिना उसकी जानकारीके उसके विचारोपर असर डाला करती है। लेकिन जनतन्त्रमे न्यायदान-व्यवस्थासे कम-से-कम यह आशा की जाती है कि वह पूर्व-ग्रह रहित मनसे कानूनके सामाजिक हेतुको ध्यानमे रखकर न्याय दे। अच्च स्तरपर राजकाजकी नीति कुछ भी क्यों न हो, जनताको नीचे उसका जो अनुभव आता है, उसे वह ही सत्य मानती है। प्रधान-मन्त्री बहुत दूर और बहुत अँचाओपर होता है; पर पटवारी घरके पास ही रहता है। जनताको अपनी आँखके आगे गाँवका पटल तथा कोतवाल ही दिखाओ देता है। अन्हीके द्वारा उसे राज्यका अनुभव, उसके कारोबारका अनुभव होते रहता है। असलिये जनतान्त्रिक राज्यका शासक वर्ग, छोटसे लेकर बड़े तकका उसका नौकर-वर्ग, अधिकार भावनासे बिल्कुल पर होना चाहिये। राज्य-सेवा (Govt. service) का अर्थ है, जन-सेवा। मन्त्रि-मण्डल अथवा वर्तमान सरकार जो नीति निर्धारित करे, उसपर अमल तो होना चाहिये। लेकिन उसे कार्यान्वित करनेमे जनताका सहयोग और सहानुभूति मिले यह भी आवश्यक है। अधिकार रूखी रस्सीकी सहायतासे जनता रूपी गाय दूध तो देगी, लेकिन वह अपना पाना बहुत बड़ पैमानपर चुरा लेगी। जनता जब खुलकर सहयोग देने लगती है, तब वह सचमुच कामधेनु बन जाती है। जो कुछ हो, नियमानुसार हो; लेकिन उसमे यन्त्रवत वृत्ति आवश्यक नहीं है। जनताको सरकारकी नीति ठीकसे समझा देनी चाहिये। जब सरकार बदलती है, तो नीतिमे भी परिवर्तन होते हैं और यह काम नौकरशाहीका है कि वह जनताको नयी नीतिसे परिचित करा दे। यह कहना गलत है कि कर्मचारियोंका अपना कोई मत नहीं रहता, लेकिन अन्हें राजनैतिक दृष्टिसे तटस्थ रहना चाहिये। अपनी रिपोर्टमे अन्हें जो वे ठीक समझते हैं लिखना चाहिये, पर करना वही चाहिये जो अपरसे निश्चित

कर दिया जाये। मन्त्री आते हैं और चले जाते हैं, आमदार तथा खासदार* चुनावोंकी धमाचौकड़ीमें कुछ देर दौड़धूप करते दिखायी देते हैं और फिर गायब हो जाते हैं। जो नित्य है, वह है जनता और शासन-व्यवस्था; असलिये शासन-व्यवस्थामें निस्पृहता और निष्पक्षता रहनी चाहिये। अन्तम शासकोंको आमदारों और खासदारोंकी बात सुननी चाहिये, लेकिन अन्तकी दलबन्दीमें तथा सिफारिशबाजीमें नहीं फँसना चाहिये। यह काम कठिन है; क्योंकि वे आमदार और खासदार सबके सब दूधके धुले नहीं होते। कोश्री अफसर यदि अन्तकी बात नहीं मानता है, तो असमें वे अपनको अपमानित समझ बैठते हैं और फिर उस अधिकारीके साथ उसे सरकारका गुप्त शत्रु मानकर दुष्टताका व्यवहार शुरू कर देते हैं। अससे आमानदार अधिकारी हताश और निःसत्त्व बन जाते हैं। पर जो मौका-परस्त होते हैं, वे जरूर अपनको चापलूसके रूपमें बदल लेते हैं, तथा उसके बाद वे 'सरकारके पास चार सेर दूध है' अस तरहकी रिपोर्ट देकर उसीमेंसे अपनी बढ़तीकी मलायी निकाल लेते हैं। यह सब अनिष्ट है। असलिये राजकाजमें अनधिकृत हस्तक्षेप नहीं होना चाहिये। नौकर-वर्ग यदि आमानदार, आज्ञा-धारक तथा कार्यक्षम नहीं है, तो जनतन्त्र रिश्तखोरोंकी टोली बन जायेगी। शासकोंकी बढ़ती, बहाली, नियुक्ति तथा निवृत्ति सब अन्तके गुणोंको देखकर करनी चाहिये। वे विशेषज्ञ होते हैं, असलिये विषय विशेषपर अन्तके अपने मत होते हैं, अन्त मतोंने अन्तके मनोमें अनुभवोंसे आकार प्राप्त किया होता है। असलिये, अन्तका कर्तव्य है कि अन्तका अपना जो भी मत हो, उसे वे मन्त्रियोंके सामने निर्भीकतासे पेश कर दें, और तदनंतर वे जो निर्णय दे उसपर अमल करें। सामान्यतया मन्त्रीको भी अपने अधिकारीका मत मान लेना चाहिये। हाँ, यदि नीतिकी दृष्टिसे अन्याय होता दिखायी दे, तो मन्त्रीको उस अधिकारीसे चर्चा करनी चाहिये और उसे अपनी बात पटा देनी चाहिये। साथ-ही-साथ शासक यदि अस बातका ध्यान रखें कि मन्त्रीका भी अपना प्रामाणिक मत होता है, तो सारा कामकाज

* प्रान्तिक धारा सभाके सदस्योंको मराठीमें आमदार तथा संसदके सदस्योंको खासदार कहते हैं।

ठीकमे चलेगा। शासकोंके मनमे अैसे मन्त्रियोंके बारेमे आदर नहीं रहता जो यह पूछते हैं कि यहाँमे छोटी सही करूँ या बड़ी? कहावत है कि घोड़ा सवारको पहचानकर चलता है। असलिये मन्त्रीको समझ-बूझकर काम करना चाहिये। शासकोंको राजनैतिक दृष्टिसे भले ही तटस्थ रहना पड़े, पर व्यवहार करते समय उन्हें सोचने-विचारनेका अधिकार है। उन्हें मर्यादाके अन्दर तथा अनुमति प्राप्त कर अपने विचारोंको प्रकट करनेका मौका मिलना चाहिये। प्रेम तथा चुनावमे कुछ भी वादे किये जा सकते हैं—अस मान्यताके अनुसार राजनैतिक नेता चुनावोंके समय चाहे जो वादे कर बैठते हैं; लेकिन सत्तारूढ़ होते ही वे वचन “चुका मेरा कर्जा” कहकर सामने खड़े हो जाते हैं। शासक वचन-पूर्तिके राहकी दिक्कतोंको जानते हैं। जो वचन अुत्साहमे दे दिये जाते हैं, ठण्डे दिमागसे अुनकी पूर्ति-पर जब सोचा जाता है तो वे ही मुश्किल मालूम होने लगते हैं। चूँकि शासक पुराने और जानकार होते हैं, असलिये अेक अर्थमे वे समाजकी सदसद् विवेक-बुद्धिका काम देते हैं। अुनका काम योग्य सलाह देना है। निस्पृह, पक्षपाती और प्रामाणिक शासक वर्ग मुराज्यकी और सामाजिक न्याय-व्यवस्थाकी गॅरंटी होते हैं। यदि जनतन्त्र तथा संसदीय जनतन्त्रको सफल बनाना हो, तो जागृत नागरिक, विवेक-युक्त निर्वाचक सघ, जनहित-दक्ष प्रतिनिधि, सगठित दल, प्रभावपूर्ण और प्रगतिशील मन्त्रिमण्डल, रचनात्मक आलोचना करनेवाला विरोधी दल, न्यायनिष्ठ न्यायालय और पक्षपाती लेकिन अीमानदार शासक-वर्ग आवश्यक है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि अिन सबमे आपसी सहयोगका भाव रहे। जब यह सम्भव होगा तभी जनतन्त्रमेसे सुन्दर आलाप निकलेंगे। अन्यथा जो होगा, अुसकी कल्पना आप स्वयं कर लें।



समितिकी ' साहित्य-निर्माण-योजना '

राष्ट्रभाषा-प्रचारके लिये अपयोगी पुस्तकें प्रकाशित करने तथा ज्ञान-वर्धक, अुच्च कोटिके ग्रन्थोंके निर्माणके अुद्देश्यसे राष्ट्रभाषा प्रचार समितिने वर्षों पहले साहित्य-निर्माण योजना बनायी थी ।

हम स्वीकार करते हैं कि अस योजनाके अनुसार जितना कार्य अब तक होना चाहिये था, अनेक कठिनायियोंके कारण वह नहीं हो सका है; फिर भी समिति निम्नलिखित पुस्तकें प्रस्तुत कर चुकी है । हमें प्रसन्नता है कि अिन सभी पुस्तकोंका जनताने स्वागत और सत्कार किया है ।

प्रकाशित पुस्तकें :—संक्षिप्त राष्ट्रभाषा कोश, फ्रेंच स्वयं-शिक्षक, भारतीय वाङ्मय भाग १, २, ३, मराठीका वर्णनात्मक व्याकरण, सोरठ तेरा बहता पानी (गुजराती अपन्यास), धरतीकी ओर (कन्नड़ अपन्यास), लोकमान्य तिलक (जीवनी ग्रन्थ), तेलुगुकी अुत्कृष्ट कहानियाँ (प्रतिनिधि कहानी संग्रह), मिर्जा गालिब जीवनी और साहित्य, धूमरेखा तथा राज्योपनिषद ।

भारतके विभिन्न प्रदेशोंके निवासी देवनागरी लिपिके माध्यमसे भारतकी प्रादेशिक भाषाओं आसानीसे सीख सकें, अस अुद्देश्यसे समितिने भारत-भारती पुस्तकमालाका प्रकाशन आरम्भ किया है । अस मालाके अन्तर्गत अबतक नीचे लिखी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं :—

भारत भारती—तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम, मराठी, गुजराती, ओड़िया, बंगला, असमिया और मणिपुरी । शेष भाषाकी पुस्तकें भी शीघ्र ही प्रकाशित होंगी ।

रजत जयन्तीके अवसरपर 'रजत जयन्ती ग्रन्थ' के अलावा 'कवि-श्री माला' के अन्तर्गत असमिया, मणिपुरी, बंगला, ओड़िया, मराठी, गुजराती, सिन्धी, कश्मीरी, पञ्जाबी, तेलुगु, तमिल, कन्नड़, मलयालम, अुर्दू और हिन्दीके २५ भिन्न-भिन्न कवियोंकी रचनाओंको मूल भाषा तथा हिन्दी अनुवादके साथ प्रकाशित किया जा रहा है ।

आशा है, राष्ट्रभाषा-प्रेमी समितिकी अस साहित्य-निर्माण योजनासे लाभ अुठाओंगे ।

